ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रंथमाला हिंदी-ग्रन्थाङ्क—१

मुक्ति दूत

[एक पौराणिक रोमांस]

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम० ए०

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

समर्पण

अपनी मुक्ति के लिये विकल, आज की
रक्त-स्नात मानवता को, अंजना
और पवनजय की यह
वार्ता सप्रणाम
निवेदित
है

"पुराणकी कथाओंका भी मुझपर कुछ ऐसा ही असर पडा। अगर लोग इन कहानियोको घटनाके रूपमें सही मानते है, तो यह बिल्कुल बेतुकी और हँसीकी बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाये तो वह एक नई ही रोशनीमें दिखाई पड़ने लगती हैं, उनमे एक नया सौन्दर्य जान पड़ता है—ऐसा जान पडता है कि एक ऊँची कल्पनाने अचरज भरे फूल खिलाये है। इनमे आदमी के शिक्षा लेने की बहुतसी बाते है।"

(यूनानके देवी देवताओंकी कहानियोकी अपेक्षा) "हिन्दुस्तानकी पुराण-गाथाये कही ज्यादा और भरीपूरी है, और बडी ही सुन्दर और अर्थ भरी है। मैंने कभी कभी इस बातपर अचरज किया है कि वे आदमी और औरते, जिन्होने कि ऐसे सजीव सपनो और सुन्दर कल्पनाओको रूप दिया है, कैसे रहे होंगे, और विचार और कल्पनाकी किस सोनेकी खानमेंसे उन्होने खोदकर ऐसी चीज़ें निकाली होगी।"

× × × 'मैंने यह अनुभव किया कि इन पुरानी दन्त-कथाओं और परपराका औरोके दिमागपर, खास तौरपर हमारी अनपढ जनताके दिमागपर कितना ज्यादा असर पडा होगा। यह असर संस्कृति और नीति दोनो हीके लिहाजसे अच्छा असर रहा है। इन कहानियों या रूपकोकी सुन्दरता और ख्याली सकेतको बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज़ पसन्द न करूगा।"

(Discovery of India के अनुवाद—"हिन्दुस्तानकी कहानी" के पृष्ठ ८४ और ११२से)

पडित जवाहरलाल नेहरू

दृष्टि-कोण

जैन, बौद्ध, वैदिक—भारतीय सस्कृतिकी इन प्रमुख धाराओका अवगाहन किये बिना भारतीय आर्य परम्पराका ऐतिहासिक विकास-क्रम हम जान ही नही सकते । अपनी सभ्यताकी इन्ही तीन सरिताओकी त्रिवेणीका संगम हमारा वास्तविक 'तीर्थराज' होगा । और, ज्ञानपीठके साधकोका अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्तिका महामन्दिर त्रिवेणीके उसी सगमपर बने, उसी सगमपर महामानवकी प्राण-प्रतिष्ठा हो ।

लुप्त ग्रथोका उद्धार; अलभ्य और आवश्यक ग्रथोका सुलभीकरण; प्राकृत, अपभ्रश, सस्कृत, कन्नड और तामिलके वाङ्मयका मूल और यथासम्भव अनुवाद रूपमें प्रकाशन; त्रिपिटक (पालि)की पुस्तकोका नागरी लिपिमे प्रकाशन; लुप्त और नष्ट समझे जानेवाले कतिपय ग्रथोका अपने मौलिक रूपमें पुनरुद्धार—ज्ञानपीठ इन प्रयत्नोमे लगा हुआ है और बराबर लगा रहेगा ।

इन कार्योंके अतिरिक्त, सर्वसाधारणके लाभके लिए ज्ञानपीठने 'लोकोदय ग्रन्थमाला'का आरम्भ किया है । इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत हिन्दी में सरल सुलभ सुरुचिपूर्ण पुस्तके प्रकाशित की जायेगी । जीवनके स्तरको ऊंचाईपर ले जानेवाली कृतिके प्रत्येक रचयिताको ज्ञानपीठ प्रोत्साहित करेगा; वह केवल नामगत प्रसिद्धिके पीछे नही दौड़ेगा । कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास—पुस्तक चाहे किसी भी परिधिकी हो परंतु हो लोकोदयकारिणी ।

प्रस्तुत उपन्यास, मुक्तिदूत, हमारी इस घोषणाको किस हद तक सही साबित करता है यह निर्णय हम पाठकोंपर ही छोड़ते है । परन्तु

इतना हमे अवश्य कहना है कि श्री वीरेन्द्रकुमार का यह उपन्यास हिन्दी पाठकोके लिये नई वस्तु है—यह हमारी दम्भोक्ति नही स्वभावोक्ति समझी जाये।

भारतीय ज्ञानपीठ
१०–५–४७

प्रकाशक

प्रस्तावना

अंजना और पवनजयकी प्रेम-कथा एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है। 'मुक्तिदूत'की रचना उसी आख्यानकी भूमिकापर हुई है—आधुनिक उपन्यासके रूपमें। पर, लेखकने इसका उप-शीर्षक दिया है—'एक पौराणिक रोमांस'। लगता है न कुछ विचित्र-सा ? बात यह है, कि अंग्रेजी शब्द 'रोमांस'में आख्यानका जो एक विशेष प्रकार, कथा-नायककी महत्त्वाकांक्षा, नायिकाकी प्रेमाकुलता और घटनाओंके चमत्कारका जो सहज आभास मिलता है, वह 'आख्यान', 'कथा' या 'उपन्यास' शब्दमें नहीं। फिर भी, 'मुक्तिदूत' पश्चिमी ढंगका रोमांस नही ही है। इसमे 'रोमांस' (अथवा रोमांचकता)की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रधान है—वह जो शाश्वत, उन्नत और चिर-नवीन है।

और लेखकने कथाकी पौराणिकताकी भी एक सीमा बाँध ली है। उसके बाद उसने वातावरणकी अक्षुण्णतामे कल्पनाको मुक्त रखा है। ऐतिहासिक शोध-खोज और भूगोलकी मीमांसाओंका उल्लंघन यदि कथा कही करती है, तो किया करे। उड़ानकी रोक लेखकको इष्ट नही। उसके लिए तो पुराणका कल्पनामूलक इतिहास और भूगोल अपने आपमे ही पर्याप्त है। कल्पनाकी गहराइयोमे आकर जिस चीजको लेखकने खोजा है, वह बेशक 'तथ्य' न हो, पर वह 'सत्यकी प्रतीति' अवश्य है। और यही श्री वीरेन्द्रकुमारका साहित्यिक, लोक-जीवनके नव-निर्माणका देवदूत बनकर प्रकट हुआ है। आजकी विकल मानवताके लिए 'मुक्तिदूत' स्वयं मुक्तिदूत है, इस रूपमें पुस्तकका समर्पण सर्वथा सार्थक है।

उपन्यास आपके हाथमें है; आप पढेगे ही घटनाओंका विरल तारतम्य—पवनंजयका अंजनाके सौन्दर्यके प्रति प्रबल किंतु अचिर आकर्षण·

अजनाके सम्बन्धमे अपने निरादरको लेकर पवनजयकी गलत धारणा, परिणय, विफल सुहाग-रात्रि, त्याग, आकुल स्मृति, मिलन, विच्छेद, युद्ध, खोज, हनुमान-जन्म, पुर्नमिलन—आदि। इस सर्वाङ्गीण प्रणय-कथाके चिर-परिचित रूपमें पाठकोंके मनोविनोदकी पर्याप्त सामग्री है। पर, 'मुक्तिदूत'की मोहक कथा, सरस रचना अनुपम शब्द सौंदर्य और कवित्वसे परे पाने लायक कुछ और ही है—वह जो पुस्तककी इस प्रत्येक विशेषतामे व्याप्त होकर भी मालाके अन्तिम तीन मनकोकी तरह सर्वोपरि हृदयसे, आँखोसे और माथेसे लगाने लायक है। पुस्तकका वह सन्देश पाठकोसे स्वय बोलेगा—रचनाकी सफलताकी कसौटी यही है।

'मुक्तिदूत' पवनजयके आत्म-विकास और आत्म-सिद्धिकी कथा है। पुरुषको 'अह'की अन्ध कारासे नारीने त्याग, बलिदान और आत्म-समर्पणके प्रकाश द्वारा मुक्त किया है। कथाके प्रारम्भका पवनंजय अपनी आकाक्षाके सपनोसे खेलनेवाला उद्धत और अभिमानी राजकुमार है। वह निर्वाणकी खोजमें है—और निर्वाणका यह दावेदार, बनना चाहता है अखिल सृष्टिका विजेता, भूगोल-खगोलका अधिकारी और एक ही समयमे समग्र भोग, अनन्त सौदर्य और अक्षय प्रेमका परम भोक्ता! निर्वाणकी खोजमे वह ऋषभदेवकी निर्वाणभूमि कैलाश पर्वतपर हो आया है; पर उसे वहाँ निर्वाण नही मिला। उदयाचलसे अस्ताचल पर्यंतकी परिक्रमा देनेपर भी उसे मुक्ति नही मिली। मुक्तिका आकर्षण तीव्रतर अवश्य है—"देखो, प्रहस्त, दिशाओंमें मुक्ति स्वय बाहें पसारकर बुला रही है।"

पर, देखिये, इस अहकारी विजेताकी वीरता कि यह स्त्रीके सौदर्यसे डरकर भागा हुआ है। सागरके बीच, महलोकी अटारीपरसे आये हुए आकुल बाहोंके निमन्त्रणको, रूपके आह्वानको अनसुना-अनदेखा करके भाग निकला है उल्टे पॉव, अपनी नावमे यह प्रतापी राजकुमार! गाँठ यही आकर पड गई; यही 'अह' उलझ गया। इसी गाँठको कस दिया

मिश्रकेशीके व्यंग्यने, अंजनाकी 'उपेक्षा'ने। चोट खाये हुए, बौखलाये हुए सिंहकी तरह घूम रहा है पवनजय वनोमे पर्वतोपर, समुद्र की तरगोंपर। अंजनासे बदला ले चुका है—उसकी सुहाग रात्रिकी आकुल प्रतीक्षाको व्यर्थ करके, उसके त्यागकी तुमुल घोषणा महलोमे गुँजवाकर! नारी वेदनायें सहन कर-करके जितना ही ऊँचे उठ रही है, पुरुष-पवनजय अपने ही अहंकारके बोझसे उतना ही नीचे धँसता जा रहा है। पर, अब वह दार्शनिक हो गया है। अपने-परायेके भेद, मोह-मिथ्यात्वकी परिभाषा, आत्माकी निज-परिणति, एकाकी मुक्ति-विहार—कितनी ही तर्कणाओ द्वारा वह अपने आदरणीय चिर-सखा प्रहस्तको चुप कर देना चाहता है। प्रहस्त अपने ही दिये हुए सजीव और सकवित्व दर्शनकी ये निर्जीव व्याख्याये सुनता है, तो निर्बलके इस छद्मदर्शनपर मन ही मन हँसता है, दुखी होता है। प्रहस्त कह चुका है—

> "तुम स्त्रीसे भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारणा कर रहे हो। पागलके प्रलापसे अधिक तुम्हारे इस दर्शनका कुछ मूल्य नही। यह दुर्बलकी आत्मवचना है, विजेताका मुक्तिमार्ग नही। स्त्रीके सम्मोहन-पाशमें ही मुक्तिकी ठीक ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्तिकी माँग वही तीव्रतम है × × × मुक्ति स्वय स्त्री है, नारीको छोडकर और कही शरण नही है, पवन! मुक्ति चरमप्राप्ति है, वह त्याग-विराग नही है पवन!"

पवनके त्रस्त अभिमानने मन ही मन सोचा—'स्त्रीका सौंदर्य, उसकी महत्ता मेरे 'अह'से भी बडी? और उसने निश्चय किया—

> "अच्छा अजन, आओ, पवनजयके अँगूठेके नीचे....
> और फिर मुस्कराओ अपने रूपकी चाँदनी पर!"

अजनाके त्यागका संकल्प करके, उसने कहा था—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, प्रहस्त, तो चलो, मान-
सरोवरके तटपर अपनी विजय-यात्राका पहला शिला-चिह्न
गाड चलूँ।"

उसी मानसरोवरके तटपर गाड आया था पवनजय अपने सहज, प्रकृत व्यक्तित्वका समाधि पाषाण! "देखो प्रहस्त! एक बात तुम और जान लो, जिस अपने सखा पवनजयको तुम चिर-दिनसे जानते थे, उसकी मौत मान-सरोवरके तटपर तुम अपनी आँखोके आगे देख चुके हो।"

सुन्दर व्यक्तित्वके प्राणोको खोकर, पवनजयका कंकाल घूमता फिरा दिशाओ-दिशाओमे तीव्र कषायके उद्वेग और दैहिक-स्फूर्तिकी दुर्द्धर्ष प्रचण्डताके साथ! तभी आया युद्धका निमत्रण। यही तो इलाज है इस प्राणहीन प्रचडताका, भौतिक आकाक्षाका, 'अह'के सघर्षका, कि ये सब उसकी सानपर चढकर तेज हो सके और आपसकी टक्करसे अपने ही स्फुलिगोमे बुझ सके!

युद्धमे बुझनेके लिए पवनजय जा रहा है, कि नारीका वरद हस्त मगलके दीप-सजोये सामने आता है कुशल-कामना लेकर। पुरुषका अहकार अपनी ही कटुतामे कुठित हो गया—पर, ज्वाला भभकी—

"ओह 'अशुभमुखी'! . . .खड्ग-यष्टिसे खिचकर तलवार
उनके हाथोमे लपलपा आई। तीव्र किंतु स्फुट स्वर निकला—
'दुरीक्षणे. . .छि:'!"

इसपर अजनाने क्या कहा? मन ही मन उसने कहा—

"आज आया है प्रथम वार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा
. . . .तुम मुझसे बोल गए। हतभागिनी कृतार्थ हो गई, जाओ
अब चिंता नही, अमरत्वका लाभ करो।

उत्कट अपमान. . .अनुपम आत्मसमर्पण! दानव अट्टहास कर उठें, देव फूल बरसा दे, मानव पानी-पानी होकर बह जायें!!

मानवके विषका चढाव चरम-सीमापर पहुच गया है। तो क्या अब मौत ? नहीं, ऊपर देखा तो है, कि अमृतका अक्षय भडार जीवन मे प्राप्य है। पुरुष सादर, सपरिताप उन्मुख भर हो।

ककाल-पुरुष प्राणोके लिए आकुल हुआ। वनमे देखा कि एकाकिनी चकवी अपने प्रियके लिए व्याकुल है। पवनजयका वाल्मीकि अपने ही घुमडते हुए श्लोकोके शत-शत अनुष्टुपोमे भर आया।

बाईस वर्षतक "विच्छेदकी सहस्रो रातोमे वंदनाकी अखड दीप-शिखासी तुम जलती रही ?" बिलखकर पहुचा अपनी प्रेयसीकी गोदमे—जैसे भटका हुआ शिशु माकी गोदमे पहुचे।

यही तो है उसकी मुक्ति, उसका त्राण ! नारीकी आकुल बाहोकी छायामे जाकर पुरुष आश्वस्त हुआ। और यही 'प्राणकी अतलस्पर्शी आदमगध उसकी आत्माको छू छू' गई।—

> "कामना दी है तो सिद्धि भी दो। अपने बाधे बधन तुम्ही खोलो, रानी ! मेरे निर्वाण का पथ प्रकाशित करो !"
>
> "मुक्तिकी राह मै क्या जानू ? मै तो नारी हू; और सदा बंधन ही देती आई हू। मुक्तिमार्गके दावेदार और विधाता है पुरुष ! वे आप अपनी जाने !"

पर, देनेमे नारीने कमी नही रखी, सम्पूर्ण उत्सर्गके साथ नारीने अपने आपको पुरुषके हाथो सौप दिया—उसे सम्हाल लिया !

× × ×

इस प्रकार पुरुष उसी एक दिनकी परित्यक्ता नारीकी शरणमे मुक्ति खोजता है। फिर वही नारी उसे महान विजययात्रापर भेजती है—जिस युद्धसे वह मृत्युजयी जेता बनकर लौटता है। नारी के प्राणोका स्पन्दन पाकर ही पवनजय अपना पुरुषार्थ प्राप्त करता है। जो सदा अपने 'अहं'से परिचालित, किन्तु दूसरोके सहारे रहा वह अब स्वय ही

अहिसक युद्धकी कल्पना करता है और उसकी शैली (Technique) निकालता है। यहा पवनजय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुचा है—पर उसके पीछे है वही तपस्विनी सती अंजना। सतीका यह प्रेम अन्ततक पुरुषके अहकारको तोडता ही जाता है और अन्तमे उस पुरुषके आदर्शको स्वयं बालक-रूपमें जन्म देकर, वह उस पुरुषको चरममार्ग-दर्शन देती है।

अजनाका जीवन सशक्त आदर्शका जीवन है। नारीके चरित्रकी इतनी ऊची और ऐसी अद्भुत कल्पना शायद ही कही हो। अजना शरत् बाबूके ऊचे-से-ऊचे स्त्रीपात्रसे ऊपर उठ गई है। अबतकके मानव इतिहासमे नारीपर मुक्तिमार्गकी बाधा होने का जो कलक चला आया है, इस उपन्यासमे लेखकने उस कलकका मोचन किया है। अजनाका आत्म-समर्पण पुरुषके 'अह'को गलाकर—उसके आत्मउद्धारका मार्ग प्रशस्त करता है। अजनाका प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नही है, वह है एक अनवरत साधना, कहे कि 'अनासक्त योग'। इस प्रेममें पुरुष गौण है। और यदि वह विशिष्ट पुरुष है तो इसमे अटकाव नही; उसीके माध्यमसे मुक्ति का द्वार खोज लेनेका आग्रह है इस प्रेममे। अजनाका अटल आत्म-विश्वास देखिए—

> "यदि कापुरुषको परमपुरुष बना सकनेका आत्मविश्वास हमारा टूटा नही है, तो किस पुरुषका अत्याचार है जो हमे तोड सकता है? पुरुष सदा नारीके निकट बालक है। भटका हुआ बालक एक दिन अवश्य लौट आयेगा।"

युग-युगका सच्चा सदेश आजकी सहस्रो नारियोके लिए कितना सत्य और महत्त्वपूर्ण है!

अविकल आत्म-समर्पणके साथ, अजनामें मिथ्या मूल्योके प्रति एक सशक्त और प्रबुद्ध विद्रोह है। प्रत्येक परिस्थितिमें अपना मार्ग वह स्वयं बनाती है।

'मुक्तिदूत'की कथा-वस्तु जितनी तलपर है, उतनी ही नही है। उसके भीतर एक प्रतीक-कथा (Allegory) चल रही है, जिसे हम ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुषकी द्वद्व-लीला कह सकते है। अनेक अन्तर्द्वन्द्व—मोह-प्रेम, विरह-मिलन, रूप-सौंदर्य, दैव-पुरुषार्थ, त्याग-स्वीकार, दैहिक कोमलता—आत्मिक मार्दव, ब्रह्मचर्य-निखिलरमण और इनके आध्यात्मिक अर्थ-कथाकी गठन और गुम्फनमे सहज प्रकाशित हुए है।

आजके युगमें जो एकान्त बुद्धिवाद और भावना या हृदयवाद—अहकार और आत्मार्पण—के मार्गोंमे सघर्ष है, वह पवनंजयके चरित्रमें सहज ही व्यक्त हुआ है। पवनजय इस बातका प्रतीक है कि वह पदार्थको बाहरसे सीधे पकडकर उसपर विजय पाना चाहता है। यही अहकार उपजता है—आजका बुद्धिवाद, भौतिकवाद और विज्ञानकी अन्ध-साहसिक वृत्ति (Adventure) इसी 'अहं'के प्रतिफल है। विज्ञान इस अर्थमे प्रत्यक्ष वस्तुवादी है—वह इन्द्रियगोचर तथ्यपर विजय पानेको ही प्रकृति-विजय मान रहा है। यही उसकी पराजय सिद्ध होती है। इसीमेंसे उपजती है हिसा और महायुद्ध, और यहीसे उत्पन्न होता है निखिल-सघातकारी एटम-बम।

श्री वीरेन्द्रकुमारने मूल पौराणिक कथाको कही-कही थोड़ा retouch किया है, और निखारा है। मूलकथामे युद्ध गौण है पर यहां युद्ध-सम्बन्धी एक समूचा अध्याय जोड दिया है, जिसमें अहिंसक युद्धकी कल्पनाको व्यावहारिक रूप दिया है। लेखककी कथामे युद्धमे जाकर स्त्रीके दिये हुए निःस्व उत्सर्ग और महान प्रेमके बलपर, पुरुषके सच्चे पुरुषार्थका सर्व-श्रेष्ठ प्रकाश सामने आया है।

पाठक पायेंगे कि अंजनाके प्रकृतिस्थ तादात्म्यको नारीकी जिन संवेदनाओके साथ दिखाया गया है, उसमें लेखकने दुरावसे काम नहीं लिया है। वर्णन सीधा और सधा हुआ है। उसमें कुछ भी हीन नहीं

है। अजनाके लिए समस्त सृष्टि—लता, वृक्ष, पृथ्वी, पशु, पक्षी—सजीव और साकार प्रकृति के अखंड रूप हे। वह स्वय प्रकृति है, इसलिए उन अखड रूपोमे रम जाना उसके निसर्गकी आवश्यकता है। हा, वह आकुल है विराटके लिए—उस आलोक-पुरुषके लिए—जो उसका प्रणयी है, जो उसका शिशु है। प्रणय और वात्सल्यकी आदिम भावनाओके निराकुल और विदेह प्रदर्शनमे 'प्रणयी' और 'शिशु'को अलग-अलग खोजना और उस सम्बन्धम लौकिक दृष्टिसे तर्क करना चाहे तो आप करे—लेखक सम्भवतया इससे परे है। यो आप दो प्रश्न करें, तो तीन प्रश्न मै भी कर सकता हू—'वादे वादे जायते तत्त्व-बोधः'।

तो लीजिए, बताइये 'मुक्ति-दूत' कौन है ? पवनजय ? हनुमान ? अजना ? प्रहस्त ?

पढिये और सोचिये।

× × ×

'मुक्ति-दूत'मे 'रोमास'के प्राय सब अग होते हुए भी यह रह गई है प्रधानत एक करुण-कथा। अलग-अलग प्रत्येक पात्र व्यथाका बोझ लिये चला चल रहा है। कथाकी सार्थकता है अन्तिम अध्यायकी उन अन्तिम पक्तियोमे जहा 'प्रकृति पुरुषमे लीन हो गई, पुरुष प्रकृतिमे व्यक्त हो उठा!'

पात्रोमें व्याप्त व्यथाके नाना रूपोको सहानुभूति और सह-वेदनाकी जिस अश्रु-सिक्त तूलिकासे लेखकने चित्रित किया है उसका चमत्कार पुस्तकके पृष्ठ-पृष्ठपर अकित है। श्री वीरेन्द्रकुमारकी शैलीकी यह विशेषता है कि वह अत्यन्त सवेदनशील है। पात्रोंके मनोभावो और भावनाओंके घात-सघातके अनुरूप वह प्रकृतिका चित्र उपस्थित करते जाते हैं। लगता है जैसे अन्तरकी गूज जगतमें छा गई है, हृदयकी वेदनाएं चाद, सूरज, फल-फूलोमे रमकर, चित्र बनकर प्रकृतिकी चित्रशालामे आ टगी हो।

उदाहरण देखिए—

१. अब अंजना अकेली, विचारोंमें डूबी बैठी है:—

"शेष रातमें शीर्ण पंखोंपर दिन उतर रहा है। आकाशमें तारे कुम्हला गये हैं। मानसरोवरकी चचल लहरियोमें कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनोंकी जाली बुन रही है। और एक अकेली हसिनी, उस फूटते हुए प्रत्यूषमेंसे पार हो रही है. . . . वह नीरव हसिनी, उस गुलाबी आलोक-सागरमें अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यो है आज अकेली ?

२. परिणयकी वेलामें—

"आज है परिणयकी शुभ लग्न-तिथि। पूर्वकी उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियोके बीच ऊषाके आकुल वक्षपर यौवनका स्वर्ण-कलश भर आया है।"

३. अंजना मातृत्वके पदपर आसीन होनेको है—

"आकाशके छोरपर कही श्वेत बादलोंके शिशु किलक रहे हैं।

४. निराशाकी प्रतिध्वनि

"कही-कही नदीकी सतहपर मलिन स्वर्णाभामें वैभव बुझ रहा था।"

श्री वीरेन्द्रकुमारके स्वभावमें ध्वनि और वर्णका जो सहज सम्मोहन है। अनेक छोटे-छोटे वाक्योंमें उन्होंने स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध और ध्वनिकी अनुभूतियोंको सरस लेखिनीमें उतारा है। यथा—

१. "नारिकेल शिखरों पर वसंतके सन्ध्याकाशमें गुलाबी और अंगूरी बादलोंकी झीलें खुल पड़ी हैं।"

२. "संधोंमेंसे आई हुई कोमल धूपके धब्बे कहीं-कहीं बिखरे हैं जैसे इस कोमल सुनहली लिपिमें कोई आशाका सन्देश लिख रहा है।"

३. "प्राणकी अनिवार पीड़ासे वक्ष अपनी संपूर्ण मांसल मृदुता और माधुर्यमें टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है।"

४. "सू. . .सू. . . .करती तलवा की विकलता पृथ्वीकी ठंडी और निविड गंधमे उत्तेजित होती गई . . शून्यमें कहीं भी भी घाव हो सका है—मात्र यह निर्जीव खभेके पत्थरोंका अवरोध टकरा जाता है. . . .ठन्न. . . .ठन्न !"

लेखककी चित्रण-कुशलता इन उदाहरणोंमें देखिए जहां एक ही क्रिया—'अवलोकन'—की भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको भिन्न-शब्दोंमें व्यक्त किया है। और हर चित्रण अपनी जगह सार्थक और सुन्दर है-—

१. परिचय-हीन भटकी चितवनसे वह वसंतको देख उठी।

२. दोनोने एक दूसरेको देखकर एक वेदना भरी मुस्कराहट बदली।

३. अश्रु-निविड आखोंसे, एक विवश पशुकी तरह, पुतलियोंमें तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसत उस अजनाकी ओर ताक रही है।

४. एक साधभरी वेदनाकी उत्सुक और विधुर दृष्टिसे पवनंजय उस ओर देखते रह गए !

नीचे लिखे चित्रोंका चमत्कार देखिए। एक-एक वाक्यमें कल्पनाका और भावोंका सागर उँडेल दिया है—

१. समर्पणकी दीप-शिखासी वह अपने आपमें ही प्रज्वलित और तल्लीन थी।

२. चंपक-गौर भुजदडोंपर कमल-सी हथेलियोंमें कर्पूरकी आरतियां भूल रही हैं।

३. कपोल-पालीमे फैली हुई स्मित-रेखा, उन आंखोके गहन कजरारे तटोमें जाने कितने रहस्योंसे भरकर लीन हो गई।

४. अंजनाकी समस्त देह पिघलकर मानो उत्सगके पद्मपर एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है।

५. भालेके फलक-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमारकी छातीमें चमक उठा।

'मुक्ति-दूत'के कथानकका विस्तार, मानो अनन्त आकाशमें है, इससे पात्रोंको अधिकसे अधिक फैलनेका अवसर मिला है। मानुषोत्तर पर्वत, लवण समुद्र, अनन्त द्वीप-समूह, विजयार्धकी गिरिमाला आदिके कल्पक-सौंदर्यसे कथामे बडी भव्यता आ गई है। पुस्तककी भाषा इसी भूमिका और वातावरणके अनुरूप सहज सस्कृत प्रधान है। फिर, लिखते समय मन, प्राण और इन्द्रियोकी एकाग्रतासे भाव-गुम्फनके लिए रूप, रस, वर्ण, गन्ध और ध्वनिके व्यजक जो शब्द अनायास लेखिनीपर आ जाते है—उनके विषयमे हिन्दी-सस्कृतका भेद किया नहीं जा सकता। प्रत्येक शब्दकी एक विशेष अनुभूति, चित्र, वर्ण, और व्यजना लेखकके मनमें व्याप्त है। विशेष भावके तदनुकूल चित्रणके लिए शब्द-विशेष सहज ही आ जाता है—और कभी-कभी कोष (Vocabulary) का भाषा-अभेद अनिवार्य हो जाता है। 'मुक्तिदूत'मे भी ऐसा ही हुआ है। प्रवाहमें आये हुए अनेक उर्दू शब्दोको जानबूझकर निकाला नही गया है, यथा 'परेशान', 'नजर', 'जलूस', 'दीवानखाना', 'कशमकश', 'परवरिश', 'सरजाम', 'दफना' आदि। प्रत्येक शब्द अपने स्थानपर लक्षणा या व्यंजना-की सार्थकतामे स्वयं-सिद्ध है। अंग्रेजीका 'रेलिंग' शब्द लेखकने जान-बूझकर अपनी व्यक्तिगत रुचिकी रक्षाके लिए लिया है, क्योंकि लेखक 'इस शब्दमें लक्षित पदार्थका एक अद्भुत चित्रण-सौंदर्य' पाता है। 'अपने बावजूद' और 'जो भी' ('यद्यपि'के लिए)का लेखकने बार-बार प्रयोग किया है। ये उनकी विशिष्टशैलीके अंग हैं।

'मुक्तिदूत' अविभाज्य मानवताको जिस धर्म, प्रेम और मुक्तिका संदेश देता है वह हृदयकी अनुभूतियोका प्रतिफल है और इसीलिए उसका प्रतिपादन बहुत ही सीधे और सरल ढंगसे हुआ है। लेखकने बहुत गहरे डूबकर इन आबदार मोतियोका पता लगाया है। दरिया आपके सामने है, अब आप जानें !

"गौहरसे नहीं दरिया खाली, फूलोंसे नहीं गुल्शन खाली,
अफ़सोस है तुझपर दस्ते-तलब, जो अब भी रहे दामन खाली।"

डालमियानगर
१२ मई १९४७

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक

मुक्तिदूत

वनोमे बासती खिली हैं। चारो ओर कुसुमोत्सव है। पुष्पोके झरते परागसे दिशाएं पीली हो चली हैं। दक्षिण पवन देश-देशके फूलोंका गध उडा लाता है; जाने कितनी मर्म-कथाओसे मन भर आता है। आम्र-घटाओमे कोयलने प्राण-प्राणकी अतर्पीडाको जगा दिया। चारों ओर स्निग्ध, नवीन हरीतिमाका प्रसार है। दिशाओकी अपार नीलिमा आमत्रण से भर उठी है।

नवयुवा कुमार पवनजयका जी इन दिनो घरमे नही है। जब-तब महलकी छतपर आ खडे होते है, और सचमुच इस दक्षिण पवनपर चढकर, उस नीली क्षितिज-रेखको लाँघ जाना चाहते है।

तभी फाल्गुनका आष्टाह्निक पर्व आ गया। देव और गधर्व अपने विमानो पर चढकर, अकृत्रिम चैत्यालयो की वन्दना करने नन्दीश्वर-द्वीप-की ओर उड रहे है। भरतक्षेत्रके राजा और विद्याधर, भगवान ऋषभ-देवकी निर्वाण-भूमि कैलाश-पर्वतपर, भरत चक्रवर्तीके बनवाये स्वर्ण-मदिरो की वदनाको जा रहे है।

कुमार पवनजयने अपने पिता, आदित्यपुरके महाराज प्रह्लादसे कैलाश जानेकी आज्ञा चाही। पिता प्रसन्न हुए और सपरिवार स्वय भी चलनेका प्रस्ताव किया। कुमारके स्वच्छद भ्रमणके सपनेको ठेस लगी, पर क्या कहकर इनकार करते ? सिर झुकाकर चुप हो रहे। रानी केतुमती, कुमार और समस्त राजपरिवार सहित महाराज कैलाशकी वंदनाको गये। पूजा वदन और धर्मोत्सवमे आष्टाह्निक पर्व सानद बीता। लौटते हुए, राजपरिवारने मानसरोवरके तटपर कुछ दिन वसत-विहार करनेका निश्चय किया।

एक दिन सवेरे उठकर क्या देखते है कि बहुत दूर मानसरोवरके कछारमे एक फेनो-सा उजला महल खडा है। अनुमानसे जाना कि विद्या-निर्मित महल है; जान पडता है कोई विद्या-धर राजा वहाँ आकर ठहरे है।

कैलाशकी परिक्रमा करके लौटे है, पर कुमार पवनजयका मन विराम नही पा रहा है। यह लौटना और यह विश्राम क्यो है? प्राणकी जिज्ञासा और उत्कठाका अंत नही है। अनहीन यात्रापर चल पडनेको उसका युवा मन आतुर है। कैलाशकी उत्तुग चोटियोपर स्वर्ण-मदिरोके वे शिखर दिखाई पड रहे है। अस्तगत सूर्यकी किरणोमे वह प्रभा मानो बुझ रही है। ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिको पाकर कुमारको सतोष नही है! वह निर्वाण कहा है? कितनी दूर? वह शिखरोकी प्रभा जो अभी तिरोहित हो जानेको है उसके ऊपर होकर फिर यात्रा कैसे होगी?

कि अचानक कुमारकी दृष्टि दूरके उस फेनोज्ज्वल महलपर पडी। उसके वातायन की मेहराब मे होकर वह अपार नील जल-राशि लहराती दिखाई पड़ी। कुमार हर्षाकुल होकर चल पडे। इधर लहरोपर खेलना ही पवनजयका प्रिय उद्योग हो गया है। बिना किसीसे कहे, सगी-सेवक-विहीन अकेले ही तटपर जा पहुचे। नावपर आरूढ होकर तटकी सांकल खोल दी—और खूब तेजीसे डाड चलाने लगे। तटसे बहुत दूर, झीलके बीचोबीच, ठीक उस महलके सामने ले जाकर नावको लहरोके अधीन छोड दिया। हवाके झकोरे प्रबलसे प्रबलतर हो रहे है। उछाले खाती हुई तरगे नावपर आ-आकर पड़ रही है। कुमारका उत्तरीय हवाके झोकोमे यकसा उड रहा है। डांड फेंककर आप, पैरपर पैर डाले, हाथ बाधकर बैठे है। लहरोके गर्जन और आलोडनपर मानो आरोहण किया चाहते है। विविध भंगिमामे आती हुई तरगोको भुजाओमे समेट लेना चाहते है—पर जैसे उनपर उनका वश नही है। और इसीलिये वे बालककी जिदसे तुल पड़े है कि हार नही मानेंगे। नावका भान उन्हे नही है। वे तो बस

लहरोके लीला-क्रोडमें खो गये है। उडते हुए तरंग-सीकरोंसे सांझकी आखिरी गुलाबी प्रभा झर रही है।

अब तो कुमारका उत्तरीय भी नही दिखाई पडता, नाव भी नहीं दिखाई पडती, केवल वे आकाशकी ओर उठी हुई भुजाए है, जिनमे अनत लहरे खेल रही है।

और एकाएक एक अति करुण कोमल 'आह'ने स्तब्ध दिशाओको गुजा दिया। कुमारकी दृष्टि ऊपर उठी। उस महलकी सर्वोच्च अटारीपर एक नीलाबर उडता दिखाई दिया—और वेगसे हिलते हुए दो आकुल हाथ अपनी ओर बुला रहे थे। संध्याकी उस शेष गुलाबी आभामे कोई मुखडा और उसपर उडती हुई लटे...

नावपरसे छलाग मारकर कुमार पानीमें कूद पडे। लहरोकी गतिके विरुद्ध जूझते हुए पवनजयने घरकी राह पकडी और लौटकर नही देखा!

पहर रात जानेतक भी कुमार आज सो नही सके है। इधर प्रायः ऐसा ही होता है। तब वे भ्रमणको निकल पडते है। आज भी ऐसे ही शय्या त्यागकर चल पडे। महाराजके डेरेके पाससे गुजर रहे थे कि कुछ बातचीत का रव सुनाई पडा। पास जाकर सुना, शायद पिता ही कह रहे थे—

"...उन सामनेके महलोमे विद्याधरराज महेद्र ठहरे है। दतिपर्वतकी तलहटीमे स्थित महेद्रपुर नगरके वे स्वामी है। रानी हृदयवेगा, अरिदम आदि सौ कुमार और कुमारी अजना साथ है। अजना अब पूर्ण यौवना हो चली है। महाराज महेद्र उसके विवाहके लिये चिंतित है। जबसे उन्हें पता लगा है कि कुमार पवनंजय अभी क्वारे है तभीसे वे बहुत अनुरोध आग्रह कर रहे है। वे तो अपनी ओर से निश्चय ही कर चुके है। कहते है कि विवाह मानसरोवरके तटपर ही होगा और तभी यहासे दोनों राजकुल चल सकेंगे। .."

और बीच-बीचमे मा हर्षित होकर स्वीकृति दे रही है।

लक्ष्यहीन कुमार झीलके तटपर आतुर पैरोंसे भटक रहे हैं। लहरोंके गभीर सगीतमे अतरकी वह आकुल पुकार अशेष हो उठी है—और चारों ओर सध्याकी उस 'आह'को खोज रही है।

[२]

"देखो न प्रहस्त, कैलाशके ये वैडूर्यमणिप्रभ धवलकूट, ये स्वर्णमदिरोंकी ध्वजाए, मानसरोवरकी यह रत्नाकर-सी अपार जल-राशि, हस-हसिनियोंके ये मुक्त विहार और वे दूर-दूरतक चली गई श्वेताजन पर्वत-श्रेणिया, क्या इन सबसे भी अधिक सुदर है वह विद्याधरी अजना ?"

कुमारके हृदयका कोई भी रहस्य, प्रहस्तसे छुपा नही था। बालपनसे ही वह उनका अभिन्न सहचर था। मार्मिक मुस्कराहट के साथ प्रहस्तने उत्तर दिया—

"और कौन जाने, कुमार पवनजय, उसी रूपके झरोखेपर चढकर ही न इस अपार सौदर्यके साथ एकतान हो रहे हो ?"

"विनोद मान रहे हो प्रहस्त ! उस रूपको देखा ही कब है, जो तुम मुझे उसका बदी बनाया चाहते हो। हा, उस सध्यामे वह 'आह' जो दिगतमें गूज उठी थी—उसका पता जरूर पाना चाहता हू ! पर डर यही है कि अजनाको पाकर कही उसे न खो दू. . ।"

"उस रूपको पा जाओगे पवन, तो ये सारी भ्रातिया मिट जायेगी !"

"भूलते हो प्रहस्त, पवनजय रुकना नही जानता ! सौदर्यका प्रवाह देश और कालकी सीमाओके ऊपर होकर है। और रूप ? वह तो अपने-आपमे ही सीमा है—वह बधन है, प्रहस्त। कैलाशकी इन उत्तुग चूडाओपर जाकर भी मेरा मन विराम नही पा सका है। और तुम अंजनाके रूपकी बात कह रहे हो . . . ?"

"पर उस महल परका वह उड़ता हुआ नीलांबर, वह मृदु मुख, और वह दिगंत भेदिनी 'आह', वह सब क्या था पवनंजय ?"

"नही, वह रूप नही था—वह सीमा नही थी, प्रहस्त, वह अनंत सौंदर्य प्रवाहका आकर्षण था कि मै विरुद्ध-गामिनी लहरोंसे जूझता हुआ लौट आया। वही परिचयहीन चिरआकर्षण, कहां है उसकी सीमा-रेखा ?"

"मनके इस मान-सभ्रमको त्याग दो पवन, और आओ मेरे साथ, उस सीमाका परिचय पाओ, जिसपर खडे होकर, असीमको पानेकी तुम्हारी उत्कंठा ऐसी तीव्र हो उठी है।"

× × × ×

सांझ घनी हो गई है। मानसरोवरके सुदूर जल-क्षितिजपर, चांदके सुनहले बिंब का उदय हो रहा है। उस विशाल जल-विस्तारपर हंस-युगलोका विरल क्रीड़ा-रव रह-रहकर सुनाई पड़ता है। देवदारु-वन और फूल-घाटियोकी सुगंध लेकर वासती वायु हौले-हौले बह रही है। चिर दिनका सखा प्रहस्त कुमारके मदाके सरल मनमें अनायास आ गई इस उलझनको समझ रहा था। तीन दिनसे कुमार की विकलताको वह देख रहा है। भीतरसे पवन जितना ही अधिक तरल, कोमल और चंचल हो पडा है, बाहरसे वह उतना ही अधिक कठोर, स्थिर और विमुख दिखाई पड़ रहा है। प्रहस्तने इस उलझनको सुलझानेकी युक्ति पहले ही खोज निकाली थी। केवल एक बार अवसर पाकर, वह कुमारके मनकी टोह भर पा लेना चाहता था। आज सांझ वह प्रसंग आ उपस्थित हुआ। प्रहस्तने सोच लिया कि इस सुयोगका लाभ उठा लेना है। सारा आयोजन वह पहले ही कर चुका था।

बिना किसी वितर्कके मौन-मौन ही कुमार प्रहस्तके अनुगामी हुए। थोड़ी ही देर मे यानपर चढ़कर, आकाश-मार्गसे प्रहस्त और पवनंजय

विद्याधर-राजके महलकी अटारीपर जा उतरे। एक झरोखेमें जहाँ माणिक-मुक्ताओंकी झालरें लटकी थी, उसीकी ओटमे दोनों मित्र जा बैठे।

सामने जो दृष्टि पडी तो पवनजय पता पूछनेकी बात भूल गये। अतर्मुहूर्त मात्रमे मानो दूसरे ही लोकमे आ गये हैं। सौंदर्यके किस अज्ञात सरोवरमे खिला है यह रूपका कमल! गध, राग, सुषमाकी लहरोसे वातावरण चचल है। चारो ओर जैसे सौदर्यके भंवर पड रहे हैं, दृष्टि ठहर नही पाती। सारी जिज्ञासाए, सारे प्रश्न, सारी उत्कठाए मानो यहां आकर नि शेष हो गई हैं। सम्मोहन के उस लोकमे सारी रागिणियां, बस उसी एक सगीतमे मूर्छित हो गई हैं। कुमार खो गया है कि पा गया है--कौन जाने ? पर जो था सो अब वह नही है।

सखियोसे घिरी अजना जानु मोडकर, एक हाथके बल बैठी है। अनेक पार्वत्य फूलोकी वर्ण-वर्ण विचित्र मालाए आस-पास बिखरी हैं। उनसे क्रीडा करती हुई वे सब सखिया परस्पर लीला-विनोद कर रही हैं। अंजनाकी उस कुदोज्ज्वल देहपर, बडे ही मृदु, हलके रत्नोके विरल आभरण हैं, और गलेमें नीप कुसुमोकी माला। सूक्ष्म दुकूल उस देहयष्टिकी तरल सुषमामे लीन हो गया है। सारे वस्त्राभरणों मे भी सौंदर्यका वह पद्म, अनावृत है--अपनी ही शोभामे क्षण-क्षण नव-नवीन।

चंचल हास-परिहासके बाद अभी कुछ ऐसा प्रकरण आ गया है कि अजना कुछ गभीर हो गई है।

वसतमालाने बडे दुलारसे अजनाका एक हाथ खीचते हुए कहा--"ओ हो अंजन, नाम आते ही गायब हो रही है। पा जायेगी तब तो शायद दुर्लभ हो जायेगी। पर कितना सुदर नाम है--पवनजय--कुमार पवनंजय! उस दिन मानसरोवरकी उन उत्ताल तरगोपर संतरण करता वह कुमार सचमुच पवनजय था। निर्भय हसता हुआ जैसे वह मौतसे खेल रहा

था। उन सुदृढ़, सुडौल भुजाओंके लिए वह लीलामात्र थी। और वे हवामें उडती हुई आलुलायित अलकें ! बडे भाग्य हैं तेरे अंजन—जो पवनंजय-सा कुमार पा गई है तू।"

अंजना चित्र-लिखी-सी, बिल्कुल अवश, मुग्ध बैठी रह गई। वसंत-मालाकी बात सुन वह भीतर ही भीतर नम्र-विनम्र हुई जा रही है। आंखके पलक निस्पंद हैं। पुलकोंमें मानों शरीर सजल होकर बह चला है। एक हाथ उसका शिथिल, वसंतमालाके हाथमें है। वसंतमाला उसकी सबसे प्रियतमा सखी है—कहे कि उसकी आत्माकी सहचरी है। बात करते-करते सुखके आवेगसे वसंत भी जैसे भर आई, सो विनोद करना भूल गई।

तभी एक दूसरी सखी मिश्रकेशी ईर्ष्यासे मन ही मन जल उठी और ओठ काटकर चोटी हिलाती हुई बोली—

"हेमपुरके युवराज विद्युत्प्रभके सामने पवनंजय क्या चीज है। भरतक्षेत्रके क्षत्रिय-कुमारोंमें विद्युत्प्रभ अद्वितीय है। रूप, तेज-पराक्रम, श्री-शौर्यमें दूसरा कौन उनके समकक्ष ठहर सकता है ? और फिर हेमपुरके महाराज कनकद्युतिका विशाल वैभव, परिकर ! आदित्यपुरका राजवैभव उसके सम्मुख तिनके बराबर भी नहीं है। यह जानकर, कि विद्युत्प्रभके सन्यस्त होनेका नियोग है, अंजनाका विवाह महाराजने उनके साथ न किया, यह अविचार है। क्षुद्र पवनंजयका आजीवन संग भी व्यर्थ है; और विद्युत्प्रभ जैसे पुरुष-पुंगवका क्षणभरका संग संपूर्ण जीवनकी सार्थकता है...।"

अंजना अब भी इतनी विभोर थी कि जैसे इन कटु-कठोर वचनोंको उसने सुना ही नहीं। उसकी संपूर्ण इंद्रियां प्राणकी उसी एक ऊर्जस्वल धारामें लीन हो गई थी। विरक्तिकी ग्लानिके बजाय अब भी उसके दीप्त मुख-मंडलपर वही अमंद आनंदकी मुस्कराहट थी। समर्पणकी दीप-शिखा-सी वह अपने आप में ही प्रज्ज्वलित और तल्लीन थी—बाहर

के थपेडों से अप्रभावित। उसका अग-अग सौरभभार-नम्र पुण्डरीक-सा झुक आया था।

मिश्रकेशीके उस कटु भाषणसे सभी सखिया इतनी विरक्त और क्षुब्ध हो गई थी कि किसीने भी उस विषयको बिखेरना उचित नही समझा। तभी एकाएक अजनाको जैसे चेत आया। अनायास वह चचल हो पडी और वसतमालाके गलेमे दोनो हाथ डालकर उसकी गोदमें झूलती हुई बोली—"वसत—मेरी पगली वसत!"

और फिर वह उठ बैठी और सब सखियोकी ओर उन्मुख होकर बोली—

"लो चाद निकल आया—ठहरो मै बीन लाती हू। आज वसत गायेगी और तुम सब जनिया नाचनेके लिये पायल बाधो।"

हसती-बलखाती अजना, चचल बालिका-सी झपटती हुई अपने कक्षमे बीन लेने चली गई। उधर सखियोकी हसियोसे वातावरण तरल हो उठा। छुम-छनन् घुघरू बज उठे।

पर मणि-मुक्ताकी झालरोकी ओटके उस झरोखेमे? पुरुषके अहं-दुर्गकी बुनियादे हिल उठी! और फिर पवनजय तो विजेताका गर्व और चुनौती लेकर आये थे। उनकी भुजाओमे दिग्विजयका आलोडन था। देश और कालके प्रवाहके ऊपर होकर जो मार्ग गया है—उसके वे दावेदार थे। इसीसे तो ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिपर आकर भी उनका मन चैन नही पा सका है। वे तो उस निर्वाणका पता पाना चाहते है। पुरुषके गर्वके उस शिखरपरसे, मानवी नारीके मौन समर्पणकी कथा वे कैसे समझ पाते?

और ऐसा विजेता जब नारीके प्रणय-द्वारपर आकर अनजाने ही अपने 'मै'को हार बैठा, तब उसकी ऐसी अवज्ञा? मिश्रकेशीने कुमार पवनजयके लिये निदारुण अपमानके वचन कहे और अंजना वैसी ही चुप मुस्कराती हुई सुनती रही? उसने उसका कोई प्रतिकार नही किया?

श्रौर तब एकाएक उसे सूझा नृत्य-गान श्रौर वीणा-वादन ! विद्युत्प्रभके प्रतापकी बात सुनकर वह सुखसे ऐसी चंचल हो उठी ? श्रौर पवनजय उसके समुख इतना तुच्छ ठहर गया कि उसकी निंदा-स्तुतिसे जैसे श्रंजनाको कोई सरोकार ही न हो ? गर्वके सारे स्तरोको भेदकर वह श्राघात मर्मके श्रतिम 'मै'पर जा लगा। वह 'मै' भीतर ही भीतर नग्न होकर ज्वाला-सा दहक उठा।

कुमारने प्रहस्तको चलनेका इगित किया, श्रौर उत्तरके लिये ठहरे बिना ही विमानमे जा बैठे। क्रोधसे उनका रोम-रोम जल रहा था, पर उस सारी श्रागको वे एक घूट उतारकर पी गये। फूट पडनेको श्रातुर श्रोठोको उन्होने काटकर दबा दिया। श्राजतक उन्होने प्रहस्तसे कोई बात नही छुपाई थी—पर श्राज ? श्राज तो उसका विजेता भू-लुंठित हो गया था। यह उसके पुरुषकी चरम पराजयकी मर्म-कथा थी !

प्रहस्तसे रहा न गया। उसने वह क्षुब्ध मौन तोडा—"देख श्राये पवन, यह है तुम्हारे उस परिचयहीन चिर श्राकर्षणकी सीमा-रेखा ! श्रादित्यपुरकी भावी राजलक्ष्मीको पहचान लिया तुमने ?"

पवनजय श्रलक्ष्य शून्यमे दृष्टि गडाये है। सुनकर भवे कुंचित हो श्राई। छिनभर ठहरकर बोले—

"प्रहस्त, ससारकी कोई भी रूप-राशि कुमार पवनजयको नहीं बांध सकती। सौदर्यकी उस श्रक्षय धाराको मांसकी इन क्षायक रेखाश्रोमें नही बाधा जा सकता। श्रौर वह दिन दूर नही है प्रहस्त, जब नाग-कन्याश्रों श्रौर गधर्व-कन्याश्रोका लावण्य पवनजयकी चरण-धूलि बननेको तरस जायगा!"

"ठीक कह रहे हो पवन, श्रजना इसे श्रपना सौभाग्य मानेगी ! क्योंकि वह तो चरण-धूलि बननेके पहले श्रादित्यपुरके भावी महाराजके भालका तिलक बननेका नियोग लेकर श्राई है।"

"नियोगोंकी शृंखलाए तोड़कर चलना पवनंजयका स्वभाव है प्रहस्त;

और परंपराओंसे वह बाधित नही। अपने भावी का विधाता वह स्वयं है। आदित्यपुरका राजसिंहासन उसके भाग्यका निर्णायक नही हो सकता!"

प्रहस्त गौरसे चुपचाप पवनजयकी मुद्राको देख रहा था। सदाका वह हृदयवान और बालक-सा सरल पवनजय यह नही है।

विमानसे उतरकर बिदा होते हुए आदेशके स्वरमे पवनजय ने कहा—

"अपनी सेनाके साथ कल सवेरे सूर्योदयके पहले मैं यहासे प्रयाण करूंगा, प्रहस्त। महाराजके डेरेमे सूचना भेज दो और सेनापतियोको उचित आज्ञाए। मानसरोवरके तटपर मैं कलका सूर्योदय नहीं देखूंगा!"

कहकर तुरत पवनजय एक झटकेके साथ वहासे चल दिये। प्रहस्तको लगा, जैसे निरभ्र आकाशका हृदय विदीर्णकर एकाएक बिजली कड़क उठी हो। वह सन्नाटेमे आ गया। दिग्मूढ़-सा खडा वह शून्य ताकता रह गया।

[३]

शेष रातके शीर्ण पखोपर दिन उतर रहा है। आकाशमे तारे कुम्हला गये। दूरपर दो तमसाकार पर्वतोके बीचके गवाक्षसे गुलाबी आभा फूट रही है। मानसरोवरकी चचल लहरावलियो मे कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनोकी जाली बुन रही है। और एक अकेली हसिनी उस फूटते हुए प्रत्यूषमेंसे पार हो रही है। अजना अभी-अभी शय्या त्यागकर उठी है। अगडाई भरती हुई वह अपने झरोखेके रेलिंगपर आ खडी हुई। एक हाथसे नीलमकी मेहराब थामे, खभेपर सिर टिकाये वह स्तब्ध देखती ही रह गई . । वह नीरव हसिनी उस गुलाबी आलोक-सागरमे अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यों है आज अकेली ?

कि लो, हिमगिरिकी शैलपाटियो, दरियो और उपत्यकाओको कंपाता हुआ प्रस्थानका तूर्यनाद गूज उठा। दुंदुभीका घोष मानसरोवरकी लहरोमें गर्जन भरता हुआ, दिगतके छोरोतक व्याप गया।

अजनाने सहमकर वक्ष थाम लिया। उत्तरकी पर्वत-श्रेणियोंमे उठ-उठकर धूलके बादल आकाशमे छा रहे है। डूबती हुई अश्व-टापोकी दूरागत ध्वनि रह-रहकर प्रतिध्वनित हो रही है। कि तटके उन डेरोकी ओरसे घुडसवारोकी एक टुकडी हवापर उछलती हुई घाटियोंमें कूद गई।

परेशान-सी वसतमाला भागती हुई आई। चाहकर भी वह अपने को रोक नही सकी--बोली---

"अजन, कुमार पवनजय प्रस्थान कर गये। अपने सैन्यको साथ लेकर वे अकेले ही चल दिये है---"

✓ बीनका तार जैसे टन्न .से अचानक टूट गया, भटकती हुई वह झकार रोम-रोममे झनझना उठी है। पता नही यह आघात कहासे आया। बेबूझ, अपार विस्मयसे अजनाकी वे अबोध आखे वसतके चेहरेपर बिछगई। अपने बावजूद वह वसतसे पूछ उठी---

"कारण ?"

."ठीक कारण ज्ञात नही हो सका। पर एकाएक मझरातमें महाराज प्रह्लादके पास सूचना पहुची कि कुमार कल सूर्योदयके पहले अकेले ही प्रस्थान करेगे; अपनी सेनाओंको उन्होंने कूचकी आज्ञाएँ दे दी है। उसी समय अनुचर भेजकर महाराजने कुमारको बुलवाया, पर वे अपने डेरेमें नही थे। शामको ही जो वे गये, तो फिर नहीं लौटे। उनके अन्यतम सखा प्रहस्तसे केवल इतना ही पता चला है कि पवनजयके रोषका कारण कुछ गंभीर और असाधारण है। इस बार वे भी उनके मनकी थाह न ले सके है---और पूछनेका साहस भी वे नहीं कर सके।"

"क्या पिताजीको यह सवाद मिल गया है, वसंत ?"

"हां, अभी जो अश्वारोहियोंकी टुकडी गई है, उसीमें महाराज, आदित्यपुरके महाराज प्रह्लादके साथ कुमारको लौटा लाने गये हैं।"

अंजनाने वक्षमे नि श्वास दबा लिया। किसी अगम्य दूरीमें दृष्टि अटकाये गभीर स्वरमें बोली—

"बाधकर मैं उन्हे नही रखना चाहूँगी, वसत ! जानेको ये दिशाएँ खुली हैं उनके लिये। पर सयोगकी रात जब लिखी होगी, तो द्वीपातरसे उड़कर आयेंगे, इसमें मुझे जरा भी सदेह नहीं है। पगली वसू, छि· आसू ? अजनाके भाग्यपर इतना अविश्वास करती हो, वसन ?"

कहते-कहते अजनाने मुह फेर लिया और वसतका हाथ पकड उसे कक्षमे खीच ले गई।

[४]

कुछ दूर जाकर ही अचानक विरामका शख बज उठा। सैन्यका प्रवाह थम गया। रथकी रास खीचकर पवनजयने पीछे मुडकर देखा। कौन है जिसने कुमार पवनजयके सैन्यको रोक दिया है ? दीखा कि कुछ ही दूर घोडोपर महाराज प्रह्लाद, महाराज महेद्र, मित्र प्रहस्त और कुछ घुडसवार चले आ रहे हैं। महाराजके सकेतपर ही सेनाधिपने विरामका शखनाद किया है।

कुछ निकट आकर वे सब घोडोसे उतर पडे। महाराज प्रह्लादने अकेले प्रहस्तको ही भेजा कि वे पवनजयसे लौट चलनेका अनुरोध करें। महाराज पुत्रका स्वभाव जानते थे और खूब समझते थे कि प्रहस्त यदि पवनंजयको न लौटा सके तो, वे तो क्या, फिर विश्वकी कोई भी शक्ति कुमारको नहीं लौटा सकती।

सदिग्ध और व्यथित प्रहस्त रथके निकट पहुंच घोड़ेसे उतर पड़े। सारथीको घोड़ोकी वल्गा थमाकर, गरिमासे मुस्कराते हुए पवनजय रथसे

नीचे उतर आये। पर उस गरिमामे तेज नही था, महिमा नही थी, थी एक बुझी हुई अल्प-प्राणता। वह चेहरा जैसे एक रातमे ही झुलसकर निष्प्रभ हो गया था। प्रहस्त चुपचाप पवनंजयका हाथ पकड, उन्हे जरा दूर एक झरनेके नजदीक ले गये।

एकाएक दूसरी ओर देखते हुए प्रहस्तने मौन तोडा—

"तुम्हारे गौरवके शिखरोको छूनेके लिये प्रहस्त अब बहुत छोटा पड गया है, पवन ! और वैसी कोई धृष्टता करने आया भी नही हू। आदित्यपुर और महेंद्रपुरके राजमुकुट भी तुम्हारे चरणोको शायद ही पा सके, इसीलिये उन्हें पीछे छोड आया हूं। पर यह याद दिलाने आया हूं कि अपनेहीसे हारकर भाग रहे हो, पवन ! क्षत्रियका वचन टलता नही है। इस विवाहको लेकर परसो रात महादेवीसे तुमने क्या कहा था, वह याद करो। उसके भी ऊपर होकर यदि तुम्हारा मार्ग गया है, तो ससार की कौनसी शक्ति है जो तुम्हे रोक सकती है ?"

सुनते-सुनते पवनजय विवर्ण हुए जा रहे थे कि एकाएक उत्तेजना और रोषसे चेहरा उनका तमतमा उठा।

"वह मोह था प्रहस्त, मनकी एक क्षण-भगुर उमग। निर्बलताके अतिरेकमे निकलनेवाला हर वचन निश्चय नही हुआ करता। और मेरी हर उमग मेरा बधन बनकर नही चल सकती। मोहकी रात्रि अब बीत चुकी है, प्रहस्त। प्रमादकी वह मोहन-शय्या पवनजय बहुत पीछे छोड आया है। कल जो पवनजय था, वह आज नही है। अनागतपर आरोहण करनेवाला विजेता, अतीतकी साकलोसे बधकर नही चल सकता। जीवनका नाम है प्रगति। ध्रुव कुछ नही है प्रहस्त,—स्थिर कुछ नहीं है। सिद्धात्मा भी निजरूपमे निरतर परिणमनशील है ! ध्रुव है केवल मोह—जडताका सुदर नाम—!"

"तो जाओ पवन, तुम्हारा मार्ग मेरी बुद्धिकी पहुचके बाहर है।

पर एक बात मेरी भी याद रखना—तुम स्त्रीसे भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारणा कर रहे हो। घायलके प्रलापसे अधिक, तुम्हारे इस दर्शनका कुछ मूल्य नही। यह दुर्बलकी आत्म-वचना है, विजेताका मुक्ति-मार्ग नही।"

"और मुक्तिका मार्ग है—विवाह, स्त्री!—क्यो न प्रहस्त?"

"हा पवन, ये मुक्तिमार्गकी अनिवार्य कसौटिया है। इन तोरणोको पार करके ही मुक्तिके द्वारतक पहुचा जा सकेगा। स्त्रीसे भागकर जो जेता दिग्विजय करने चला है, दिशाओंकी अपरिसीम भुजाओका आलिगन वह नही पा सकेगा। शून्यमें टकराकर एक दिन फिर वह सीमित नारीके चरणोमे दिग्मूढ़-सा लौट आयेगा। स्त्रीके सम्मोहन-पाशमे ही मुक्तिकी ठीक-ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्तिकी माग वही तीव्रतम है। उसी चरम पीडाकी ऊष्मामेंसे फूटकर मुक्तिका श्वेत कमल खिलता है। मुक्ति स्वय स्त्री है—नारीको छोडकर शरण और कही नहीं है, पवन! स्वार्थी, भोगी, उच्छृङ्खल पुरुष अपनी लिप्साओंसे विवश होकर, जब स्त्रीकी परम प्राप्तिमे विफल होता है, तब अपने पुरुषार्थके मिथ्या आस्फालनमे वह नारीसे परे जानेकी बात सोचता है। मुक्ति चरम प्राप्ति है—वह त्याग-विराग नही है, पवन!"

"और वह चरम प्राप्ति, विवाह और स्त्री के बिना सभव नही—क्यो न प्रहस्त?"

"मै मानता हू कि विजेता और उसकी चरम प्राप्ति विवाहसे बाधित नही। पर यदि विवाह अनिवार्य होकर उसके मार्गमे आ ही जाये, तो उससे उसे निस्तार नही है। निखिलको अपने भीतर आत्मसात् करनेवाले अखंड प्रेमकी लौ जिस जेताके वक्षमें जल रही है—उसके सम्मुख एक तो क्या लक्ष-लक्ष विवाह भी बाधा-बधन नही बन सकते, पवन। छियानवे हजार रानियोके लीला-रमण और षट् खड पृथ्वीके अधीश्वर थे भरत चक्रवर्ती! उस सारे वैभवके अव्याबाध भोक्ता होकर वे रहे, और

अंतर्मुहूर्त मात्रमें सारे बंधनोको तोडकर निखिलके स्वामी हो गये। बालपनसे जो नरश्रेष्ठ तुम्हारा आदर्श रहा है, उसीकी बात कह रहा हूं, पवन !"

पवनजयका घायल पुरुषार्थ भीतर ही भीतर सुलग रहा था। नहीं, वह अंजनाको छोडकर नही जा सकेगा। मृत्युकी तरह अनिवार होकर यह सत्य उसकी छातीमे वज्र-सा टकराने लगा। ऐ ! क्या वह भाग रहा है—स्त्रीसे हारकर ? भयभीत होकर, कातर और त्रस्त होकर ? नहीं, वह हर्गिज़ नही जायेगा। प्रतिशोधकी सौ-सौ नागिने भीतर फुफकार उठी। उस निदारुण अपमानका बदला लेनेका इससे अच्छा अवसर और क्या होगा।...अच्छा अजन, आओ, पवनजयके अगूठेके नीचे आओ। ..और फिर मुस्कराओ अपने रूपकी चांदनीपर ! तुम्हारे उस गर्विष्ठ रूपको चूर्णकर उसे अपनी चरण-धूलि बनाये बिना मेरी विजय-यात्राका आरभ नहीं हो सकता।

अपनी अधीरतापर सयम करते हुए प्रकटमे पवनजय बोले—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है प्रहस्त, तो चलो—मानसरोवरके तटपर ही अपनी विजय-यात्राका पहला शिला-चिह्न गाड चलूं !"

...प्रहस्तको हाथ से खीचकर पवनजयने रथपर चढ़ा लिया और वल्गा खीचकर रथको मोड दिया। सेनापतिको सैन्य लौटानेकी आज्ञा दी गई। फिर प्रस्थानका शख गूज उठा।

[५]

आज है परिणयकी शुभ लग्न-तिथि। पूर्वकी उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियोके बीच, ऊषाके आकुल वक्षपर यौवनका स्वर्णकलश भर आया है। मणि-मुक्ता के झालर-तोरणोसे सजे अपने वातायनसे अजना देख रही है। उस एक ओरके शैलकी हरी-भरी तलहटीमें हंस-हसिनियोंका

एक झुण्ड मुक्त ग्रामोद-प्रमोद कर रहा है। पास ही सरोवर में कमलों का एक सकुल वन है। सारी रात सुखकी एक अशेष पीडा अजनाके वक्षको मथती रही है। जैसे वह आनन्द देहके सारे सीमा-बधनोको तोडकर निखिल चराचरमे बिखर जाना चाहता है। पर कहा है इस विकलताका अत ? सरोवरके उन सुदूर पद्मवनोमे ? हसोके उस विहार मे ? हरीतिमाकी उस ग्राभामे ? इन अनत लहरोके अतरालमे ?—कहां है प्राणकी इस चिर विच्छेद-कथाका अत ?

कि लो, अनेक मंगल-वाद्योकी उछाहभरी रागिणियोसे सरोवरका वह विशाल तट-देश गूज उठा। कैलाशके स्वर्ण-मदिरोके शिखरोपर जाकर वे ध्वनिया प्रतिध्वनित होने लगी। अनेक तोरण, द्वार, गोपुर, मडप और वेदियोसे तटभूमि रमणीय हो उठी है। मानों कोई देवोपनीत नगरी ही उतर आई है। स्थान-स्थानपर बालाए अक्षत-कुकुम, मुक्ता और हरिद्राके चौक पूर रही हैं। दोनो राजकुलोकी रमणिया मगल गीत गाती हुई उत्सवके आयोजनोमे सलग्न हैं। कही पूजा-विधान चल रहे हैं तो कही हवन-यज्ञ। विपुल उत्सव, नृत्य-गान, आनद-मगलसे वातावरण चंचल है।

सवेरे ही अजनाको नाना राग, गध, उबटनोसे नहलाया गया है। पुडरीक और नील कमलोके परागसे अंगराग किया गया है। दूर-दूरकी पर्वत-घाटियोसे वन-पाल नाना रगी फूल लाये हैं। उनके हारो और आभरणोसे अजनाका शृगार हो रहा है। ललाट, वक्षदेश और दोनो भुजाओपर वसतमालाने बड़े ही मनोयोगसे पत्र-लेखा रची है। प्रत्यूषकी पहली गुलाबी आभाके रंगका दुकूल वह ओढ़े हैं। भीतर कही-कहीसे विरल रत्नाभरणोकी प्रभा झलमला उठती है।

और इस सारे आस-पासके उत्सव-कोलाहल, शृगार-सज्जाके भीतर दबे अजनाके श्वेत कमलिनीसे पावन हृदयसे एक आह-सी निकल आती है। रह-रहकर एक सिसकी-सी वक्षमें उठती है और अनायास वह उसे

दबा जाती है। बाहर तल-देशके सारे सुख-चाचल्यकी जो छाया घनीभूत होकर उसके अतस्तलमे पठ रही है—वह क्यो इतनी करुण, नीरव और विषादमयी है ?

मानसरोवरकी वेलामे, लहरोसे विचुबित परिणयकी वेदी रची गई है। सब दिशाओकी पार्वत्य वनस्पतियो और फल-फूलोसे वह सजाई गई है। चारो ओर रत्न-खचित खभे है—जिनपर मणि-माणिक्यके तोरण-वदनवार लटके है।

सुदूर जल-क्षितिजमे सूर्यकी कोर डूब गई। ठीक गोधूलि-बेलामे लग्न आरभ हो गया। हवनके सुगधित धूम्रसे दिशाए व्याप्त होगई। सध्या-निलके मादक झकोरोपर वाद्योकी शीतल रागिणिया, ततु-वाद्योकी स्वर-लहरिया और रमणी-कठोके मृदु-मदगान मथर गतिसे बह रहे थे। और बीच-बीचमे रह-रहकर हवनके मत्रोच्चारकी गभीर ध्वनियाँ गूज उठती।

अजनाने देखा, वे हसोके युगल उन दूरके शैल-शृगोके पार उडे जा रहे है। और वह क्यो बिछुडकर अकेली पडी जा रही है। सब कुछ अवसन्न, करुण, नीरव हुआ जा रहा है। आस-पासका गीत-वाद्य, कलरव सब नि.शेष हुआ जा रहा है। केवल मानसरोवरकी लहरोका अनत जल-सगीत और हवाके हू-हू करते झकोरे। मानवहीन, निर्जन तटका महाविस्तार.. ...!

पाणि-ग्रहणकी बेला आ पहुची। अंजनाको चेत आया। उसने साहस करके नीची दृष्टिसे ही पवनजयको देखना चाहा . , तब तक कब हथेलीमे हथेली जोडकर बाध दी गई, पता ही नही। यही है उसका वह नियोगी पुरुष ? वह पहचान नही पा रही है। उसे याद आ रहा है उस सध्याका वह नौका-विहार, वह विरुद्ध-गामिनी लहरो पर जूझता हुआ पवनजय ! कहा है वह आज ? क्या यही पुरुष है वह ? अरे कहा है वह इस क्षण ? और लहरोके असीम विस्तारपर उसकी आखे उसे खोजती ही चली गई।

लोकमें परिणय सपन्न हो गया !

और दूसरे ही दिन दोनो राज-परिवार अपने दल-बल सहित अपने-अपने देशोको प्रस्थान कर गये ।

[६]

विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीपर, आकाश-विहारिणी वन-लेखासे बालारुणका उदय हो रहा है। अनेक रथो, पालकियो और सैन्यकी ध्वजाओंमें पर्वत-पाटिया चित्रित हो उठी । दुदुभियोके तुमुल घोषने घाटियों और गुहाओको थर्रा दिया । दरीगृहोमे सोये सिंह जागकर चिघाड उठे । हिम्र जतुओमें भरे कानारोका जड अधकार हिल उठा। पर्वत-गर्भसे जानेवाले दरीमार्गोके चट्टानी गोपुर गगनभेदी वाद्यो और शखनादोसे गूज उठे। महाराज प्रह्लाद आज कैलाश-यात्रासे लौटकर अपने राज-नगर आदित्यपुरको वापस आ रहे हैं।

वीहड पर्वत-मार्गको पारकर सैन्यकी ध्वजाए मुक्त किरणोमे फहराने लगी। दूरपर आदित्यपुरके परकोट दीखने लगे। अंजनाने रथके गवाक्षकी झालरें उठाकर देखा । शरद ऋतुके उजले बादलो-से आदित्यपुरके भवन आकाशकी पीठिकापर चित्रित हैं। विस्तीर्ण वृक्ष-घटाओके पार, राज-प्रासादकी रत्न-चूडाए बाल-सूर्यकी कातिमे जगमगा रही हैं। सघन उपवनो और पद्म-सरोवरोकी आकुल गध लेकर उन्मादिनी हवा बह रही है। श्यामल तरु-राजियोमे कही अशोकसे कुकुम झर रहा है, तो कही गुलमौरोसे केशर और मल्लिकाओसे स्वर्ण-रेणु झर रही है। अजनाके अग-अग एक अपूर्व सुखकी पुलकोसे सिहर उठते हैं। पर इन पुलकोके छोरोमे यह कैसी अविज्ञात कातरता है—चिर अभावका कैसा संवेदन है ?

कि लो, देखते-देखते उत्सवका एक पारावार उमड़ आया। चित्र-विचित्र वस्त्राभूषणोमे नर-नारियोकी अपार मेदिनी चारो ओर फैली है। नवपरिणीत युवराज और युवराज्ञीका अभिनदन करनेके लिये प्रजाने यह विपुल उत्सव रचा है। चारो ओरसे अक्षत, कुकुम, गध-चूर्ण और पुष्पमालाओंकी वर्षा होने लगी। सबसे आगे गध-मादन गजराजपर स्वर्ण-खचित हाथीदातकी अबाडीमे मणि-छत्रके तले कुमार पवनजय बैठे हैं। वे चौडी जरी किनारका हस-धवल उत्तरीय ओढे है—और माथेपर मानसरोवरके बडे-बडे नीलाभ मोतियोकी झालर वाला किरीट धारण किये हैं। अपनी ईषत् बकिम ग्रीवाको जरा घुमाकर मानो अवहेलापूर्वक वे अपने चारो ओर देख रहे हैं। ओठोपर गुरु गरिमाकी एक मुस्कराहट जैसे चित्रित-सी थमी है। धनुषाकार होता हुआ एक भुजदड, अबाड़ीके कठघरेको थामे है। ईषत् गर्दन हिलाकर, और कुछ भ्रू उचकाकर ही वे प्रजाके उस सारे अभिनदन, अभिवादन और जयकारोको झेल लेते हैं।

नवीन चित्रोसे शोभित, नगरके सिह-तोरणपर अशोक और कदलीकी वंदनवारे सजी हैं। तोरणके गवाक्षोमे शहनाइयोंकी मगल-रागिणिया बज रही है। उसके ऊपरके झरोखोसे केशर-वसना कुमारिकाएं कमल-कोरक और फूलोकी राशिया बरसा रही है। कुमारकी गर्व-दीप्त आखोने एक बार भ्रूकी मर्यादा तोडकर, तोरणके झरोखोपर दृष्टि डाली।... चपक-गौर भुज-दडोपर कमल-सी हथेलियोमे कर्पूरकी आरतिया झूल रही है। सौदर्यकी उस प्रभाके समुख कुमारकी भौहोका वह मानगिरि एकबारगी ही चूर्ण हो गया। मन ही मन वे उद्वेलित हो उठे। ... 'ओह, परिणयकी स्वर्ण-सांकलोसे बधा मै, कैदी होकर लौट आया हूं इन मायाविनियोके देशमे! और रूपकी ये रजोराशिया विजेता के गौरवसे खिलवाड़ किया चाहती है ?'

जय-जयकार और शखनादोके बीच कुमारके हाथीने तोरणमें प्रवेश किया। नगरके भवन, छज्जे, अटारी और वातायनोमें उडते हुए सुगंधित

दुकूल और कोमल मुखड़ोकी छटा खिली है; ककण, नूपुर और किंकिणियोकी रणकार तथा मृदुकठोकी गान-लहरियोसे वातावरण चचल-ग्राकुल है।. और पवनजयने मानो ग्राकाशका तट पकड़कर यह निश्चय ग्रनुभव करना चाहा कि वह इस सबपर पैर धरकर चल रहा है !

पुष्पो, पुष्पहारो और हेम-कुकुम से ढकी हुई ग्रजना दोनो हाथोपर भालके तिलकको झुकाकर प्रजा-जनोके ग्रभिनदन झेल रही थी। देहके तट तोडकर जैसे उसका समस्त ग्रात्मा ग्रानदके इस ग्रपार समुद्रमे एक तान हो जानेको ग्राकुल हो उठा है। क्यो है यह ग्रलगाव, यह दूरी, यह खड-खड सत्ता ? यही है उसकी इस समयकी सबसे बडी ग्रानद-वेदना। वह ग्राज मानो ग्रपनेको नि शेष कर दिया चाहती है। पर इस ग्रथाह शून्यमे कोई थामनेवाला भी तो नही है।

[७]

यह है युवराज्ञी ग्रजनाका 'रत्नकूट-प्रासाद'। ग्रत:पुरकी प्रासाद-मालाग्रोमे इसीका शिखर सबसे ऊचा है। ग्रनेक देशातरोके दुर्मूल्य और दुर्लभ धातु, पाषाण और रत्न मगवाकर महाराजने इसे भावी राजलक्ष्मीके लिये बनवाया था। दूर-दूरके ख्यातनामा वास्तु-विशारद, शिल्पी और चित्रकारोने इसके निर्माणमे ग्रपनी श्रेष्ठतम प्रतिभाका दान किया है। ग्राज लक्ष्मी ग्रा गई है और महलमे प्रभा जाग उठी है।

महलकी सर्वोच्च ग्रटारी पर चारो ग्रोर स्फटिकके जाली-बूटोंवाले रेलिंग और वातायन है। बीचोबीच वह स्फटिकका ही शयन-कक्ष है, लगता है जैसे क्षीर-समुद्रकी तरगोपर चद्रमा उतर ग्राया है। फर्शोंपर चारो ग्रोर मरकत और इद्रनील मणिकी शिलाए जड़ी है। कक्षके द्वारों और खिडकियोपर नीलमों और मोतियोके तोरण लटक रहे है, जिनकी

मणि-घटिकाएं हवामे हिल-हिलकर शीतल शब्द करती रहती है। उनके ऊपर सौरभकी लहरोंसे हलके रेशमी परदे हिल रहे है।

कक्षमे एक ओर गवाक्षके पास सटकर पद्म-राग मणिका पर्यंक बिछा है। उसपर तुहिन-सी तरल मसहरी झूल रही है। उसके पट आज उठा दिये गये है। अदर फेनो-सी उभारवती शय्या बिछी है। मीना-खचित छतोंमे मणि-दीपोकी झूमरें झूल रही है। एक ओर आकाशके टुकड़े-सा एक विशाल बिल्लौरी सिहासन बिछा है। उसपर कासके फूलोसे बुनी सुख-स्पर्श, मसृण गद्दिया और तकिये लगे है। उसके आस-पास उज्ज्वल मर्मर पाषाणके पूर्णाकार हंस-हसिनी खडे है, जिनके पखोमें छोटे-छोटे कृत्रिम सरोवर बने है, जिनमे नीले और पीले कमल तैर रहे है। कक्षके बीचोबीच पन्नेका एक विपुलाकार कल्पवृक्ष निर्मित है, जिसमेंसे इच्छानुसार कल घुमा देनेपर, अनेक सुगधित जलोके रग-बिरगे सीकर बरसने लगते है। मणि-दीपोकी प्रभामे ये सीकर इद्रधनुषकी लहरें बन-बनकर जगतकी नश्वरताका नृत्य रचते है। कक्षके कोनोंमें सुन्दर बारीक जालियो-कटे स्फटिकमय दीपाधार खडे है, जिनमें सुगधित तैलोके प्रदीप जल रहे है।

बाहर उत्सवका सायाह्न एक मधुर अलसता और अवसादसे भरा है। आज सुहागिनी अजनाकी शृगार-सध्या है। चारो ओर महलोके सभी खडोके झरोखोसे मोहन-राग सगीत और प्रकाशकी शीतल-मथर लहरे बह रही है। सुंदर सुवेषिनी दासिया स्वर्ण-थालो और कलशोमें नाना सामग्रिया लिये व्यस्ततापूर्वक ऊपर-नीचे दौडती दीख रही है।

शयन कक्षके बाहर छतपर दासियां और सखिया मिलकर अजनाके लिये स्नानका आयोजन कर रही है। कुछ दूरपर नारिकेल-वनके अंतराल-से 'पुंडरीक' नामक विशाल प्राकृतिक सरोवरकी ऊर्मिया झाकती दीख पडती है। नारिकेल शिखरोंपर वसतके सध्याकाशमें गुलाबी और अंगूरी बादलोंकी झीले खुल पडी है। ऊपर घिर आती रातकी श्याम-नील

बेलामेंसे कोई-कोई विरल तारक-कन्यायें आकर इन झीलोंमे स्नान-केलि कर रही हैं।

देव-रम्य राजोद्यानके पूर्व छोरपर, सघन तमालोकी वनालीसे, सुहागिनीके मुख-मडल-सा हेम-प्रभ चद्रमा निकल आया। सरोवरसे सद्य: विकसित कुमुदिनियोका सौरभ और पराग लेकर वसंतका मादक सध्यानिल झूमता-सा बह रहा है। छतके उत्तर भागमे एक पद्माकार केलि-सरोवर बना है। उसके एक दलपर स्फटिककी चौकी बिछा दी गई है और उसीपर बिठाकर अजनाको स्नान कराया जा रहा है। सुगधित दूध, नवनीत, दही तथा अनेक प्रकारके गधजलोकी झारिया और उपटनोके चषक लेकर आसपास दासिया खडी है। वसतमाला अग-लेप लगा-लगाकर अजनाको स्नान करा रही है। केलि-सरोवरके किनारे गमलोमें लगी भूशायिनी वल्लरिया हवाके हिलोरोमे उड़ती हुई इधर-उधर डोल रही है। वे आ-आकर अजनाकी अनावृत भुजाओ, जघाओ, बाहो और कटिभाग मे लिपट जाती है। वह उन अनायास उड आती लताओंको विह्वल बाहोसे वक्षमे चापकर उनपर अपना सारा प्यार उडेल देती है। एक अपूर्व अज्ञात सुखकी सिहरनसे भरकर उसका अग-अग जाने कितने भगोमे टूट जाता है। उनके छोटे-छोटे फूलोको अगुलियोके बीच लेकर वह चूम लेती है—उन मृदुल डालो और नन्ही-नन्ही पत्तियो को गालोसे, पलकोसे हलके-हलके छुलाती है। इस क्षण उसके प्यारने सीमा खो दी है। बहिर्जगत की लाज और विवेक जाने कहाँ पीछे छूट गया है। आस-पास खडी सखिया और दासिया हसी-चुहुलमे एक दूसरीसे लिपटी जा रही है। तभी हलकेसे हसते हुए वसत ने मधुर भर्त्सना की—

"तेरा बचपन अभी भी छूटा नही है, अजन। इन नन्ही-नन्ही फूल-पत्तियोसे खेलनेमे लगी है कि नहाना भूल गई है। ऐसे ही अपनी बाल्य-क्रीड़ाओंमे रत होकर किसी दिन कुमार पवनजयको मत भूल बैठना, नहीं तो अनर्थ हो जायगा!"

कहकर अपने बावजूद वसत खिल-खिलाकर हस पडी । अंजना एक वेलिको गालसे लगाये कुछ देर मुग्ध विभोरतामें नत हो रही। फिर धीमेसे बोली—

"सो मुझे कुछ नही मालूम है, वसत। पर देख रही हू—कितना सरल है इन नन्ही-नन्ही वल्लरियोंका प्यार। व्याज नही, छल नही, अपेक्षा भी नही है। सहज ही आकर मुझसे लिपट रही है। किस जन्मकी आत्मीयता है यह? (रुककर) सोचती हू, कौनसा प्यार है जो इस प्यारसे बडा हो सकता है! क्या मनुष्यका प्रेम इससे भी बड़ा है? पर मैं क्या जानूँ बसन्त, इनसे परे इस क्षण मेरे लिये कुछ भी स्पृहणीय नही है!"

कुछ देर चुप रहकर फिर मानो भर-आते गलेसे बोली—

"निखिलको भूलकर जो एक ही याद रह जायगा, उसकी ठीक-ठीक प्रतीति मुझे नही है—पर इस क्षण इस प्यारसे परे मैं किसीको भी नहीं जानती ?"

"तो वह जाननेकी बेला अब दूर नही है अजन—लो उठो, उस ओर चलकर कपडे पहनो।"

छतके दक्षिण भागमें, खुले आकाशके नीचे रत्न-जटित खभोवाली सुहाग-शय्या बिछी है। चद्रमाकी उज्ज्वल किरणोंसे रत्नोंमें प्रभाकी तरगें उठ-उठकर विलीन हो रही हैं। मानो वह शय्या किसी नील जलधि-वेलामे तैर रही है। शय्यापर कचनार और चपक पुष्पोंकी राशिया बिछी हैं। उसकी झालरोमे केसरवाले पुडरीक झूल रहे है। पलंगके रत्न-दंडोपर चारो ओर कुद-पुष्पोसे बुनी जालियोंकी मसहरी झूल रही है। पलंगके शीर्षके चौखटपर चंद्रकान्त मणियोंकी झालरें लटकी हैं; चांदकी किरणोंका योग पाकर उन मणियोंमें [illegible] भीनी-भीनी [illegible] फुहारें झर रही हैं।

और वही पास ही इद्र-नील शिलाके फर्शपर चारो ओर [illegible] और
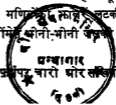
और दासियोसे घिरी, सुहागिनी अंजनाका शृंगार हो रहा है। उस तरल ज्योत्स्ना-सी देहमें पीत कमलोके केसरसे अगराग किया गया है। हथेलियों और पगतलियोमें लोध्रकी रेणुसे महावर रची गई है। सध्या की सागर-वेला सी वह घनश्याम केश-राशि ऐसी निर्बंध लहरा रही है कि उस देहके तरल तटोमें वह सम्हाले नही सम्हलती। इसीसे वेणी गूथनेका प्रयत्न नही किया गया है, केवल मानसरोवरके मुक्ताओकी तीन लडियोसे हलका-सा बाधकर उसे अटका दिया गया है। लिलार और गालोके केश पाशपरसे दो लडिया दोनो ओर की केश-पट्टियोको बाधती हुई जाकर चोटीके मूलमें अटकी है; माग की सेंदुर रेखापरसे एक तीसरी लड जाकर उन दोनोसे मिल गई है। कानोमे नीलोत्पल पहनाये गये हैं। अर्ध चद्राकार ललाटपर गोरोचन और चदनसे तथा स्तनोपर कालागुरुसे वसतमालाने पत्र-लेखा रची है। मृणाल-ततुओमे लाल कमलके दलोको बुनकर बनाई गई कंचुकी पद्म-कोरकोसे उद्भिन्न वक्ष-देशपर बाध दी गई। कलाइयोपर मणि-कंकण और फूलोके गजरे पहनाये गये और भुजाओपर रत्न-जटित भुज-बध बाधे गये। गलेमे वैडूर्य-मणिका एक अति महीन चादनी-सा हार धारण कराया गया। देहपर श्वेत-नील लहरियेका हलका-सा रेशमी दुकूल पहना और पैरोमें मणियोके नूपुर झनझना उठे।

वैशाखकी पूर्णिमाका युवा चद्र, तमालके वनोसे ऊपर उठकर, संपूर्ण कलाओसे मुस्करा उठा। अपनी सारी पीली मोहिनी नवोढा अजनाको सौपकर अब वह उज्ज्वल हो चला है। दूर देव-मदिरोके धवल शिखरपर आकर वह कुछ ठिठक गया है। मानो आज वह सुहागिनी अजनाका दर्पण बन जाना चाहता है। जयमाला जब दर्पण लेकर सामने आई, तो अंजनाने सभ्रम-पूर्वक गर्दन घुमाकर चादकी ओर देखा और मुस्करा दिया। कपोल-पालीमें फैली हुई स्मित-रेखा, उन आंखोंके गहन कजरारे तटोमे जाने कितने रहस्योसे भरकर लीन हो गई।

शयन कक्षके झरोखो से दशाग धूपकी धूम्र-लहरे आकर बाहर चांदनीकी तरलतामे तैर रही है; अजनाके केशोंपर आकर मानों वे सपनोके जाल बुन रही हैं।

थोड़ी ही देर में शृंगार सपन्न हो गया। दूसरी ओरके केलि-सरोवरके पास दासियोने प्रवालके हिंडोलोंको पुष्प-मालाओसे छा दिया। चारों ओर घिरी सखियोके हास-परिहास, विलास-विभ्रम और चंचल कटाक्षोंके बीच अजना अपनी सारी शोभाको समेट अपनी ढुलकी पलकोकी कोरोंमें लीन हो रही है। अपनी ही सौरभसे मुग्ध पद्मिनी जैसे झुककर, अपने ही अतरकी आकुल ऊर्मियोमे अपना प्रतिबिंब देख रही हो!

इद्र-नील शिलाके फर्शमे जिस बालाकी परछाही पड़ रही है, उसे अजना पहचान नही पा रही है। किस आत्मीय-जनहीन सागरांत-की वासिनी है यह एकाकिनी जल-कन्या? और लो, वह छाया तो खोई जा रही है; अनत लहरोमे, नाना भगोमे टूटकर वह छबि दिगतोके पार हो गई है! अजनाका समस्त प्राण उस बालाके लिये अथाह करुणा-व्यथासे भर आया है। चांदनीके जलसे आकुल दिशाओके सभी छोरोपर वह उसे खोजती भटक रही है। पर जहांतक दृष्टि जाती है, चचल लहरोके सिवा कही और कुछ नही है। लहरे जो टूट-टूटकर अनंतमें बिखर जाती है। सारे ग्रह-नक्षत्र छबिकी इन तरग-मालाओमे चूर-चूर होकर बिखर रहे हैं। जन्म और मरणसे परे मुक्तिके भवरोपर आत्मोत्सर्ग-का उत्सव हो रहा है। देश और कालकी परिधि निश्चिह्न हो गई है। सुख-दुख, आनद-विषादकी सीमा तिरोहित हो गई है।

...और शून्यमे वह कौन आलोक-पुरुष दिखाई पड़ रहा है, जिसके चरणोमें जा-जाकर ये अंतहीन लहरे निर्वाण पा रही है! एका-एक अजनाने शून्यमे हाथ फैला दिये। अपने ही मणि-कंकणोकी रणकारसे वह चौंक उठी। वसतमालाने पीछेसे उसे थाम लिया। परिचयहीन, भटकी चितवनसे वह वसंतको देख उठी। फिर एक अपूर्व संवेदनकी

मर्म-पीड़ा उन आंखोंकी कजरारी कोरोमे भर आई। देखकर वसत नीरव हो गई। चित्त उसका रुद्ध हो गया और चाहकर भी बोल नहीं फूट पाया।

पूर्ण चेत आते ही अंजनाको रोमाच हो आया, कपोलोपर पसीना झलक उठा। प्रगाढ लज्जासे मानो वह अपने ही में मुदी जा रही है। कि अगले ही क्षण वह परवश होकर लुढ़क पडी—वसतमालाके वक्षपर।

"अजन, मुझसे ही लाज आ रही है आज तुझे?"

"जीजी... बहुत दिनोका भूला संबोधन आज फिर ओठोंपर आ गया—अनायास, क्षमा कर देना, जीजी। पर आज तुम बडी ही बडी लग रही हो! तुम्हें छोडकर आज कही शरण नही है—इसीसे कह रही हू। बीच धारामें मुझे असहाय छोडकर चली मत जाना। अपनी अजनाका पागलपन तो तुम सदासे जानती हो—फिर क्या आज भी क्षमा नही कर दोगी, जीजी? . . ."

अंजनाकी झुकी हुई पलकपर बिखर आई हलकी-सी केश-लटको उंगलीसे हटाते हुए वसतने कहा—

"इसीसे तो कह रही हू अंजन, कि अपनी चिर दिनकी उस जीजीसे भी यो लाज करेगी?"

"तुमसे नही जीजी, अपनी ही लाजसे मरी जा रही हू। अपनी ही हीनतापर मन करुणा और अनुतापसे भरा आ रहा है। देनेको क्या है मेरे पास, जीजी, तुम्ही बताओ न?"

"छि मेरी पगली अजन...."

कहते-कहते वसतका गला भी हर्षके पुलकसे भर आया। और भी दुलारसे अजनाके शिथिल हो पड़े शरीरको उसने वक्षसे चाप लिया।

"सच कह रही हू जीजी, मेरा मन मेरे वशमे नही है। और रूप? यह तो टूट-टूटकर बिखरा जा रहा है, धूल-मिट्टी हुआ जा रहा है! शृगार-सज्जाके छद्म-बधनमें बाधकर इसे, उन चरणोपर चढ़ानेको

कहती हो जीजी ? क्या क्षणोंके इस छलसे उन चरणोंको पाया जा सकेगा ? और यदि पा भी गई—तो कै दिन रख सकूंगी ?"

"कैसी बातें करती है, अंजन ? जिस अंजनाके दिव्य रूपको पानेके लिये, स्वर्गके देवता मर्त्यलोकमें जन्म पानेको तरस जायं, उसी अंजनाके हृदयका यह अमृत आज उसकी समर्पणकी अजुलियोंमें भर आया है ! देखूं, वह कौनसा पुरुषार्थ है, जो रूपके इस अकूल समुद्रको पार कर, नाशकी मझ-धारासे ऊपर उठकर, हृदयके इस अमृतको प्राप्त कर लेगा ! मान-सरोवरकी विरुद्ध-गामिनी लहरोंपर तैरनेवाले, कुमार पवनंजयके मानकी परीक्षा है आज रात. . .।"

अंजनाकी समस्त देह पिघलकर मानो, उत्सर्गके पथपर, एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है। वसतके वक्षपर सिमटकर वह गाठ हुई जा रही है। उसने बोलती हुई वसंतके ओठोपर हथेली दाब दी—

"ना . . .ना. . . .ना. . . .बस करो जीजी। मेरी क्षुद्रताको शरण दो जीजी। कहा है हृदय—जो उसकी बात कह रही हो। मन, प्राण, हृदय—सर्वस्व हार गई हूं ! अपनेको पकड़ पानेके सारे प्रयत्न विफल हो गये है। इसीसे पूछ रही हू कि क्या देकर उन चरणोको पा सकूगी ? मै तो सर्वहारा हो गई हूं, क्षण-क्षण मिटी जा रही हूं, मुझपर दया करो न, जीजी !"

और तभी उस ओरके केलि-सरोवरसे सखियोंके चंचल हास्यका रव सुनाई पड़ा। कि इतने ही में लीलाकी तरगों-सी सखियां इस ओर दौड़ आईं।

"उठो रानी, खेलनेके लिये बालिका अजनको जाने दो—हिंडोलेकी पैंगें उसकी राह देख रही हैं !" कहकर वसंतने अंजनाको दोनों हाथोंसे झकझोरकर एकदम हलका कर देना चाहा।

चारों ओर घिर आयी सखियोंने सिंधुवार और मल्लिकाके फूलोंसे

अंजनाका अभिषेक कर दिया। 'युवराज्ञी अजनाकी जय'—मृदुकंठोंका समवेत स्वर हवामे गूज गया। जयमालाने एक उत्फुल्ल कुमुदोकी माला अंजनाके गलेमें डाल दी। वसतके हाथके सहारे उठकर अंजना चली—धीर-गभीर और सभ्रमसे भरी। चारो ओर—सखिया और दासिया झुक-झुककर बलाये ले रही है। इस सारे रूप, शृगार, सज्जासे ऊपर उठकर सौंदर्यकी एक मुक्त विभा-सी वह चल रही है। बाद उस सौंदर्यका दर्पण न बन सका—वह उसका भामंडल बन जानेको उसके केश-पाशकी लहरोपर आ खडा हुआ है; पर वहा भी जैसे ठहर नही पा रहा है।

केलि-सरोवरके एक ओरके दलोके ऊपर होकर हिंडोला झूल रहा है। हिंडोलेके एक कोनेमे बाई पीठिकाके सहारे, एक मोतिया रगके रेशमी उपधानपर कुहनी टिकाये, गाल एक हथेलीपर धरकर अजना बैठी है। सहज सकोचवश कुछ मुडे-से दोनो जानु उसने अपने ही नीचे समेट लिये हैं। पास ही दाई पीठिकाके सहारे वसतमाला बैठी है। कुछ सखिया हिंडोलेके आस-पास खडी होकर हौले-हौले झूला दे रही है। बडी ही कोमल रागिणियोसे वे गीत गा रही है। उन रागोकी मूर्छा पवनपर चढ़कर दिशाओके तट छू आती है। बढते हुए उल्लासके साथ रागोका आलाप बढता ही जाता है।

केलि-सरोवरके उस ओर हार-यष्टि बाधकर खडी सखिया नाना भगोमें नृत्य कर उठी। मजीरोकी पहली ही रणकारसे अतरिक्षके तारोमे झकार भर गई। वीणा, मृदग और जल-तरंगकी स्वरावलियोपर समुद्रकी लहरोका सगीत उतरने लगा; अतरके कितने ही लोक एक साथ जाग उठे। वायुकी तरगो-सी वे तन्वगी बालाए, सगीतके तालोपर, शून्यमे चित्र बनाने लगी। अर्ध उन्मीलित नयनोंसे, देह-यष्टिको अनेक भगियोंमें तोड़कर, उन्होंने हाथ जोडकर अपने-आपको निवेदित किया। देहका सारा स्थूल रूप-लावण्य सौंदर्यकी कुछ ही सूक्ष्म रेखाओंमें सिमटकर

जाज्वल्य हो उठा। 'बादल-खेला', 'मयूरी-नृत्य', 'वसत-लीला', 'अनग-पूजा', 'प्रणयाभिसार', 'सागर-मंथन', आदि अनेक नृत्य क्रमश: वे बालाए रचती गईं।

अजना कभी नृत्यकी भाव-भगियो और सगीतकी मूर्छनामे विभोर हो आखे मूंद लेती; और कभी आकाशकी ओर दृष्टि उठाये अपने हाथके लीला-कमलको उंगलियोके बीच नचाती हुई ग्रह-नक्षत्रोंकी गतियोसे खेलने लगती। एकाएक उसकी नजर केलि-सरोवरके जलमे पडते तारोके प्रतिबिंबपर जा पडती। ईषत् झुककर हाथके लीला-कमलसे वह जलकी सतहको झकझोर देती। ग्रह-नक्षत्रोके बिंब उलट-पुलटहो जाते। वह खिलखिलाकर हंस पडती। पास खडी सखियां अचरजमे भरी देखती रह जाती। कभी अजनाकी वे लीलायित भौहें कुचित हो जाती तो कभी गभीर। तो कभी एक निर्दोष कौतुक से वह मुस्करा देती। मानो आज नियतिसे ही विनोद करनेको वह उतर पड़ी है।

सिंहपौरपर नौबत बज उठी। रातका दूसरा पहर आरंभ हो गया। सामने दृष्टि पडी—गुलाबी कचुकियोसे बंधे उद्भिन्न वक्ष-देशपर, हाथोकी अजुलियोमें सर्वस्व उत्सर्ग करती हुई, मुद्रित-नयन बालाएं समर्पणके भगोमें नत हो गईं। मजीरोकी रणकार नीरव हो गई। सगीतकी डूबती हुई सुरावलियां दिशाओके उपकूलोमे जाकर सो गईं। एक-एककर सब बालाए तिरोहित हो गईं।

× × ×

अटारीके दक्षिणवाले रेलिंगपर अजना और वसंत खड़ी है—छाया-मूर्तियो-सी मौन। विशाल राजप्रांगणमें चारो ओर सन्नाटा छा गया है। नीरवता सघन हो रही है। आकाशके असंख्य तारोंकी उत्सुक आंखें इस छतपर टकटकी लगाये हैं। चारों ओर निस्पंद, अपलक प्रतीक्षा बिछी है। उद्यानकी वन-राजियोंमेंसे, केलि-गृहोके द्वारोंमेंसे, नारिकेल-

वनके अंतरालोंसे, लता-मंडपोंके द्वारोंसे, सरोवर तटके कदली और माधवी-कुंजोंसे, देव-मंदिरोके शिखरोंपरसे, सौध-मालाओंकी चूड़ाओंसे— मानो कोई आनेवाला है ! अंधकारमेंसे कोई छायामूर्ति आती दिखाई पडती है—और फिर कही छाया-चांदनीकी आंख-मिचौनीमें खो जाती हैं। दक्षिण समीरके अलस झोंकेमे तरु-मालाएं मर्मरित होती रहती हैं। वह शून्यता और भी निबिड, और भी गभीर हो जाती है।

'पुंडरीक' सरोवरके गुल्मोमेंसे कभी कोई एकाकी मेंढक टर-टरा उठता है, कोई जल-जंतु विचित्र स्वर कर उठता है। सरोवरकी सतहपर से कोई एकाकी बिछुडा पछी उडता हुआ निकल जाता है; पानी छप्-छप् बोल उठता है। झिल्लीका रव इस शून्यताके हृदयका मगीन बन गया है। कभी-कभी दूरपर, प्रहरीके उत्कट शब्दकी ध्वनि, स्तब्धताको और भी भयावह बना देती है।

सुहाग-शय्याके सामनेवाले वातायनमे अंजना चुप बैठी है। पासके रेलिंगपर वसत खामोश ठुड्डीपर हाथ देकर बैठी है। नई डाली हुई धूपसे धूम्र लहरियां और भी वेगसे उड रही है। चारो ओर मणि-माणिकोकी झलमल आभामे नाना भोग-सामग्रिया दीपित हैं ! स्फटिककी चित्रमयी चौकियोपर रत्नोंकी झारियां शोभित हैं। कचनके थालोमें विविध फल और पुष्पहार सजे हैं। अनेक शृगारके उपादानोंसे भरी रत्न-मंजूषाएं खुली पडी हैं। वसतमालाने कमरेमें घूमकर दीपाधारोंके दीपोंकी जोतको और भी ऊचा उठा दिया। सुहाग-सेजके चारो ओरके धूप-दानोमें नवीन धूप डाल दिया। शून्य शय्यामें जा-जाकर धूम्र लहरें विसर्जित होने लगी। सुहागिनीके प्रतीक्षासे आकुल नयन आकाशमें लोटते ही चले गये....। और तरु-पल्लवोकी 'ढल-पल'में तारे खिल-खिलाकर हंस पडे।

चांद ठीक सौधके शिखरपर आ गया है। चूडाके रत्न-दीपमेंसे कातिकी नीली-हरी किरणें झर रही हैं। दूरपर कुमार पवनंजयके

'अजितंजय-प्रासाद'का शिखर दीख रहा है। उसपर अष्टमीके वक्र चद्र-सा अरुण रत्न-दीप उद्भासित है। जरा झुक कर धीरे-से वसतने कहा—"देख रही हो अजन, वह रतनारी चूडा—वही है 'अजितजय-प्रासाद'!"—वसतके इगितपर अनायास अजनाकी आंखें उस ओर उठ गईं। पर दर्पकी वह भ्रू-लेखा जैसे वह झेल न सकी। चाहकर भी फिर उस ओर देखनेका साहस वह न कर सकी।

कालका प्रवाह अनाहत चल रहा है। जीवन क्षण-पल घडियोमे कण-कण बिखरकर अवश बह रहा है। यह जो आस-पास सब स्तब्ध-स्थिर दीख रहा है, यह सब उस प्रवाहमे सूक्ष्म रूपसे अतीत और व्यय हो रहा है, सब चचल है—और क्षण-क्षण मिट रहा है, और नव नवीन रूपोंमे नव-नवीन इच्छाओ और उच्छ्वासोके साथ फिर उठ रहा है। सब-कुछ अपने आपमे परिणमन-शील है। आत्माके अतराल में चिरतन बिछोहकी व्यथा निरतर घनी हो रही है।

कि लो, सिंह-पौरपर तीसरे पहरकी नौबत बज उठी। फिर हवाके झोंकेमे तरु-मालाए मर्मरा उठी और तारे फिर खिलखिलाकर हस पडे। अतरिक्षमे रह-रहकर एक नीरव ध्वनि गूँज उठती है—'नही आये! नही आये!! नही आये!!!" रात ढल रही है। तारे बह रहे हैं, चाद बह रहा है, बादल बह रहे है, आकाश बह रहा है, पृथ्वी बह रही है, हवाएं बह रही हैं, अधकार और प्रकाश बह रहे है—। और इसी प्रवाहमे चेतना भी अवश बह रही है। पर भीतर सवेदनकी एक अखड जोत जल रही है—जो इस प्रवाहको चीरकर ऊपर आया चाहती है; परिणमनके इन सारे जुलूसोको जो अपने भीतर तदाकार और चिद्रूप कर लेना चाहती है। देहकी दीवारोंमे वह बदिनी टकरा रही है, पछाडे खा रही है। और ऊपर मणि-माणिक्यकी नाना-वर्णी प्रभामे मायाकी चित्र-लीला अविराम चल रही है। ससार-चक्र सतत गति-शील है—।

कि लो, रातके चौथे पहरकी नौबत बज उठी। प्रश्न-चिह्न-सी सजग, अपने आपमें चिन्मय लौ-सी बाला अजना वातायनमें बैठी है; इस सारे परिच्छदके बीच वह नितात निराधार, असहाय और अकेली है—निज रूपमें रमण-शील! रेलिंगपरसे उठकर उसके पास जानेकी वसंतकी हिम्मत नही है। . . देखते-देखते पश्चिमके वानीर-वनोमें चांद पाडुर होता दीख पडा। तारे क्षीण होकर डूबने लगे। शयन-कक्षके दीपाधारोमें सुगधित तैलोके प्रदीप मद हो गये। धूप-दानोपर कोई विरल धूम्र-लहरी शून्यमें उलझी रह गई है।

केवल मणि-दीपोंकी म्लान, शीतल विभामे वह विपुल भोग-साम-ग्रियोसे दीप्त सुहागकी उत्सव-रात्रि कुम्हला रही है। अस्पर्शित शय्याकी चपक-कचनार सज्जा मलिन हो गई। कुद-पुष्पोकी मसहरी जल-सीकरोमे भीगकर झर गई है। पूजाकी सामग्री ठुकराई हुई, हतप्रभ, शून्य उन थालोमे उन्मन् पडी है। सब कुछ अनगीकृत, अवमानित, विफल पडा रह गया है। पुजारिणी स्वय चिर प्रतीक्षाकी प्रतिमा बनी झरोखेमे बैठी रह गई है। एक गभीर पराजय, अवसन्नता, म्लानता चारो ओर फैली है।

और भीतर कक्षकी शय्यापर आत्माकी अग्नि-शिखा नग्न होकर लोट रही है!

. . . . सध्यामे सीढियोपर बिछाये गये प्रफुल्ल कुमुदिनियोके पावडे अछूते ही कुम्हला गये! पर वह नही आया—इस सुहाग-रात्रिका अतिथि नही आया!

और लो, राज-प्रागणकी प्राचीरोके पार ताम्र-चूड़ बोल उठा।

[८]

राजपरिकरमे बिजलीकी तरह खबर फैल गई: "देव—पवनंजयने नवपरिणीता युवराज्ञी अजनाका परित्याग कर दिया!"

और दिन चढ़ते न चढ़ते सपूर्ण आदित्यपुर नगर इस संवादको पाकर स्तब्ध हो गया। उत्सवकी धारा एकाएक भग हो गई। प्रातःकाल ही राज-मदिरसे लगाकर नगरके चारो तोरणोतक वाद्य, गीत-नृत्यकी जो मंगल-ध्वनिया उठने लगी थीं, वे अनायास एक गभीर उदासीमें डूब गईं। प्रजा द्वारा सात दिनके लिये आयोजित विवाहोत्सवके उपलक्ष्यमें नगरमें जहा-तहा तोरण, मडप, वेदिया रची गई थी; अनेक लता-फूल, वनस्पतियो के द्वार बने थे; ध्वजाओ और वदनवारोके सिंगारसे नगर छा गया था; उस सारी सजावटमे एक गहरा सन्नाटा गूज रहा है। मानों नियतिका व्यग्य-अट्टहास अतहीन हो गया है। केवल बडे-बडे काँसेके धूप-दानोमे जहा-तहा सुगधित धूपका धूम्र मौन-मौन लहराता-सा उठ रहा है। मदिरोके पूजा-पाठ और घटा-रव एकाएक मूक हो गये। देवताओकी वीतराग पाषाण प्रतिमाए, और भी अधिक वीतरागताके रहस्यसे भरकर मुस्करा उठी! नागरिकोमे चारो ओर अपार आश्चर्य, निरानद और कौतूहल छा गया है।

राज-प्रागणमे गभीर आतकका सन्नाटा फैला है। राज-मदिरोपर घने विषादका आवरण पड गया है। प्रासाद-मालाओके छज्जोपर केवल कबूतरोकी गुटुर-गुटुर सुनाई पडती है, जो उस उदासीको और भी सघन और मार्मिक बना देती है। सिंहपौरपर केवल समय-सूचक नौबत कालके अनिवार चक्रकी निर्मम सूचना देती है।

मनुष्यकी वाणी ही आज मानो अपराधिनी बन गई है। कभी कोई एकाकिनी प्रतिहारी, विशाल राज-प्रागणको पारकर एक सौधसे दूसरे सौधको जाती दिखाई पड़ती है। जीवन, कर्म, व्यापार, चेष्टा सब जड़ीभूत हो गया है। चारो ओर फैला है आतंक, अपराध, क्षोभ, रोष—समस्त राज-कुलके प्राण विकल पश्चात्तापसे हाय-हाय कर उठे है। नागरिकाओं और कुल-कन्याओके वक्षमें एक शब्दहीन रुलाई गूज रही है। प्राण-प्राणके तटोमें जाकर अकल्पित दुःखकी यह कथा अशेष हो गई है!

यह सब इसलिये कि यह कोई उड़ती हुई खबर नहीं थी। यह कुमार पवनजय द्वारा स्वय घोषित की गई घोषणा थी। कुमारकी जिस गुप्त प्रतिहारीने, उनकी निश्चित आज्ञाओंके अनुसार इस घोषणाको नगरमें फैलाया, उसके पास एक लिखित पत्रिका थी जिसपर कुमारके हस्ताक्षर थे। हवाके वेगसे प्रतिहारी घूम गई। लोग अवाक् रह गये—और देखते-देखते प्रतिहारी गायब हो गई। प्रजामें जन-श्रुतिकी तरह यह बात प्रसिद्ध है कि 'देव पवनजयकी हठ टलती नही है, उनका वचन पत्थरकी लकीर होता है।' फिर वह तो लिपि-बद्ध घोषणा थी—जो कुमारने स्वय आग्रह-पूर्वक प्रकाशित की थी।

महादेवी केतुमतीके आसुओंका तार नहीं टूट रहा है। आस-पास आत्मीय, कुटुंबी, परिजन, दासियां, बारबार सबोधनके हाथ उठाकर रह जाते है। बोल किसीका फूट नही पाता है। क्या कहकर समझाये। सब निर्वाक् हैं और हृदय सभीके रुद्ध है।

महाराज प्रह्लाद राज-मन्त्रियोंके साथ सवेरेसे मत्रणा-गृहमें बद है। प्रमुख द्वार भीतरसे रुद्ध है, घटो हो गये नही खुला। महाराजने सवेरे ही स्वय महामत्री सौमित्रदेवको भेजा था कि जाकर वे पवनजयको लिवा लायें। पर महामत्री निराश लौटे, कुमार अपने महलमें नही थे। महाराज स्वय पालकीपर चढ़कर गये। 'अजितजय-प्रासाद'का एक-एक कक्ष महाराज घूम गये पर कुमारका कहीं पता नहीं था। अश्व-शालामें पवनजयका प्रियतम तुरग 'वैजयंत' अपनी जगहपर नही था। महलके द्वारके दोनों ओर प्रतिहारियां क़तार बाधे नत खड़ी थी। महाराजके पूछनेपर सिर उठाये और भयसे थरथराती हुई वे मूक रह गईं। वे रो पड़ी और बोल न सकी। महाराज उदास होकर लौट आये। चारो दिशाओंमें सैनिक दौड़ाये गये, पर दिन डूबनेतक भी कोई सवाद नही आया।

और विषादके बादलोंसे ढककर जब आस-पासका सारा राज-

वैभव मानो भू-लुंठित हो गया है, तब यह 'रत्नकूट-प्रासाद' इस सबके बीच खड़ा है—वैसा ही अचल, उन्नत, दीप्त रत्नोंसे जगमगाता हुआ ! इसका तेज ज़रा भी मंद नहीं हुआ है । दिनकी चिलचिलाती धूपमें वह और भी प्रखर, और भी प्रज्ज्वलित होता गया है । कोई कातिमान तरुण योगी मानों समाधिस्थ है; ओठोंकी वीतराग मुस्कराहटमें एक गहन रहस्यमयी करुणा है ।

परिजनोंकी आसूभरी आंखें धूपमें दहकते उस शिखरकी ओर उठती है, पर ठहर नहीं पाती; ढुलक जाती है, और आसू सूख जाते हैं । इस प्रज्ज्वलित अग्नि-मंदिरके पास जानेका साहस किसीको नहीं हो रहा है । सारे मनोंकी करुणा, व्याकुलता, सहानुभूति अनेक धाराओंमें उसके आस-पास चक्कर खाती हुई लुप्त हो जाती है ।

दासियां और प्रतिहारियां महलकी सीढियों और खंडोंमें पहेलियां बुझाती हुई बैठी है—पर ऊपर जानेकी हिम्मत नहीं है ।

छतवाले उसी शयन-कक्षमें बीचके बिल्लौरी सिंहासनकी दाईं पीठिकाके सहारे अंजना अध-लेटी है । पास ही बैठी है उदास वसंत; रो-रोकर चेहरा उसका म्लान हो गया है और आखें लाल हो गई है । पीछे खड़ी रत्न-माला मयूर-पखका विपुल विजन धीरे धीरे झल रही है ।

अंजनाकी देहपरसे राग-सिंगार, आभरण मानो आप ही झरे पड रहे है । उन्हे उतारनेकी चेष्टा नहीं की गई है, वे तो निष्प्रभ होकर जैसे आप ही खिर रहे है । और जब वे पहनाये गये थे तब भी कब सचेष्टताके साथ सम्हाले गये थे । सुषमाके उस सरोवरमें वे तो आप ही तैरने लगे थे और धन्य हो गये थे । दिन भर आज खुली छतमें शय्याके पास बैठ, अंजनाने सूर्य-स्नान किया है । उसमें सारे रत्नाभरण और कुसुमाभरण उस देहसे उठती ज्वालाओंमें गलित-विगलित होते गये हैं ।

अब सांझ होते-होते वसंतका वश चला है कि वह उसे उठाकर कक्षमें ले आई है । बिल्लौरी सिंहासनपर सरोवरके जल-बिंदुओंसे आर्द्र, सद्य

तोड़े हुए कमलके पत्तोंकी शय्या बिछाकर उसपर अंजनाको उसने लिटाना चाहा, पर वह बैठी है। पास ही मीनाकी चौकीपर पन्नेके चषकोमें कर्पूर, मुक्ता और चदनके रस भरे रक्खे हैं; पर उन अंगोने लेप नही स्वीकारा। सुगधित जलो और रसोकी झारिया मुह ताकती रह गईं।

रत्नमालाने कल घुमा दी; पन्नेके कल्प-वृक्षमेंसे निकलकर शीतल सुगधित नीहार-लोक कमरेमे छा गया। अंजनाके तप्तोज्ज्वल मुखपर अपार शाति है। गलित स्वर्ण-सी पसीनेकी धारे कही-कही उस अरुणाभामें सूख रही हैं। सघन वरौनियोके भीतर घन पल्लव-प्रच्छाय किसी अतलात वन्य वापिकाके जल-सी वे आखें कभी उठकर लहरा जाती है और फिर ढुलक जाती हैं।

अजनाके माथेपर हलकेसे हाथ फेरती हुई वसत बोली—

"अजन, तेरे हृदयके अमृततक नही पहुच सका वह अभागा पुरुष! इसीसे तो झुझलाहटकी एक ठोकर शून्यमें मारकर वह चला गया है। ....पर नारीकी देह लेकर—"

कहते-कहते फिर वसतका गला भर आया। विह्वल होकर उसने अजनाको अपनी गोदमे खीच लिया और उसका मुख वक्षमे भर मृदी आखोके वे बडे-बडे पलक चूम लिये। उस ऊष्मामे अजनाकी वे सुगोल सरल आखें भरपूर खुलकर वसतकी आखोमें देख उठी और फिर ढुलक गईं। मुहूर्त मात्रमे वह वसतको अपने अतर्लोकमे खीच ले गयी।

"भूल हो गई है जीजी, मुझीसे भूल हो गई है। मैंने अपनी आखोंसे देखा था कल रात—उस इद्रनील शिलाके फ़र्शमे! छायाकी उस कन्याको मै अपने मुख-सुहागके गर्वमें पहचान न सकी। पर मै ही अभागिन तो थी वह! टूटती ही गई—टूटती ही गई। अनंत लहरोमे चूर-चूर होकर मै बिखर गई। और मैंने देखा, वे आलोकके चरण आ रहे हैं! पर मै पहुच न सकी जीजी उनतक। देखो न वे तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं तो चूर-चूर हुई जा रही हू। देखो न जीजी मैं अभागिन।"

कहते-कहते अपने दोनों हाथ अंजनाने शून्यमें उठा दिये। और वसतने देखा, उसकी दोनों आंखोंसे आसू अविराम झर रहे हैं। लगा कि वह ध्वनि मानो किसी सुदूरकी गंभीर उपत्यकासे आ रही थी।

"अंजन—मेरी प्यारी अंजन ! यह कैसा उन्माद हो गया है तुझे ? मेरी अजन. . . ."

कहते-कहते वसतने अंजनाके दोनो उठे हुए हाथों को बडी मुश्किलसे समेटकर, फिर उसके चेहरेको अपने वक्षमे दाब लिया।

"पर जीजी, भूल मुझीसे हुई है। बार-बार तुमसे मनकी बात कहनी चाही है—पर न कह सकी हू। मोहकी मूर्छामे अपनी तुच्छताको भूल बैठी, इसीसे यह अपराध हो गया है, जीजी ! देखो न, वे चरण तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं ही नष्ट हुई जा रही हूं—टूटी जा रही हू। उन चरणोंके आनेतक यदि चुक ही जाऊ तो मेरा अपराध उनसे निवेदनकर, मेरी ओरसे क्षमा माग लेना, जीजी !"

वसतसे बोला नही गया। उसने अजनाका बोलता हुआ मुह और भी भीच कर छाती मे दाब लिया फिर धीमे से कहा—

"चुप. . चुप. . चुपकर अजनी"

कुछ क्षण एक गहरी शान्ति कमरेमें व्याप गई। तब अजनाको अपनी गोदपर धीमेसे लिटाकर, वसत हलके हाथसे उसके ललाटपर चदन-कर्पूर और मुक्ता-रसका लेप करने लगी।

[९]

यह है कुमार पवनंजयका 'अजितजय-प्रासाद'। राजपुत्रने अपने चिर दिनके सपनोको इसमें रूप दिया है। अबोध बालपनसे ही कुमारमें एक जिगीषा जाग उठी थी—वह विजेता होगा। वय-विकासके साथ यह उत्कंठा एक महत्वाकाक्षाका रूप लेती गई। ज्ञान-दर्शनने सृष्टिकी

विराटताका वातायन खोल दिया। युवा कुमारकी विजयाकांक्षा सीमासे पार हो चली : वह मन ही मन सोचता—वह निखिलेश्वर होगा—वह तीर्थंकर होगा !

इस महलमे कुमारने अपने उन्ही सपनोंको सागोपाग किया है। महाराजने पुत्रकी इच्छाओको साकार करनेमे कुछ भी नही उठा रक्खा। विपुल द्रव्य खर्च कर, द्वीपातरोके श्रेष्ठ कलाकारो और शिल्पियो द्वारा इस महलका निर्माण हुआ है।

दूरपर विजयार्द्धकी उत्तुग शृग-मालाए आकाशकी नीलिमामे अतर्धान हो रही है। और उनके पृष्ठपर खडा है यह गर्वोन्नत 'अजितजय-प्रासाद',—अपनी स्वर्ण-चूडाओसे विजयार्धकी चोटियोका मान मर्दन करता हुआ।

पार्वत्य-प्रदेशके ठीक सीमातपर, जहासे समतल भूमि आरभ होती है, एक विस्तृत टीलेपर यह महल बना है। राज-मदिरसे यहातक आनेके लिये विशेष रूपसे एक सडक बनी है; दूसरा कोई रास्ता यहा नही पहुच सकता। महलके सामने ऊचे तनेवाली सघन वृक्ष-राजियोसे भरा एक रम्य उद्यान है। और उसके ठीक पीछे, पादमूलमे ही आ लगा है वह पहाडियोसे भरा बीहड जगल। किसी प्राचीर या मुडेरसे उसे अलग नही किया गया है। महलके पूर्वीय वातायन ठीक उसीपर खुलते हैं। कृत्रिमका यह सीमान्त है, और प्रकृतिका आरभ। ठीक महलकी परिखापर वे भयावनी—वन्य-झाडिया झुक आई हैं। महलको चारो ओरसे घेरकर यह जो कृत्रिम परिखा बनी है, वह देखनेमे बिल्कुल प्राकृतिक-सी लगती है। बडे-बडे भीमाकार शिलाखड और चट्टाने उसके किनारे अस्त-व्यस्त बिखरे है, जिनमे पलाश और करौंदोकी घनी झाडिया उगी है। विशद परिखाके अदर हरा-नीला पुरातन जल बारहों महीने भरा रहता है; बडे-बड़े कछुए, अजगर, मच्छ और केंकडे उसमें तैरते दिखाई पडते हैं।

इस परिखाके बीच कज्जल और भूरे—पाषाणोके आठ विशाल

दिग्गजोंकी कुर्सी बनी है, जिसपर 'विजेता'का यह प्रासाद झूल रहा है। नौ खडोके इस महलमें चारो ओर अगणित द्वार-खिडकियां सदा खुली रहती है; जिनमेंसे आर-पार झाकता हुआ आकाश मानों खंड-खंड होता दिखाई पड़ता है। अनेक पार्वत्य नदियोके प्रवाहोमे पडे हुए, निर तर लहरोके-जल-सघातसे चित्रित हरे, नीले, जामुनी और भूरे—पाषाणोंसे इस महलका निर्माण हुआ है। पहले ही खडमे चारों ओर महलको घेरकर जो मेखला-सी गवाक्ष-माला बनी है, उसके सबलोमे सप्त-धातुकी मोटी-मोटी शृंख-लाए लटक रही है, जो कुर्सीके दिग्गजोके कुम्भस्थलोंको बाधे हुए है। महलके सर्वोच्च खडपर पच मेरुओके प्रतीक स्वरूप सोनेके पाच भव्य शिखर है, जिनपर केशरिया ध्वजाए उड रही है। सामनेकी ओर परिखाको पाटता हुआ जो महलका प्रवेश-द्वार है, उसके दोनो ओर सजीव से लगनेवाले सोनेके विशाल सिंह बने है।

पीछेके वन्य-प्रदेशमे दूरपर कुछ पहाडियोसे घिरी एक प्राकृतिक झील पड़ी है। गुहाओमे झरती हुई पानीकी झिरिया बनोमे होकर झीलमे आती रहती है, जिससे झीलका पानी कभी सूखता नही है। झीलके दोनो ओरके तट-भागोमे सघन अटविया फैली है। महलके पूर्वीय वाता-यनपर खडे होकर देखा जा सकता है कि कभी चादनी रातमे या फिर किसी शिशिरकी दोपहरीमे सिंह झीलके किनारे पानी पीने आते है। वह प्रदेश प्राय: निर्जन-सा है, क्योकि वहीसे विजयार्धकी वे दुर्गम खाइया और विकट अरण्य-वीथिया शुरू हो गई है—जो आस-पासके जन-समाजमे प्राय: अगम्य मानी जाती है और जिनके सबधमे लोकमे तरह-तरहकी रहस्य भरी कथाए प्रचलित है।

भय और मृत्युकी घाटियोपर आरूढ़ यह 'जेता'का स्वप्न-दुर्ग है। देव पवनजय यहा अकेले रहते है—सिर्फ कुछ प्रतिहारियोके साथ। पुरुष यहां वही अकेला है—दूसरा कोई नही। दिशाए उसकी सहचरिया है और सपने उसके साथी।

पौ अभी नही फटी है। प्रतिहारिया दालानमे ऊघ रही है। द्वारके सिंहसे सटकर जो पुरुष सीढियोपर बै ा है, वह अखंड रात जागता बैठा रहा है। अभी-अभी सवेरेकी ताजी हवामे उसकी आंख झपक गई है।

अचानक घोडेकी टाप सुनकर वह पुरुष चौंका। उसने गर्दन ऊपर उठाकर देखा। घोडेसे उतरकर पवनजय क्षण भर सहम रहे। फिर एक झटकेके साथ वे आगे बढ गये और दुर्निवार वेगसे महलकी सीढिया चढ गये। उसी वेगमें बिना मुडे ही कहा—

"ओह, प्रहस्त ! अ आओ "

प्रतिहारिया हडबडाकर उठी और अपने-अपने स्थानपर प्रणिपातमें नत हो गईं। 'देव पवनजयकी जय'का एक कोमल नाद गूज उठा। उस भव्य दीवानखानेमे अनेक स्तभो और तोरणोको पार करते हुए तीरके वेगसे पवनजय सीधे उस सिंहासनपर जा पहुचे, जो उस सिरेपर बीचो-बीच आसीन था। अमूल्य नागमणियोसे इस सिंहासनका निर्माण हुआ है। महानीलमणिके बने नागोंके विपुलाकार फणा-मडलने इसपर छत्र ताना है, जिसमें गज-मुक्ताओकी झालरे लटक रही हैं। सहस्र-नागके फनो और वराहोकी पीठपर यह उठा हुआ है। पैरके पायदानके नीचे चित-कबरे पाषाणोके दो विशाल सिंह जबान निकालकर बैठे हैं; और किसी तीव्र आग्नेय मणिसे बनी उनकी आखे आतक उत्पन्न करती रहती हैं। सिंहासनकी मूल वेदिकाके दोनो ओर जो कठघरे बने हैं उनमें क्रमसे सूर्य और चद्रकी अनुकृतिया बनी हैं।

पीछेकी दीवालमें रत्नोका एक उच्च वातायन है, जिसमें आदि चक्रवर्ती भरतकी एक विशाल सूर्य-कान्त मणिकी प्रतिमा विराजमान है। उसके पाद-प्रान्तमे चक्र-रत्न नाना रगी प्रभाओंमे जगमगाता घूम रहा है।

उधर उदयाचलपर 'अजितजय-प्रासाद'के भामडल-सा सूर्य उदय हो रहा है।

छत्रके फणा-मडलपर कुहनी रखकर पवनजय खडे रह गये। सुदृढ़ प्रलबमान देह-यष्टिपर कवच और शस्त्रास्त्र चमक रहे हैं। कुंचित अलका-वलि अस्तव्यस्त बिखरी है और उसपर एक कुम्हलाये श्वेत वन्य-फूलोंकी माला पडी है। ललाटपर बालोकी एक लट दोनों भौहोंके बीच कुंडी मारी हुई नागिन-सी भूल रही है; लाख हटानेसे भी वह हटती नही है।

प्रहस्त चुप-चाप पीछे चले आये थे। उन्हें एक हाथके इगितसे ऊपर बुलाते हुए लापरवाह मुस्कराहटसे पवनजय बोले—

"आओ प्रहस्त, कुशल तो है न....?"

प्रहस्त ऊपर चढकर अपने सदाके आसनपर बैठ गये, धीरेसे बोले— "साधुवाद पवन! कुशल तो अब तुम्हारी कृपाके अधीन है। मेरी ही नही, समस्त आदित्यपुरके राजा और प्रजाकी कुशल तुम्हारे भ्रू-निक्षेप की भिखारिणी बन गई है!"

प्रहस्तने देखा पवनंजयके चेहरेपर गहरे सघर्षकी छाया है। वह शून्यसे जूझ रहा है। अपनी ही छायाके पीछे वह भाग रहा है। उसके पैर धरतीपर नही हैं—वह अधरमें हाथ-पैर मार रहा है। वह चट्टानोसे सिर मारकर आया है। उसका अग-अग चचल और अधीर है। अपने भीतरकी सारी कशमकशको भौहोमे सिकोडकर पवनंजयने उत्तर दिया—

"अधीन! अधीन कुछ नही है, प्रहस्त। कोई किसीके अधीन नहीं है। अपने सुख-दुख, जन्म-मरणके स्वामी हम आप है। मोहसे हमारा ज्ञान-दर्शन आच्छन्न हो गया है; इसीसे हम निज स्वरूपको भूल बैठे हैं। अपना स्वामित्व खो बैठे हैं, इसीसे यह अधीनता और दयनीयताका भाव है। किसीकी गति-विधि दूसरेपर निर्भर नहीं। वस्तु-मात्र अपने ही स्वभावमें परिणमन-शील है; और मेरी तो क्या बिसात स्वयं तीर्थंकर और सिद्ध भी उसे नही बदल सकते...."

"ठीक कह रहे हो पवन! वह तो हमारे ही अज्ञानका दोष है। पिछले कुछ दिनोंमें तुम जिस गुणस्थानतक पहुच गये हो वहांतक हमारी

गति नही। सारे सबधोसे परे तुम तो निश्चय-ज्ञानी हो गये हो। और हम तो साधारण ससारी मानव है; राग-कषाय, मोह-ममता, दया-करुणासे—अभिभूत हैं। तुम सम्यक्-द्रष्टा हो गये हो—और मैं मिथ्यात्वोमे प्रेरित लोकाचारकी व्यावहारिक वाणी बोल रहा हू। वह तुम्हारे निकट कैसे सच हो सकती है, पवन! मेरी धृष्टताके लिये मुझे क्षमा कर देना।"

इस्पातके कवचमे बधा पवनजयका वक्ष अभी भी रह-रहकर फूला आ रहा था। मानो भीतर कुछ घुमड रहा है जो सीना तोडकर बाहर आया चाहता है। आखे उसकी लाल हुई जा रही हैं—मस्तकमे आकर खून पछाडे खा रहा है। प्रहस्तका साहस नही है कि इस पवनजयसे बैठनेको कहे—

"अपनी पहोचके बारेमे मैं किसीका मत सुननेको जरा भी उत्सुक नही हू। क्योकि सिद्धि सारे मतामतसे परे है। मै तो पदार्थकी स्वतत्र सत्ताकी बात कह रहा था। पदार्थका स्वभाव मेरी पहोंचकी अपेक्षा नही रखता। वस्तुपर मै अपनेको लादना नही चाहता। ममकारसे परे हटाकर ही सत्ताके निसर्ग रूपका दर्शन हो सकता है। कहना चाहता हू, किसीके भी प्रति दायित्ववान होना निरा दभ है, और मै उससे छुट्टी चाहता हू! स्वय नही बधना चाहता हू, इसीसे किसीको बाधकर भी नही रखना चाहता। विजयार्धकी चोटियोको अपनेमे डुबाकर भी यह आकाश वैसा ही निर्लेप है, और वे चोटिया अपनेको खोकर भी वैसी ही उन्नत है—वैसी ही अम्लान! यही मेरा निस्सग मुक्ति-मार्ग है। कोई इसे क्या समझता है—यह जाननेकी चिंता मुझे जरा भी नही है, यह तुम निश्चय जानो, प्रहस्त!"

"....और उस निःस्सग मुक्ति-मार्गपर कितनी दूर अपनी जय-ध्वजा गाड़कर अभी लौटे हो, पवन? शायद 'रत्नकूट-प्रासाद'तक पहुंचनेके लिये तुम्हें कई दुर्लंघ्य पर्वत और समुद्रोंको पार करना पड़ा है!

तुम्हारी यह परेशान सूरत और ये बिखरी अलकें इस बातकी साक्षी दे रही हैं। योद्धाका अभेद्य कवच अपनी जगहपर है, पर माथेपर शिरस्त्राण नही हैं और खड्ग-यष्टिमे खड्ग नही है। अजनापर विजय पा लेनेके बाद शायद योद्धा इनकी जरूरतसे उपरत हो गया है!"

एक जोरके लापर्वाह झटकेसे सिरके बालोको झकझोरकर पवनजय सिंहासनकी पीठके सहारे जा खडे हुए और दोनो बाहोको छत्रके फणा-मडलपर पूरा पसार दिया। भौहोके कुचनमे अपनेको सम्हालते हुए दीवान-खानेके द्वारकी ओर उगली उठाकर बोले—

"उस ओर देखो प्रहस्त! विजयार्द्धके शृगोपर नवीन सूर्यका उदय हो रहा है। हर नवीन सूर्योदयके साथ मै नवीन जय-यात्राका सकल्प करता हू। जो मजिल विगत हो चुकी है—उसका अब क्या जिक्र और कैसी चिंता? दिनो बीत गये उस कथाको। बिदा होनेसे पहले मान-सरोवरके तटपर एक शिला-चिह्न गाड आया था। उस अतीत क्षणकी याद उसे कुछ हो तो हो, चाहो तो जाकर उससे पूछो। पर समयके प्रवाह-मे अब तो वह भी उखड गया होगा। सत् पल-पल उठ रहा है—मिट रहा है—और अपने निज रूपमे ध्रुव होते हुए भी वह प्रवहमान है। सत्ता स्वतत्र है और निरतर गति-शील है। विगत, आगत और अनागतसे परे वह चल रही है। प्रगति-मार्गका राही पीछे मुडकर नही देखता। परंपरा राग-ममकारके कारण है—और उससे मै छुट्टी ले चुका हू। जो पल ठीक अभी बीत चुका है, उसका ही मै नही हू तो कलका क्या जिक्र—?"

"मेरी धृष्टताको क्षमा करना पवनजय, एक बातसे सावधान किया चाहता हू। आत्म-स्वातत्र्यके इस आदर्शकी ओटमे कही दुर्बलका हीन अहकार न पल रहा हो? आत्म-रमणके सुदर नामके आवरणमें व्यक्तिकी उच्छृखल इच्छाओका नग्न प्रत्यावर्तन न चल रहा हो? आत्मा और अहंका अतर जानना ही सबसे बडा भेद-विज्ञान है। स्व-परके भेद-

विज्ञानमें दंभ और स्वार्थको काफ़ी अवसर हो सकता है। आत्मा मात्र स्व है और अनात्मा मात्र पर है। अनात्म शरीरके उपचारसे अन्यकी आत्माको 'पर' कहकर दायित्वसे मुँह मोड़ना—स्वार्थीका पलायन है! वह भीरुता है—वह निर्वीर्यता और असामर्थ्य का चिह्न है। सबसे बड़ा ममकार अपने 'मैं'को लेकर ही है! सबको त्यागकर जो अपने मैंको प्रस्थापित करनेमें लगा है, वह वीतरागी नहीं, वह सबसे बड़ा भोगी और रागी है। वह ममताका सबसे बड़ा अपराधी है। अपने 'मैं'को जीत लो, और सारी दुनिया विजित होकर तुम्हारे चरणोंमें आ पड़ेगी। मुक्ति विमुखता नहीं है, पवन, वह उन्मुखता है। अपने आपमें बंद होकर शून्यमें भटक जानेका नाम मुक्ति नहीं है, समग्र चराचरको अपने भीतर उपलब्ध कर लेना है—या कि उसके साथ तदाकार हो जाना है। इस 'मैं'को मिटा देना है, बहा देना है, अणु-अणुमें रमाकर एक-तान कर देना है—?"

बीच हीमें अधीर होकर पवनंजय बोल उठे—

"मुक्तिका मार्ग किसी निश्चित सड़कसे नहीं गया है, प्रहस्त। मेरा मार्ग तुमसे भिन्न हो सकता है। आत्म-साधनाका मार्ग हर व्यक्तिका अपना होता है; मित्रकी सलाह उसमें कुछ बहुत काम नहीं आती। अपना दर्शन अपने तक ही रहने दो तो अच्छा है। दूसरोंपर वह लादना भी एक प्रकारका दुराग्रह ही होगा।"

"तो अपनी एक जिज्ञासाका उत्तर मैं योगीश्वर पवनञ्जयसे पाना चाहता हूँ—फिर यहाँसे चला जाऊँगा। राग-ममकारसे परे सत्ताकी स्वतंत्रताकी प्रतीति जिस पवनंजयने पा ली है—उसके निकट किसी भी पर वस्तुके ग्रहण और त्यागका प्रश्न ही क्यों उठ सकता है? जिस अंजना-का ग्रहण उनके निकट अप्रस्तुत है, उसके त्यागकी घोषणा करनेका मोह उन्हें क्यों हुआ? और जिस मंज़िलकी समाप्ति वे मानसरोवरके तटपर ही चिह्नित कर आये थे—इतने दिनों बाद परसों फिर आदित्यपुर नगरमें उसे घोषित करनेका आग्रह क्यों?'

पवनंजयके ललाटकी नसें तनी जा रही थी। अनजाने ही वे मुट्ठियां बंध गईं, भौहें तन गईं। कडककर एकाएक वे बोले—

'पवनंजयकी हर भूल उसका सिद्धांत नहीं हो सकती। और व्यक्ति पवनंजयकी हर गलतीके लिये कैफियत देनेको विजेता पवनंजय बाध्य नहीं है। सिद्धांत व्यक्तिसे बड़ी चीज है! मैं व्यक्तियोंकी चर्चामें नहीं उलझना चाहता। व्यक्ति-जीवन अवचेतनके अंधेरे स्तरोंमें चलता है। और देखो प्रहस्त, एक बात तुम और भी जान लो; जिस अपने सखा पवनंजयको तुम चिर-दिनसे जानते थे, उसकी मौत मानसरोवर तटपर तुम अपनी आंखों आगे देख चुके हो। उसे अब भूल जाओ यही इष्ट है। और भविष्यमें उस पवनंजयकी खोजमें तुम आये तो तुम्हें निराश होना पड़ेगा—"

कहकर दोनों हाथसे अभिवादन किया और बिना प्रत्युत्तरकी राह देखे पवनंजय सिंहासनसे नीचे कूद गये। उसी वेगमें सनसनाते हुए दीवानखाना पार किया और आयुधशालाका द्वार खोल नीचे उतर गये!

प्रहस्तकी आंखोंमें जल भर आया। वह चुप-चाप वहांसे उठकर धीरे-धीरे चला आया।

[१०]

महादेवी केतुमतीका कक्ष।

पहर रात बीत चुकी है। महारानी पलंगपर लेटी हैं। सिरहाने एक चौकीपर महाराज चिंतामग्न, सिर झुकाये बैठे हैं। कुहनी शय्यापर टिकी है और हथेलीपर माथा ढुलका है। कभी-कभी रानीकी अथाह व्यथाभरी आंखोंमें वे अपनेको खो देते हैं। रानी की आंखें प्रश्न बनकर उठती हैं—उत्तरमें राजा खामोश आंसूसे ढल पड़ते हैं। इस बेबूझतामें

वचन निरर्थक हो गया है, बुद्धि गुम है। चारो ओर विपुल वैभवकी जगमगाहट परित्यक्त, म्लान और अवमानित होकर पडी है। रत्न-दीपोंका मद आलोक ही उस विशाल कक्षमें फैला है।

एकाएक द्वार खुला। देखा, पवनजय चले आ रहे हैं—अप्रत्याशित और अनायास। महाराजने चौककर सिर उठाया। महादेवी माथेपर आचल खीचती हुई उठ बैठी। पवनजय बिल्कुल पास चले आये। चुपचाप विनयावनत हो पिताके चरणोमें नमन किया। फिर माके पैर छुए और पलगके किनारे बैठ गये। कुमारको वे गर्विणी आखे उठ नही सकी—एक बार भी नही। मूर्तिवत जड वे बैठे रह गये है। हाथकी अगुलिया मुट्ठीमें बध आना चाहती है, पर बध नही पा रही है; वे चचल है और काप रही है। माता और पिता एकटक पुत्रका वह चेहरा देख रहे है, जो उस नम्रतामें भी दृप्त है। भय और विषादकी गहरी छायासे वह मुख अभिभूत है। मोतियोकी हलकी-सी लड उन कुटिल अलकोको बाधनेका विफल प्रयत्न कर रही है। एक गहरा जामुनी उत्तरीय कधेपर पडा है। देह निराभरण है, केवल एक महानील मणिका वलय बाही भुजापर पडा हुआ है।

पिताने बालपनसे ही कुमारको बहुत माना है। अपार मान-सभ्रमके क्रोडमें उन्होने पवनजयको परवरिश किया है। पवनकी इच्छाके ऊपर होकर महाराजकी कोई इच्छा नही रही है। पवनकी हर उमग वे दोनो हाथोसे झेलते थे। और उसकी हर अनहोनी मागको पूरा करनेके लिये सारा राज-परिकर हिल उठता था। राजाको पवनमें देवताकी असाधारणताका आभास होता था; और इसीलिए कुमारका कोई भी कृत्य उनके निकट शिरोधार्य था। उसमें मीन-मेख नही हो सकती थी। पर अजना-सी वधूका त्याग—? महाराजकी बुद्धि सोचनेसे इनकार कर रही थी। उन्हे विश्वास नही हो सकता था कि पवन यह कर सकता है। और यह पवन भी सामने प्रस्तुत है! चाहे तो पूछ सकते है। नही, पर

वह उनका बुलाया नही आया है। पहर रात बीतनेपर अंतःपुरके महलमें, वह मांसे मिलनेको ही शायद चुप-चाप आ गया है।

राजाके मनमे कोई प्रश्न नही उठ रहा है, वे कोई कैफियत नहीं चाहते। उसकी कल्पना भी उन्हे नही हो सकती है। बस, वे तो इस चेहरेको देखकर व्यथासे भर आये है। इस लाडिले मुखडेको, जिसके पीछे न जाने कौन विषम सघर्ष चल रहा है, अपने अतरमे ढाक लेना चाहते है, दुनियाकी नजरोसे हटा लेना चाहते है। पर वे अपनेको अनधिकारी पाने लगे। उन्हे डर हुआ कि वे कही पागलपनमें गलती न कर बैठे। नही, उनका यहा एक क्षण भी ठहरना उचित नही। मा और बेटेके बीच उनका क्या काम? बिना कुछ कहे वे एकाएक उठकर चल दिये—। रानीने रोका नही। पवनजय निश्चेष्ट थे।

माका हृदय किनारे तोड रहा था, पुत्रका वह गभीर, म्लान चेहरा देखकर। बरसोका सोया दूध आज मानो उमडा आ रहा है। पिताके अधिकारकी सीमा हो तो हो, पर जननीके अधिकारसे बडा किसका अधिकार है? पर वक्षका उमडाव और भुजाओका विह्वल वात्सल्य चपेट-सी खाकर रह जाता है—पुत्रकी दृप्त ललाटपर—दोनो घनी भौहोके बीच उठे उस अर्ध चद्राकार कालागुरुके तिलकपर।

यह कोखका जाया, क्यो पराया हो उठा है? रानीका हृदय मानों बुझता ही जाता है, डूबता ही जाता है, और फिर बिजली-सा प्रज्ज्वलित हो उठ रहा है। वह अपने मातृत्वके अधिकार को हार बैठी है। पर वही तो है यह पवन, आप ही ललककर तो मांकी गोदकी शरण आया है। गोद फडक उठती है कि अभी पास खीचकर छातीसे लगा लेगी। कि उसी अविभाज्य क्षणमें हिम्मत टूट गई है—भुजाएं ढीली पड गई है। पुत्रके ऊपर होकर पुरुष,—दुर्जेय, दुर्निवार, दुरंत पुरुषका आतक सामने एक चट्टान-सा आ जाता है।

गहरी नि श्वास छोडकर माताने सारी शक्ति बटोर, भर्राये कठसे पूछा—

"पवन, मांसे छुपाग्रोगे ? बोलो. . . .मेरे जीकी सौगध है तुम्हे !"

पवनने पहली बार ग्राखे मांकी ग्रोर उठा दी। उन ग्रांखोमे कुहरा छाया है, वे थमी हैं ग्रपलक। बयाबानोकी भयावनी शून्यता है उनमे, दुर्गम कातारोंकी बीहडता है ग्रौर पत्थरोकी निर्ममता। बेरोक खुली हैं वह दृष्टि, पर उसे भेदकर उस बेटेके हृदयतक पहुचना माके बसका नही है।

कुछ क्षण सन्नाटा बना रहा। पवनजयने चित्तके स्वस्थ होनेपर जरा कठका परिष्कार कर कहा—

"ग्रपने बेटेको नही पहचानती हो मा ? ग्रपने ही ग्रतरगमे झाक देखो, ग्रपनी ही कोंखसे पूछ देखो—मुझसे क्यो पूछ रही हो ?"

"बेटा, ग्रभागिनी माकी ऐसी कठोर परीक्षा न लो। तुम्हे जनकर ही यदि उससे ग्रपराध हो गया है तो उसे क्षमा कर दो ! शायद तुम्हारी मां होने योग्य नही थी मै ग्रभागन, इसीसे तो नही समझ पा रही हू।"

पवनजयकी ग्राखोमे जो रहस्यका कुहरा फैला था, वह मानो धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। ग्रौर ग्राखोके किनारोपर पानीकी लकीरे चमक रही हैं—जैसे विद्युल्लेखाए वर्षाके ग्राकाशमे स्थिर हो गई हो।

"मा, बेटेको ग्रौर ग्रपराधी न बनाग्रो। उसे यो ठेले दे रही हो ? फिर एक बार चूक गया। इस गोदमे शरण खोजने ग्राया था—पर शरण कहा है ? वह झूठ है—वह मरीचिका है। सत्य है केवल ग्रशरण ! नही, इस गोदमें शरण पाने योग्य ग्रब मैं नही रहा हूं मा। मुझे क्षमा कर देना, कहनेको मेरे पास कुछ नही है—।"

कहकर पवनजय छतको फटी ग्राखोंसे ताकते रह गये। पानीकी वे विद्युल्लेखाए ग्रांखोके किनारोपर ग्रचल थमी थीं।

"पवन यह क्या हो गया है मुझे ? तुझे पहचान नही पा रही हू । मेरी कोख कुठित हो गई है—मेरा अतरग शून्य हो गया है । अपनी माके हृदयपर विश्वास करो, पवन । वहा तुम्हारे मनकी बात अतिम दिनतक छुपी रहेगी । कही भी जाओ—चाहे मौतसे खेलने जाओ, पर मुझसे कहकर जाना; जीत सदा तेरी होगी"

क्षणैक चुप रहकर माताने फिर सजल आखोसे पवनकी ओर देखा; उसके कधेपर हाथ रख दिया और बोली—

"अपना दुख मासे कहनेमें हार नही होगी—बेटा, कहो, कहो, कह दो, पवन"

कहते-कहते पवनजयका कंधा झकझोड डाला और भर्रा आये कंठमें वाणी डूब गई । एक बार पवनंजयके जीमें एक वेग-सा आया कि कह दे, पर फिर दबा गया । जरा स्वस्थ होकर बोला—

"इसे प्रबल भोगातरायका उदय ही मानो, मा, मनका रहस्य तो केवली जानते है । अपने इस अभागे मनको मै ही कब ठीक तरह समझ पाया हू ? यह जीवनही अतरायकी एक दीर्घ रात्रि है, और क्या कहू । और अपने बेटेके वीर्य और पुरुषार्थपर भरोसा कर सको तो यह मान लो कि उसके लिये भोग्य लावण्य इस ससारमें नही जन्मा है और नही जन्मेगा । अपनेसे बाहरके किसी पदार्थका यदि उपकार मै नही कर सकता हू, तो उससे खिलवाड करनेका मुझे क्या हक है । . . . .अपने उस चरम भोग्यकी खोजमे जाना चाहता हूं, मा । आशीर्वाद दो कि उसे पा सकू और तुम्हारे चरणोमे लौट आऊ ।"

कहकर पवनजयने माथा माके चरणोमे रख दिया । माकी आखोसे चौसठ-धार आसू बह रहे है । बेटेके माथेपर हाथ रख, उन अलकोंको सहलाती हुई बोली—

"त्रिलोकजयी होओ बेटा, पर मुझसे कहते जाओ" ।

पवनजयने फिर एक बार पैर छू लिये, पर कहा कुछ नही । मां

उमड़ती आखोसे पूछती ही रह गई। कुमारने संकेतसे जानेकी आज्ञा मांगी, और नि.श्वास छोड़कर बिना एक क्षण ठहरे, निर्मम भावसे चल दिये।

घोड़ेपर चढ़कर जब अकेले, अपने महलकी ओर उडे जा रहे थे, तब राहके अधकारमे दो आसू टपककर बुझ गये। बिजलिया पानी हो गईं।

[११]

आषाढका अपराह्न ढल रहा है। विजयार्द्धके सुदूर पूर्व शिखरोपर मेघमालाए झूम रही है। गिरि-वनोमे होकर बादलोके यूथ मतवाले हाथियोसे निकल रहे हैं। गुलाबी बिजलिया कुमारी-हृदयकी पहली मधुर पीर-सी रह-रहकर दमक उठती हैं।

अजना अपनी छतके पश्चिमीय वातायनमे अकेली बैठी है। इन दिनो प्राय वह अकेले ही रहना पसद करती है। इसीसे वसत भी पास नही है। ये युवा बादल उड़ते ही चले जा रहे है—चले ही जा रहे है। कहा जाकर रुकेंगे—कुछ ठीक नही है। इसी तरह जीवनके ये दिन मास, वर्ष बीतते चले जा रहे हैं—विराम कहा है—कौन जानता है ?

उन्ही बादलोके आवरणमे जीवनके बीते वर्षोंकी सारी स्मृतिया स्वप्न-चित्रो-सी सजल होती गई। कहां है महेंद्रपुरके वे राज-प्रासाद ? कहा है माता-पिताकी वह वात्सल्यमयी गोदी ? अजनाकी एक-एक उमंगपर स्वर्गोंका ऐश्वर्य निछावर होता था। सुर-कन्याओ-सी सौ-सौ सखिया उसके एक-एक पद-निक्षेपपर हथेलिया बिछाती। और वे बाला-पनके मुक्त आमोद-प्रमोद और क्रीड़ाए ! दति-पर्वत की तलहटीवाले 'ऐंद्रिला' उद्यानमे वे बादल-बेलाए, वह कोयलकी टेरोके पीछे दौड़ना, वह बादलोमें प्रीतमका रथ खोजनेकी सखियोमे होडें, वह वापिकाओके पालित हंसोके पखोपर वाहन, वे वर्षा, वसंत और शरदोत्सवके विस्तृत

प्रायोजन, वह वसतकी सध्याम्रोमे दति-पर्वतके किसी शिखरपर अकेले बैठकर मुक्त हवाम्रोके बीच वीणा-वादन, वह 'मादन-सरोवर'के प्राकृतिक मर्मर-घाटोमे स्नान-केलिके ग्रानद ! . सपनोका एक जुलूस-सा आंखोमें तैरता निकल गया। दूर—कितनी दूर चला गया है वह सब; लगता है, विस्मृतिके गर्भमे सोये जाने किन विगत भवातरोकी कथाए है वे। प्रमादके रिक्त क्षणकी एक छलना भर है वह। उससे अब कही उसका कोई सबध नहीं है। पर उम मारे अपनत्वको त्यागकर, जिसके पीछे-पीछे वह इस परिचित अनात्मीय देशमें चली आई है—वह कौन है, और वह कहां है ? वह उसे ठीक-ठीक पहचानती भी नही है, पर सुना है उस प्रीतमने उसे त्याग दिया है। लेकिन इस क्षणतक भी इस बातकी प्रतीति उसे नही हो रही है। भीतरकी राह वह आ रहा है और अतरके वातायनपर उसकी आती हुई छबि कभी ओझल नही हुई है. . !

कि एकाएक अंजनाकी दृष्टि अपनी देहपर पड गई। वे सुगोल चंपक भुजाए परसके रससे ऊर्मिल है। उस वक्षके उभारमे वे आकाशकी गुलाबी बिजलिया बदिनी होकर कसक उठी है। घिरले बादलोंकी श्यामतामें एक विशाल पुरुषाकृतिके आविर्भावने चारो ओरसे उसे छा लिया है। अग-अग रभसकी एक विकल उत्कठामे टूट रहा है।

और न जाने कब कौन उसे हाथ पकडकर कक्षमे ले गया। वह उन मर्मरके हसोकी ग्रीवासे गाल सहलाती हुई मुग्ध और बेसुध हो रही है। बिल्लौरी सिंहासनके कासके उपधानोंको वक्षमे दाबकर कस-कस लेती है। कक्षकी दीवारो, खभो, खिडकियोके पर्दोसे अगोको हलके-हलके छुहला-सहलाकर वह सिहर उठती है। और जाने कब वह उस पर्यंककी शय्यापर जा लेटी, जिसे उसने आजतक छुआ नही था। वक्षको दाबकर वह औंधी लेट जाती है। समूचे विश्वका देह-पिंड एक बारगी ही मानों अपने पूर्ण आकर्षणसे उसे अपने भीतर खींचता है। एक प्रगाढ़ आलिंगनकी मोह-मूर्छामे वह डूब गई है। और वल्लभकी भुजाओके आलोडनका अंत नहीं

है। कि देखते-देखते स्पर्शका वह अतल सुख विछोहकी अशेष वेदनामें परिणत हो गया। वक्षकी मासल काराको तोडनेके लिये प्राण छटपटा उठे। उसकी शिरा-शिरा, रक्तका विंदु-विंदु, विद्रोही चेतनकी इस चिनगीसे अगार हो उठा और देखने-देखने देहकी सपूर्ण मासलता मानो एक पार-दर्शी अग्नि-पिंडमे बदल गई। पर वह जो खीच रहा है—सो खीचता ही जा रहा है। उसमे पर्यवसित होकर वह शात और निस्तरग हो जाना चाहती है।

निरतर बह रहे आसुओके गीलेपनसे उसे एकाएक चेत आया। वक्षके नीचे कोमल शय्याका अनुभव किया। पाया कि वह कक्षमे है—वह उस विलासके पर्यकपर है। कौन लाया है उसे यहा ? ओह, वचक माया ! वह अपने ही आपसे भयभीत हो उठी। वह उठकर भागी और फिर उसी वातायनपर जाकर बैठ गई।

कि लो, वे पर्वत-पाटिया उन घटाओमें डूब गई है। वन- कानन खो गये है। अजनाने पाया कि वह पृथ्वीके छोरपर अकेली खडी है, और चारो ओर मेघोका अपार सिधु उमड रहा है। उस महा जल-विस्तारमें श्वेत पछियोकी एक पात उडी जा रही है। अजनाकी आखे जहातक जा सकी—उन पछियोके पीछे वे उडती ही चली गई। और देखते-देखते वे दृष्टि-पथसे ओझल हो गये। आखोमे केवल शून्यके बबूले उठ-उठकर तैर रहे है। उस अतलांत शून्य सजलतामे वह डूबती ही गई है कि उन पछियोको पकड लाये। अपनी बाहोपर बिठाकर वह उनसे देश-देशकी बात पूछेगी, जन्मातरोंकी वार्ता जानेगी। अरे वे तो मुक्तिके देव-दूत है—इसीसे तो इस दुर्निवार बादल-वेलामे वे ऐसे हलके पखोसे उडे जा रहे है !

अजना अपने भीतर जितनी ही गहरी डूब रही है, बाहर वह उतनी ही अधिक फैल रही है।. .वह विजयार्द्धकी बादल-भरी उपत्यकाओमे खेलने चली आई है। वह उसके रत्नमय कूटोकी वेदियोमें

बैठकर गान गा रही हैं। वह एक शृगसे दूसरे शृगपर छलांग भरती चल रही है। अनुल्लघ्य भरनोंको वह चुटकी बजाते लांघ जाती है। अगम्य खाइयों, खदकों और घाटियोंको वह लीलामात्रमें पार कर रही हैं। वह विजयार्द्धकी मेखलामे अबाध परिक्रमा देती चल रही हैं। चित्र-व्याघ्र, सिंह, भालू और अष्टापद आकर उसके पैर चाटने लगते हैं—अपनी सुनहरी-रुपहरी अयालोसे उसके अग सहलाते हैं। अनेक जीव-जतु, पशु-पक्षी, उस देहसे लिपटकर—उसका दुलार पा चले जाते हैं। पलक डालने और उठानेमे कितनी ही विद्याधरोकी नगरियां दृष्टि-पथमें आती हैं और निकल जाती हैं। और रह-रहकर वे पक्षी उसे याद आते हैं। उसकी आकुलता अतहीन हो जाती है। और वह अपनी यात्रामे आगे बढ़ती ही जाती है।· कितने पर्वत, पृथ्वियो, सागरो और आकाशोंको पार कर वे पछी जाने किस दिशाके नील नीडमे जाकर छुप गये हैं ?

. . . . मुक्त केश-राशि कपोलोपर छाती हुई वक्षपर लोट रही हैं। अजनाका माथा वातायनके खभेपर ढुलका है। मुदी आखे बाहरकी उस बादल-राशिकी ओर उन्मुख हैं। ओठोंपर एक मुग्ध स्मित ठहरी है। एक हाथ—रेलिंगपरसे ऊपरको अजुली-सा उठा है—और दूसरा हाथ सहज वक्षपर थमा है।

"अजन. . . !"

अंजनाने चौंककर आंखे खोली, और स्वप्नाविष्ट-सी वह सामने वसतको देख उठी। एक अलौकिक मुस्कराहट उसके ओठोंपर फैल गई—जिसमे गहरी अतर्वेदनाकी छाया थी।

". . . . अ . . . हां, कबसे बैठी हो जीजी, जरा आख लग गई थी, पर जगा क्यो नही लिया ?"

कहते-कहते वह शर्मा आई और उसने एक गहरी अंगड़ाई भरी। उन तंद्रिल आंखोमे उड़ते पछियोंके पखोंका आभास था!

अंजनाकी दृष्टि अपने कक्षकी ओर उठी। शिलाओ और रत्नोंकी ये दीवारें, यह ऐश्वर्यका इंद्र-जाल, यह वैभवकी सकुलता; उसकी यह मोह-कता, यह सुखोष्मा, यह निबिडता ! . . . . .असह्य हो उठा है यह सब। जीवनका प्रवाह इस गह्वरमे बंदी होकर नही रह सकता। और वह उफनाती हुई शून्य शय्या, जिसपर अनंत अभाव लोट रहा है। . . . . प्राणकी अनिवार पीडासे वक्ष अपनी सपूर्ण मांसल मृदुता और माधुर्यमे टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है। एक इद्रियातीत सवेदन बनकर सपूर्ण आत्मा मानो दिगतके छोरोतक फैल गया है।

कही उद्यानकी वृक्ष-घटाओके पारसे मयूरोकी पुकार सुनाई पडी। बादल गुरु मद्र स्वरमे रह-रहकर गरज रहे है। घनीभूत जलांधकारमें रह-रहकर बिजली कौंध उठती है।

"जीजी, यह मयूरोकी पुकार कहासे आ रही है ? देखो न, वे हमें बुला रहे हैं। अपन वहां चल नही सकती हैं, जीजी ? चलेगी, जरूर चलेगी। तुम भी मेरे साथ आओगी न ? दूर, बहुत दूर, महल और राजो-द्यानके पार—विजयार्द्धकी उपत्यकामे ! मुझे अभी-अभी सपना आया है जीजी, वे वही मुझे मिलेगे, घन काननकी पर्ण-शय्यापर !—इस कक्षमें नही, इस पद्म-राग-मणिके पलगपर नही !"

वसत खिलखिलाकर हस पडी और बोली—"अजन, देखती हू अभी भी तेरा बचपन गया नही है। जब बहुत छोटी थी तब भी ऐसी ही बातें किया करती थी। जो भी उम्रमे तुझसे एक ही दो बरस बडी हू फिर भी तेरी ऐसी अद्भुत बाते सुनकर मुझे हसी आ जाती है। बीचमे तू गभीर और समझदार हो गई थी। पर कई बरस बाद तुझे फिर यह विचित्र पागलपन सूझने लगा है।"

"तो जीजी बताओ न ये मोरोकी पुकारे कहासे आ रही है ?"

"पुडरीक सरोवरके पश्चिमी किनारेपर जबू वनमे खूब मोर हैं। घटाओंको देखकर वही वे शोर मचा रहे हैं।"

"तो जीजी, मुझे ले चलो न उस जंबूवनमें ! मेरा जी अब यहां बहुत ऊब गया है। चलो न, उस जबू-वनतक ज़रा घूम ही आयें।"

अंजनाकी इस अनुनयमे बडी ही अवशता है। इस प्रस्तावको सुनकर वसंतके सुख और आश्चर्यकी सीमा नही थी। कई दिनोसे अपने आपमें बंद और मूक अजना सरल बालिका-सी खुल-खिल पडी है। विषादका वह घनीभूत कोहरा मानों फट गया है। अजना निर्मल जलधारा-सी तरल और चंचल हो उठी है। वसतने प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार कर लिया। चलते-चलते कुछ सखियो और दासियोको और भी साथ ले लिया। अबतक अजना केवल प्रातः-साय सुमेरु चैत्यमे देव-दर्शनके लिये जाती और लौट आती थी। आज पहली ही बार उसने राजोद्यानकी सीमाको पार किया।

वानीर, वेतस और जामुनोकी सघन वनानीमे होकर एक नल्ला बहता था, जो पुडरीक सरोवरमे दूरकी पार्वत्य नदियोंका जल लाता था। इसके किनारे झूम रहे दीर्घकाय वानीर-वनोंकी छायामे नल्लेका जल सदा पन्नेसा हरा रहता। दोनो किनारोके मिलनातुर वृक्षोंके बीच आकाशका पथ आख-मिचौनी खेलता। उसमे तैरते प्रवासी बादल नल्लेके हरित-श्याम जलमे छाया डालते।

जबू-वनकी सकुल घटाओंमें बादलोकी अधेरी स्तब्ध खडी है। मयूर और मयूरियोके झुड चारो ओर बिखरे हैं। उनमेंसे कुछ किनारेके हरियाले प्रकाशमे पख फैलाकर नाच रहे हैं। और एकाएक वे शीतल स्वरोमें पुकार उठते हैं। वनकी अधेरी गूज उठती है। फिर बादल घुमड उठते हैं।

मानवोंका पद-संचार और आवाज़ सुनकर वे झुंड थोडे चौकन्ने हो गये। तितर-बितर होकर वे चारो ओर भागने लगे। अंजना बालिका-सी उनसे खेलनेको मचल पड़ी। वह उन्हे भयभीत नहीं करना चाहती— पर उसका प्यार जो आज उन्मुक्त हो गया है।

किनारेकी एक खजूर नल्लेके जलपर झुक आई थी। उसपर खड़ा एक मयूर पख फैलाये, अपनी सपूर्ण शोभाकी नीलाभा खोलकर नाच रहा है। अजना उस खजूर के तनेपर जा पहुची। उन पैरोकी अछूती कोमलतामें वे खजूरके काटे गड़ नही रहे है। सब कुछ उस मार्दवमें मानो समाया ही जा रहा है।

एक हाथसे, पास ही झुके हुए एक वृक्षकी डाल पकडकर अजना बैठ गई और दूसरी बाह उसने उस नाचते मयूरकी ओर फैला दी। वह डरा नही—वह सहमा नही। फिर एक बार एक अपूर्व निगूढ़ उल्लाससे नवीनतम भगिमामे नाच उठा। और नाचते-नाचते वह अजनाकी बाहपर उतर आया। उन पखोमे मुह छुपाकर अजनाने आखे मूद ली, मयूरोके झुड फिर विह्वलतामे पुकार उठे। वसतकी आखोमे सुखके आसू आ जाना चाहते है। सभी सखिया आनद, क्रीडा और हास्यमे मग्न हो गईं। मयूरोके पीछे वे दौडती है—पर वे हाथ नही आते है।

अजना तनेपरसे उस मयूरको अपने बाहुमे भरकर नीचे उतार लाई। सखियोंके आश्चर्य कौतूहलकी सीमा नहीं है। अजना शिलापर आ बैठी है। वह मयूर उसके वक्षपर आश्वस्त है। आस-पास सखिया पैर फैलाये बैठी है। मयूर-मयूरियोका झुड चारो ओर, प्रफुल्ल नील कमलोके वन-सा, पूर्ण उल्लसित और चचल होकर नाच उठा।

अजनाके जीमे आया, उसने क्यो इस मयूरको बदी बना रक्खा है? ओह, यह उसका मोह है। उसने उसका आनद छीन लिया है! अजनाने तुरंत उस मयूरको छोड दिया। पर वह उडा नही—अपना नीला मसृण कठ अजनाके गलेके चारो ओर डालकर उस वक्षपर चचु गडा दी। जाने कितनी देर उस ग्रीवालिंगनमे वह पक्षी विस्मृत, विभोर हो रहा। चारो ओर सखियां ताली बजा-बजाकर बादल रागके गीत गाने लगी। केकाओकी पुकारे फिर पागल हो उठी।

कि एकाएक अजनाकी गोदसे वह मयूर उतरकर नीचे आ गया

और अपने सगियोके बीच अनोखे उन्मादसे नाचने लगा। उसके आनंद-लास्यको देख दूसरे मयूर-मयूरी भी अजनाकी ओर दौड पडे। सखियां उन्हे पकडना चाहती हैं पर वे हाथ नही आते है। अजना उन्हें पकडना नही चाहती—पर वे उसके शरीरपर चढनेमे जरा नही हिचक रहे हैं। उसके आस-पास घिरकर अपनी ग्रीवासे उसकी जघाओ, उसकी भुजाओं, उसके वक्षसे दुलार करते हैं—और फिर नीचे फुदककर नाचने लगते हैं।

कि इतनेहीमें पुर्वैया हवा प्रबल वेगसे बहने लगी। स्तब्ध वनाली हिल उठी। झाड झांय-झाय, साय-साय करने लगे। और थोडी ही देर मे वृष्टि-धाराओसे सारा वन-प्रदेश मर्मरा उठा। मयूरोकी पुकारे पागल हो उठी—वे चारो ओर फैलकर मुक्त लास्यमे प्रमत्त हो गये। देखते-देखते मूसल-धार वर्षा आरभ हो गई। हवाये तूफानके वेगसे सनसनाने लगी। झाडोकी डालिया चू-चडड बोलने लगी, मानो अभी-अभी टूट पडेगी। वेणु-वनकी बासुरीमे सू-सू करता हुआ मेघ-मल्लारका स्वर बजने लगा। बादल उद्दाम, तुमुल घोषकर गरज रहे हैं,—बिजलिया कडकडाकर दूरकी उपत्यकाओमे टूट रही हैं। एक अग्नि-लेखा-सी चमककर वनके अधेरेको और भी भयावना कर जाती है।

वसत-मालाके होश गुम हो गये। आज उससे यह क्या भूल हो बैठी है। ऐसे दुर्दिनमे वह अंजनाको कहा ले आई है? महादेवीको पता लगा तो निश्चय ही अनर्थ घट जायगा। अजना अब महेंद्रपुरकी निरकुश राज-कन्या नही है, वह अब आदित्यपुरकी युवराज्ञी है। और तिसपर त्यक्ता और पद-च्युता है। उसके लिये ये मुक्त-क्रीडा विहार? और वह भी इस भयानक निर्बंध ऋतुमे? राजोपवनकी सीमाके बाहर? क्षण मात्रमे ही ये सारी बाते वसतके दिमाग़मे दौड गईं।

और अंजना? वह शिलापर दोनो ओर हाथ टिकाकर और भी खुलकर बैठी है। वह निर्द्वंद्व है और निरुद्वेग है। इस भयानकताके प्रति वह पूर्ण रूपसे खुली है। आत्माका चिर दिनका रुद्ध वज्र-द्वार

मानों खुल गया हैं । ये झझाएं, ये वृष्टि-धाराए, यह मेघोका विप्लवी घोष, ये तडपती बिजलिया, सभी उस द्वारमेंसे चले जा रहे हैं । इस महामरणकी छायामे हृदयका पद्म अपने सपूर्ण प्रेमको मुक्त कर खिल उठा है । प्रलयकी बहियापर मानो कोई हमता हुआ वन-कुसुम बहा जा रहा है । पानीकी बौछारो और हवाओको चपेटोंमे वह सुकुमार देह-लता सिकुडना नही चाहती । वह तो पुलकित होकर खुल-खिल पडती हैं । वह तो सिहरकर अपनेको और भी बिखेर देती है । आखे प्रगाढतासे मुदी हैं—और ऊपर मुख उठाये वह मुस्करा रही हैं—मौन, मुग्ध, महानंदसे विकल,—आवेदनकी मुक्त वाणी-सी ।

और साथकी सभी अन्य बालाए भयसे थर्रा उठी हैं । ऋतुके आघातो-मे वे अपनेको सम्हाल नही पा रही है । और फिर युवराज्ञीकी चिता सर्वोपरि हो उठी है । अजनाको पता नही कब वे सब आकर उसके आस-पास लिपट-चिपटकर बैठ गई हैं । भय-चिंता और उद्वेगसे वे काप रही है । उन्होंने चारो ओरमे अपने शरीरोसे ढापकर अंजनाकी रक्षा करनी चाही ।

अजना उस अवरोधको अनुभव कर घबडा उठी । माथेपर छाई हुई वसतकी भुजाओको और चारो ओर घिर आई सखियोके शरीरोको झकझोर कर वह उठ बैठी—

"अरे यह क्या कर रही हो ? ओ वसत जीजी ! ओह, समझ गई, चारो ओरसे ढापकर इम ऋतु-प्रकोपसे तुम मेरी रक्षा करना चाहती हो ? पर आज तो वर्षाका उत्सव है—भीगनेका दिन-मान हैं, आज क्यो कोई अपनेको बचाये ? देखो न, ये मयूर लास्यके आनदमे अचेत हो गये हैं । इस वर्षाके अविराम छद-नृत्यसे भिन्न इनकी गति नही । चारो ओर एक विराट आनद का नृत्य चल रहा है । मेघोके मृदगोपर बिजलिया ताल दे रही हैं । ये झडिया हवाके तारोपर अश्रात थिरक रही हैं । ये झाड़ झूम-झाम रहे हैं—लताए, तृण-गुल्म, सभी तो नाच-नाचकर लोट-पोट

हो रहे हैं—सभी भीग रहे हैं रसकी इस धारामें। कोई अपनेको बचाना नही चाहता। आओ, इनसे मिलें-जुलें, प्यारका यह दुर्लभ क्षण-फिर कब आनेवाला है ?"

अजनाने दोनों हाथोसे अपने केश-भारको उछाल दिया। बालिका-सी दुरत और चपल होकर वह चारो ओर नाच उठी। सखियां उसके पीछे दौड-दौडकर उसे पकडना चाहती हैं—पर वह हाथ कब आनेवाली है। शरीरपर वस्त्रकी मर्यादा नही रही है, और वनके तनोंमें वह बेतहाशा आख-मिचौनी खेल रही है। वसतके प्राण सूख रहे हैं—पर वह क्या करे—यह अजना उसके वशकी नही है। जो भी वह जानती है, यह राजोपवनका ही सीमात है और यहा कोई आ नही सकता है। फिर भी समय-सूचकता आवश्यक है। अजनाके स्वभावमे यह लीला-प्रियता नई नही है। पर बहुत दिनोसे गभीर हो गई अजना, तिरस्कृता, परित्यक्ता अजनाको आज यह क्या हो गया है ?

और वह भागती हुई अजना झाडके तनोसे लिपट जाती है—उन्हे बाहुओमे कस-कस लेती है। झाड़की कठोर छालसे गालोको सटाकर हौले-हौले रभस करती है। डालोपर झूम जाती है—और झूमते हुए तरु-पल्लवोंको पलकोसे दुलराती है। वन-वल्लियो, तृणो और गुल्मोके भीतर घुसकर धप्से उनमे लेट जाती है—गालोसे, भुजाओसे, कठसे, लिलारसे, उन वनस्पतियोको छुहलाती है—सहलाती है, चूमती है पुच-कारती है—वक्षमे भर-भरकर उन्हें अपने परिरभणमे लीन कर लेना चाहती है। विराट स्पर्शके उस सुखमे वह विस्मृत, विभोर, होकर चारो ओर लोट रही है। और जाने कबतक यह लीला चलती रही—

× × ×

सांझ हो रही है। वर्षासे धुले उजले आकाशमे अगूरी और दूधिया बादलोंके चित्र बने हैं। अंजनाने कक्षमें इष्टदेवके बिम्बके सम्मुख घीका

प्रदीप जला दिया। धूपायनमें थोडा धूप छोड दिया। वसतके साथ जानुओंपर बैठकर उसने विनीत स्वरमें अर्हत्का स्तवन किया। अंतमें वंदनमें प्रणत हो गई और बोली—

"हे निष्प्रयोजन सखे! हे अशरण आत्माके एकमेव आत्मीय! तुम चराचरके प्राणकी बात जानते हो, अणु-अणुके सवेदन तुम्हारे भीतर तरगायित हैं। बोलो, तुम्ही बताओ, क्या मुझसे यह अपराध हुआ है? किस भवका यह अतराय है और किम जन्ममे किसको मैने दारुण विरह दिया है—इसकी कथा तो तुम जानो। मै अज्ञानिनी तो केवल इतना ही जानती हू, कि मेरा प्रेम ही इतना क्षुद्र था कि वह 'उन'तक पहुच ही न सका, वह उन्हे बाधकर न ला सका, इसमें उनका और किसीका क्या दोष है?

"पर अपने इस चराचरके निःसीम साम्राज्यमे भी क्या मेरे इस क्षुद्र प्रेमको मुक्ति नही दोगे, प्रभु? देखो न, ये छोटी-छोटी वनस्पतिया, तृण-गुल्म, पशु-पक्षी, कीट-पतग, जड-जगम सभी अपना प्रेम देनेको मुक्त हैं। फिर मैं ही क्यो आत्म-घात करू, तुम्ही कहो न?. मनुष्यकी देहमें नारीकी योनि पाकर जन्मी हू, कोमल हू, अवलबिता हू और देना ही जानती हू, क्या यही अपराध हो गया है मेरा? क्या पुरुष नारीके अस्तित्वकी शर्त है?—और उससे परे होकर क्या उसका कोई स्वतत्र आत्म-परिणमन नही? यही धृष्ट जिज्ञासा बार-बार मन-प्राणको बीध रही है। अतर्यामिन्, मुझ अज्ञानिनी बालाके इस पागल मनका समाधान कर दो!"

अजनाकी अधमुदी आखोमेसे आसू चू रहे हैं। वसत स्तब्ध है, अंजनाके साथ वैसी ही एकात्म्य होकर, साश्रु-नयन प्रार्थनामे अवनत है। तब आह्लादित होकर अचानक अजना बोल उठी—

"उत्तर मिल गया जीजी! आखें खोलो.....प्रभुने मुस्करा दिया है!"

बसतने देखा—दीपके मद आलोकमें प्रभुके मुखपर वही त्रिलोक-मोहिनी मुस्कान खिली है—मानो जीवनका उन्मुक्त प्रवाह आखोके आगे बह रहा है, निर्मल और अबाधित। उसमे बहनेको सभी स्वतंत्र है—वहां मर्यादाए नही है, शर्तें नही है, अतराय नही है, योनि-भेद नही है, विधि-निषेध नही है,—है केवल आत्माके अकलुष प्रेमकी स्रोतस्विनी !

[१२]

आधी-वर्षाकी रुद्र, प्रलयकरी रातोमे पवनजय भयभीत हो उठते। बाहरके सारे भयोपर वे पैर देकर चले है, पर यह आत्म-भीति सर्वथा अजेय हो पडी है। इन बिजलियोंकी प्रत्यचाओपर चढ़कर जो तीर इन तूफानकी रातोको चीरते हुए आ रहे है, उनके सम्मुख कुमारका सारा ज्ञान-दर्शन, शौर्य, वीर्य और उनकी आयुध-शालाके सारे शस्त्र कुठित हो गये है ! सूक्ष्म, अमोघ और अतर्गामी है ये तीर, जो मर्ममे जाकर बिधते ही जाते है।

उनका प्रेत ही छायाकी तरह उनके पीछे-पीछे दौड रहा है। उनके रोम-रोम एक निदारुण भयसे आकुल है। अपने ही सामने होनेका साहस उनमें नही है। वे अपनेसे ही विमुख और विरक्त हो गये है; पर अपनेसे भागकर वे जाये तो कहा जाये....?

कई अखड दिनो और रातो घोडेकी पीठपर चलकर वे योजनो पृथ्वी रौंद आये है। ऐसे महा-विजनोकी वे खाक छान आये है, जहा मानव-पुत्र शायद ही कभी गया हो। अलघ्यको उन्होने लांघा है, और दुर्निवारको हठ पूर्वक पार किया है। घोडा जब तीरके वेगसे हवामें छलांग भरता, तो उड़ानके नशेमे उनकी आखे मुद जाती। उन्हें लगता कि उनका घोड़ा आकाशकी नीलिमाको चीरता हुआ चल रहा है। पर आंखें खुलते ही

पाया है कि वे धरतीपर ही है ! इसी तरह पराभवसे कातर और म्लान वे सदा अपने महलको लौट आये है ।

इस महावकाशमे वे कही भी अपने लिये स्थान नही खोज सके है । माना कि वे चिरतन गतिके विश्वासी है, और ठहरना वे नही चाहते; स्थितिपर उन्हे विश्वास नही है । पर वर्षाकी इन दुर्दाम रात्रियोमे क्यो वे इतने अरक्षित और अशरण हो पडते है ? ऐसे समय—अवस्थिति और प्रश्रयकी पुकार ही क्या उनमे तीव्रतम नही होती है ? वे अपनेको पाना चाहते है । पर अपने ही आपसे छलकर, वे अपनेसे ही आख-मिचौनी जो खेल रहे है । अपनी ही पकडाईमे वे नही आया चाहते । अपनी दिन-दिन गहरी होती आत्म-व्यथाको वे अनदेखी कर रहे है । फिर अपनेको पाये तो, कैसे पाये ?

समय-असमय, जब-जब भी ऐसी बेचैनी हो जाती है, वे महलके नवो खडोके एक-एक कक्षमें घूम जाते है । वहाके चुधिया देनेवाले चित्र-विचित्र सिगारो, परिग्रहो और वस्तु-पुजोकी मायाविनी विविधतामे वे अपने को उलझाये रखना चाहते है । पर चित्तका उद्वेग बढता ही जाता है । दूरसे एक मरीचिका पूर्ण आवेगसे खीचती है । पास जाते ही वह सब फीका पड जाता है—नीरस, निस्पद, अगतिशील, जड़ !

नौवें खडके कक्षोंमें अनेक लोको, पृथ्वियो, समुद्रो और पर्वतोकी रचनाये है । वे मान-चित्रोकी परिमाण-सूचकताके साथ तैयार की गई है । उन्हें देखकर फिर वे एक नवीन ताजगी, उत्साह और उत्कंठासे भर आते है । वे अपनी महा-यात्राकी योजनाए बनानेमे संलग्न हो जाते है । वर्षोंके प्रसारमे वह योजना बढ़ती जाती है, योजनोकी सख्या लुप्त होने लगती है । उनका नक्शा बनते-बनते उलझ जाता है; रेखाओके जाल सकुल हो उठते है । यात्राका पथ अवरुद्ध हो जाता है । विफलताके शून्य काले धब्बो-से उनकी आखोमे तैरने लगते है । वे नक्शों-

को फाडकर फेंक देते हैं, जितने बारीक टुकडे वे कर सकें, करते ही जाते हैं—और फिर उन्हें दृष्टिसे परे कर देना चाहते हैं।

फिर एक नया आवेग नस-नसमे लहरा जाता है। तब वे महलके गर्भ-देशमे बनी अपनी आयुध-शालामे जा पहुचते हैं। ताबेके विशाल नीराजनमें एक ऊची जोतका दीप वहा अखड जलता रहता है। कुमार पहुचकर अलग-अलग आलयोके सभी दीपोको सजो देते हैं। शस्त्रास्त्रोंकी चमकसे आयुध-शाला जग-मगा उठती है। परपरासे चली आई आदित्यपुरकी अलभ्य और महामूल्य आयुध-संपत्ति यहा सचित है। फिर कुमारने भी उमे बढानेमे बहुत प्रयत्न और धन खर्च किया है। अचिंत्य और अकल्पित शस्त्रास्त्र यहा सग्रहीत हैं। आयुधोके फल दर्पणोसे चमकते हैं; उनमे अपने सौ-सौ प्रतिबिब एक साथ देखकर कुमार रोष और विरक्तिसे तिक्त और क्षुब्ध हो उठते हैं। वहां शस्त्रोको धार देनेके लिये बडी-बडी शिलाए और चक्र पडे हुए हैं। अपने अनजानमे ही अपने ठीक सामनेके शस्त्रकी चमकको बुझा देनेके लिये, वे उसे सानपर चढ़ा देते हैं। उसमेसे चिनगारिया फूट निकलती हैं। कुमारके भीतरकी अग्नि दहक उठती है—वह नगी होकर सामने आया चाहती है। शिलाए कसक उठती है—देखते-देखते वे हिलने लगती हैं, जैसे भूकपके हिलोरे आ रहे हो। सानके सारे चक्र कुमारकी आखोंमें एक साथ पूर्ण वेगसे घूमने लगते हैं—उन सबमे चिनगारिया फूटने लगती हैं। वे सानपर से शस्त्रको हटा लेते हैं। उसकी चमक और भी पार-दर्शी हो उठती है। उसमें कुमारके प्रतिबिंब कई गुने हो उठते हैं। वे झल्लाकर शस्त्र फेंक देते हैं। सारी आयुध-शाला झन-झना उठती है। ऊपर प्रतिहारियोंके प्राण सूख जाते हैं। आयुध-शालाके शस्त्रागारोपर लगी सिंदूर विकराल, रुद्र हास्यसे मूक अट्टहास कर उठती है!

कुमार झपटकर शखोके आलयकी ओर चले जाते हैं। अद्-भुत हैं वे शंख! भिन्न-भिन्न दिशाओंके स्वामियोंको ललकारने और

चुनौती देनेकी भिन्न-भिन्न शक्तियां उनमें अभिनिहित हैं। वे अभी-अभी शख फूंक देनेको आतुर हो पड़े हैं। वे एक शख उठा लेते हैं। पर वे किस दिशाके स्वामीको जगाये? उन्हे कुछ भान नहीं हो रहा है, कुछ सूझ नहीं पड रहा है। उन्होने अपने हाथके शखको गौरसे देखा—उस-पर एक ध्वजामें मकरकी आकृति चिह्नित है! ओह,—मकर-ध्वज! कुमारने फूक देना चाहा वह शख पूरे जोरसे। पर सास मानो रुद्ध हो गया है या कि शख ही मूक हो गया है? कुमारके अग-अगमे बिजली-सी तड-तडा उठी। उन्होने दूरके एक खभेको लक्ष्य कर वह शख जोरसे दे मारा। पर वह खभेपर न लगकर कासे के एक विशाल घटे-पर जा लगा। अप्रत्याशित ही घटेका गुरु-घोष पृथ्वी-गर्भमें गूजकर लहराने लगा।

बहुत दिनोंकी प्रपीडित और छट-पटाई हुई कषाय प्रमत्त हो उठी। अहकी मोहिनी नगी तलवारोसी चमचमा उठीं। जाने कब कुमारने पानी-सा लहरीला एक खड्ग उतारकर शून्यमें वार करना शुरू कर दिया। सू .सू करती—तलवारकी विकलता पृथ्वीकी ठडी और निबिड गधमे उत्तेजित होती गई।. शरीरकी स्नायुए मस्तिष्कके केंद्रसे जैसे च्युत हो गई हैं। तलवार खभोके पत्थरोसे टकराकर उस अकाट्यतासे कुठित हो, और भी कटु और भी विषाक्त हो जाती है। वह नहीं मानेगी . .जबतक वह उस निरतर कसक रहे, दिन-रात पीडित करनेवाले मर्मको चीर नहीं देगी! वह तलवार प्रबलतर वेगसे बेकाबू सन-सनाने लगी। शून्यमें कहीं भी घाव नहीं हो सका है—मात्र यह निर्जीव खभेके पत्थरोका अवरोध टकरा जाता है—ठन्न. . ठन्न !

और खच्चसे वह आ लगी बाएँ पैरकी पिंडलीपर। कोई मासल कोमलता बिंध गई है। कुमारके चेहरेपर एक प्रसन्नता दौड गई। और अगले ही क्षण पसीनेमे तर-ब-तर हाफते हुए पवनजय, चक्कर

खाकर धप्से धरतीपर बैठ गये। घावपर निगाह पडी—खूनकी एक पिचकारी-सी छूट गई है।

ओह, अपनी ही तलवारसे अपना ही घात? उफ्....शस्त्र... हिंसक, बर्बर शस्त्र! कितनी ही बार शस्त्रोंमें उन्हें अविश्वास हुआ है। ये हिंसाके उपकरण? कितनी ही बार उन्हें इनसे घोर ग्लानि और विरक्ति हुई है। पर कौनसी मोहिनी है जो खींच लाती है? वे फिर-फिर इनसे खेलनेको आतुर हो उठते हैं। हिंसाकी विजय, विजय नहीं, वह आत्म-घात है! वे निःशस्त्र जय-यात्राके राही हैं; इसीसे न क्या उन्होंने उस दिन उस पर्वतकी अतलांत अंधेरी खाईमें, कौतुक मात्रमें, अपनी तलवार खड्ग-यष्टिसे निकालकर फेंक दी थी?

खून जख्मसे बेतहाशा बहने लगा। कुमारको अपने ऊपर तरस आ गया—दया आ गई। ...छि दया? और वह भी अपने ऊपर? नहीं, वे नहीं करेंगे कोई उपचार इस जख्मका। दया वे नहीं करेंगे अपने ऊपर। दया कायरताकी पुत्री है! पवनंजय और कायर हों, इस जरासे आघातपर?

वे सन्नाते हुए आयुध-शालासे ऊपर निकल आये। सिंहासनकी सीढ़ीपर मुँह हाथोंमें ढककर बैठ गये। खून निकलकर पैरको लथ-पथ करता हुआ चारों ओर फैल रहा है।

आँख उठाकर उन्होंने देखा, एक प्रतिहारी साहस-पूर्वक उस जखमको एक हाथसे दबाकर उसपर व्रणोपचार किया चाहती है—पट्टा बाँधा चाहती है। कोमलता? ...ओह, कायरताकी जननी! वह असह्य है उन्हें। न...न... न हर्गिज नहीं—यह सब वे नहीं होने देंगे।

"हट जाओ प्रतिहारी, इस व्रणका उपचार नहीं होता!" झुंझलाकर कुमारने पैर हटा लिया।

"देव, तुम्हारे ये अत्याचार अब नहीं सहे जाते!"

कांपते आवाज़में साहस पूर्वक प्रतिहारी आवेदन कर उठी। उप-चारोन्मुख खाली हाथ उसके शून्यमे थमे रह गये हैं—और आखोमें उसकी, आसू झल-झला रहे हैं। कुमारके हृदयमें जहा जाकर प्रतिहारीका यह वाक्य लगा हैं, वहासे वे उसके इस दु साहसका प्रतिकार न कर सके! वे अवाक् उसका मुह ताकते रह गये।

ओह नारी. . . .कोमलता. . .आसू? फिर वही मोह-जाल. . . फिर वही माया-मरीचिका? फिर दोनो हाथोमें बडे ज़ोरसे मुखको मीच लिया। मारी इंद्रियोको मानो उन्होने अपने भीतर सिकोड लिया। नही, इस कोमलताके स्पर्शको वे नही सह सकते। यह कातरता हैं. . . .यह दया है। . . . .और कौन है यह प्रतिहारी, तुच्छ. जो पवनंजयपर दया करेगी? वे अपने आपमे अपनेको अस्पृश्य शून्य अनुभव करने लगे। पर उन्हे लगा कि वह कोमलता हार नही मान रही हैं। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होकर उनकी सारी स्नायुओको बीधती हुई, शिरा-शिराको परिप्लावित करती हुई उनकी समस्त आत्मामे सिच गई है—परिव्याप्त हो गई है। वह अक्षत माधुर्य-धारा है, वह अमोघ अमृत है। नही. . . .उससे वे अपनेको बचा नही पा रहे हैं!

और जाने कब, जब आख खुली तो देखा—सामने रक्तकी एक भी बूंद नही है। है केवल फेन-सा रूईका एक पट्टा, जो उस पैरकी पिंडलीपर चमक रहा है।

एक गहरी नि.श्वास छोड़कर पवनंजय उठ बैठे। अपने ही आपमे उद्वेलित होकर, वे उस विशाल दीवानखानेमे बडे-बड़े डग भरते हुए चक्कर काटने लगे।

[१३]

अंजनाने पाया, अंतरके क्षितिजपर एक नवीन बोधका प्रभात फूट रहा है। ममत्वके इस नोड़में अब वह प्रश्रय नही खोज सकेगी। इस

नीडके सुनहले तिनकोमे दु ख और विषादके पुज घनीभूत हो रहे थे। मोहकी वह रात्रि अब तिरोहित हो गई है। नवीन प्रकाशके इस अनतमें उडनेको अब वह स्वतत्र है। प्रेम ममत्व नही है। दुःख और वेदनाकी यह मोहिनी ममत्वकी प्रसूता है।

पर अजना तो उत्सर्गिता है, अपनेको यो बाधकर वह नही रख सकेगी। और अपनेको वह रक्खेगी किस लिये? किस दिनके लिये और किसके लिये? क्या अपने ही लिये? पर वह अपनत्व शेष कहां रह गया है? वह तो छाया है, वह भ्राति है। यह दु ख और यह विषाद और ये आंसू, यह सब अपने ही को लेकर तो था। अचेतनके खोखलेपनमें मिथ्याकी प्रेत-छायाए खेलने लगी थी।

और मर्यादा किस लिये? मर्यादा तो वे आप है, जहा जाकर अपनेको लय कर देना है। इस राजमदिर और इस लोकालयकी मर्यादा उसके दृष्टि-पथमे नही आ रही है। इन किनारोमे जीवनको थामनेका क्या प्रयोजन है? और कौन है जो थाम सकेगा? वह जीवन जो हाथसे निकल चुका है और जिसकी स्वामिनी वह आप नही है!

उसे लगा कि अपने अनजाने ही अबतक वह मृत्युका वरण करनेमें लगी थी। प्रेमका वह निसर्ग स्रोत रुद्ध हो गया था। प्रेम आप ही अपनी मर्यादा है—उससे ऊपर होकर और कोई शील नही है। शील क्या दुरावमे है? वहा तो शीलकी ओट पाप पल रहा है।

सो, न देव-मदिरमे ही और न कक्षमें ही अब उसका सामायिक (आत्म-ध्यान) सभव रह गया है। प्रात-साय सामायिककी बेला होते ही वह चली जाती है, राजमदिरका सीमात लाघकर, दूरके उस मृग-वनमें।

पुडरीक सरोवरके उस पार बडी दूरतक चदनका एक वन फैला है। और ठीक उसके बाहर निकलते ही एक वन-खड आ गया है, जिसमें मृगोके झुड उन्मुक्त विचरते है। काफी दूरतक मैदान समतल है, उसके बाद कुछ पहाडिया और टीले है।

सबसे परे जो पहाडी है, उसका नाम अरुणाचल है। उसपर ऊचे तनेवाले नील-गिरिके झाडोकी एक कतार खडी है। पहाडीके ढालोमे कुछ झाडी-जगल है, तो कही-कही चट्टानो और पत्थरोकी आडमे वृक्षोसे छाये मृगोके आवास है। मैदानके बीच-बीचमे जो टीले इधर-उधर बिखरे है, वे ही मृगोके क्रीडा-पर्वत है। मैदान, टीले और पहाडियोपर हरियालीका स्निग्ध, शाद्वल प्रसार फैला है। समतलमे इधर-उधर नीलम-खडो-से जलाशय चमक रहे है; किनारे जिनके ऊची-ऊंची घास और जल-गुल्मोके पुज है। विचरते हुए मृग वहा पानी पीते दिखाई पडते है।

कही-कही वन-लताओसे छाई स्निग्ध, श्यामल वन्य-झाडिया फैली है, जिनमें खरगोश रहते है। उन जलाशयोके किनारे कासके बन-पुजोमेंसे कभी दुबके-से निकलकर सरंसे वे अपनी झाडियोमे जा छुपते है। अरुणा-चल पहाडीके उस पारसे कभी-कभी नील-गाय, साभर और बारह-सिगे भी नीलगिरिके झाडोके अतरालमे उतरकर इधर आया करते है।

दूर-दूरपर टोलो और पहाडियोकी हरियालीमे आकाशके किनारे वे मृग चरते दिखाई पडते है। उनके पीछेके बादल-खड उनके पैरोमे आते-से लगते है।

लगता है, सौंदर्य और प्रेम यहा गल-बाही डाले है। यहा सघर्ष नहीं है, घात नही है, कोई स्थूल शोषण नही है। अबोध प्रेमका यह दिव्य विहार है। जीवनाचरणमे यहा वैर नही है। समताका विपुल बोध यहा दिशातीतक प्रसरा है, मानो किसी सिद्धको यह निर्वाण-भूमि रही हो।

अजना प्रात-साय यहीं सामायिक करने आती है—अबूक। वर्षोपर वर्ष बीतते गये है, पर यह साधना उसकी अभग रही है। आयुष्यके अतीत होते तटोपर उसने पद-चिह्न नही छोडे है। अनागतकी कोई विकल प्रतीक्षा अनायास किसी बादलकी दुपहरीमे दूर वनांतके केका-सी पुकार उठती, किसी वसत-सध्याकी डालपर कोयल-सी टेर उठती! वह प्राणको समयातीतकर खीचती ही ले जाती, ऋतुओके पार—जीवन-समुद्रके

छोरोंपर। किसी अनादि उद्गमसे कामनाकी एक मुक्त तरंगिणी हहराती चली आ रही है, जो उन छोरोंमें आकर विसर्जित हो जाती है। वही एक आकर्षण है, जो सतहपर निर्वेद और प्रशांत है—पर भीतर निखिलके साथ एकतान होनेकी परम आकुलता है।

कायोत्सर्गकी यह साधना, उसकी हिमाचल-सी अचल है। 'देहसे नहीं पा सकी हूं, तो विदेह होकर पाऊंगी तुम्हें!'—उसके भीतर रह-रहकर गूंज उठता। सामायिकमें कभी-कभी वह गंभीर आवेदन-संवेदनसे भर आती। इंद्रियोंके बंध मानो अनायास आंसू बन-बनकर ढलक पड़ते, जैसे शृंखलाकी कड़ियां पिघलकर बिखर पड़ी हों। स्पर्श, रूप, रस, गंध, स्वरके भिन्न-भिन्न द्वार टूट-टूटकर खुल जाते, और एक प्रोज्ज्वल, निराकुल, अविकल्प सुखानुभूतिका सागर-सा खुल पड़ता। उसमें ज्योतिकी तरंगें उठ रही हैं। और वह लहरोंपर आनेवाला चिर-परिचित आलोक-पुरुष देखते-देखते आकर अंजनामें अंतर्धान हो जाता।

और आंख खोलते ही वह पाती, आस-पास खड़े मृग उसकी देहसे अंग सहला रहे हैं, उसके केशोंको सूंघ रहे हैं। उस केश-राशिमें वे उस गंधको पा गये हैं, जिसके लिये उनके प्राण चिर-कालसे विकल भटक रहे हैं। अबतक उस गंधके लिये कितनी ही बार वे छले गये हैं। प्राणोंकी बाजी लगाकर भी वे उसे नहीं पा सके हैं। पर इस देहकी ऊष्मामें, इन केशोंकी गंधमें वे अभय तृप्ति पा रहे हैं, आत्म-पर्यवसित हो रहे हैं। यहां छल नहीं है, मृत्यु नहीं है। यहां परम शरण है।

चाहे कैसी ही दुर्निवार बादल बेला हो, कैसा ही दुर्धर्ष शीतकाल हो, कैसी ही बेधक हवायें चल रही हों, कैसा ही प्रचंड ग्रीष्म तप रहा हो, और चाहे फिर वसंतकी कुसुम-बेला हो, इस सीमांतपर आत्म-ध्यानके लिये अंजनाका आना ध्रुवकी तरह अटल था।

वे खरगोश-शिशु अंजनाकी बांहोंके सहारे, उस सर्व-काम्य वक्ष-पर लिपटकर आश्वस्त हो जाते। एक आकर्षणकी हिलोर-सी आती।

वह चल पड़ती मृगोंके उस लीला-काननमें। मृग-शावक उसकी कटिपर झूमते, अन्य मृग-मृगियाँ उसके उड़ते हुए दुकूलको खींचते। अजना खर-गोशोंको आचलमे ढाप लेती। आस-पास झूमते मृग-मृगियोंके गल-बहियां डालकर, उनकी गर्दन और पीठपर अपनी गर्दन डाल देती; गालो और आखोसे उनके शरीरके मृदु रोओका रभस करती। अग-अग उनपर निछावर होता। उनकी आखोमे आखें डालकर देखती—जाने किन चिरकाम्य रूपका दर्शन उनमें हो जाता। निराकुल, विदेह सुखमें मूर्छित होकर वह मुस्करा देती। निगूढ लज्जामें अग-अग पुलक-सजल हो उठता। आह, कौन छू गया है . ? अननुभूत है यह स्पर्श—चिर दिनसे जिसकी चाह प्राणोमे घनी होती गई है !

यो ही उन पशुओके साथ निर्लक्ष्य भटकती, खेलती वह उस अरुणाचलतक चली जाती। कभी-कभी उस पहाडीपर, नील-गिरिकी वनानीमें पहाडीके उस पारके छुटुक-फुटुक बिखरे भिल्ल-ग्रामोंकी वन-कन्याये मिल जाती। वर्षाकी नदियो-सी वे श्यामला हैं। कच्चे रसालोकी रस-भार-नम्र स्निग्ध घटाओ-सा उनका यौवन है—अनावृत और अबध्य। गिरि-घाटियोके—हिंस्र-जतु-सकुल प्रदेशोमें वे अभय विचरती हैं। दुर्जेय और दुरत है उनका कौमार्य। तीरके फलपर—परखे जानेवाले वीर्यका वे वरण करती है। कटिपर वे नाम मात्र का वसन बाध लेती है—या फिर वल्कल। ऋतु-पर्वोपर वे पत्तोके वसन पहन आती है, कानोमें कलियों और कच्चे फलोके झुमके और माथेपर तथा गलेमें जगली फूलोकी माला। उनकी उद्दड बाहोमें पार्वत्य उपलोके वलय पड़े रहते और पैरोमें कासेकी कड़िया।

अनायास वे अजनाकी सहेलिया बन गई थी। कहानी भर जिसकी वे अपनी दादियोसे सुनती, और निरतर जिस वन-लक्ष्मीकी उन्हे खोज थी, उसे ही शायद वे एकाएक पा गई है—ऐसा उन्हे आभास होता। वह 'वन-लक्ष्मी' किस दिशासे कब आ जाती है, वे खोजकर भी पता नहीं

पा सकी हैं। आदित्यपुरकी युवराज्ञी उनकी कल्पनाके बाहर है, फिर उससे उन्हें प्रयोजन ही क्या हो सकता है। राजोपवनकी सीमा उनके लिये वर्जित प्रदेश है, सो उस ओरसे वे उदासीन हैं। कभी-कभी दूर से ही कौतूहल भर करके वे रह जाती हैं।

थोड़े ही दिनोंमें अजनाने उनकी प्रकृत भाषाको सहज ही अपना लिया। उनकी सारी अत प्रकृतिसे उसका निसर्ग परिचय होता चला। वे अपनी ही भाषामें अजनाकी बातें सुनती। जन्मोंके अज्ञानकी अधेरी गुहाओंका तम भिदने लगता। उनके भीतर अजनाके शब्द प्रकाशके विदुओंकी तरह फूटने लगते। वाणी सिद्ध हो चली।। अनादिकालके जडावरणोंमें, जिनसे आत्मा रुद्ध है, वह वाणी अव्याबाध प्रवेश करती चली।

उन्हें ज्ञान-दान देनेका कोई कर्तव्य-भाव बाहरसे अजनामें नही जागा है। उसकी उन्मुखतामें ही सहज उन अज्ञानी मानव-प्राणियोंके लिये उसका सहवेदन गहरा होता गया है। उसके भीतरसे निरतर पुकार आ रही है—वही उसका सकल्प है और वाचामें फूटकर वही कर्म-मय होता गया है। अक्षर-बद्ध और वचन-बद्ध किसी निश्चित ज्ञानकी शिक्षा देनेकी चेष्टा उसमें नही है। उस ज्ञानमें सघर्ष सभव है—वितर्क सभव है। पर प्रेमकी इस अजस्र वाणीमें केवल बोध ही फूटता है—एक सर्वोदयी, साम्य-भावी बोध—जीवन-मात्रका मगल-कल्याण ही जिसका प्रकाश है। इस ज्ञान-दानमें बुद्धिका अहं-गौरव सभव नही है। 'मैं इन्हें ज्ञान दे रही हू!' यह सतर्क प्रभुत्वका भाव नही है। यह दान तो अजनाकी विवशता है—उसकी आत्म-वेदनाका प्रतिफल है, जो देकर ही निस्तार है। सिखाना उसे कुछ नही है—वह तो वह स्वय सीखना चाहती है—स्वय जानना चाहती है। उसीका नम्र अनुरोध मात्र है यह वाणी—जिसमेंसे ज्ञान झिरियोंकी तरह आप ही फूट रहा है।

निपट अकिंचन और उन्हीं-सी निर्बोध होकर अंजना उनसे अपनी बात कहती है। आस-पासकी यह विशाल प्रकृति, जिसकी कि वे

पृथिया हैं, उसीकी भाषा—उसीके सकेत और उपकरणोके सहारे वह अपनेको व्यक्त करती हैं। पहाड, नदिया, चट्टाने, गुफाए, झरने-जंगल, जीव-जतुओको ही लेकर जाने कितनी न कथा-वार्ताए कही जाती है—कितने न रूपकोका आविष्कार होता है। वे भिल्ल-बालाए अपने जगली जीवनोमे परपरासे चली आई, कई दु साहसकी दत-कथाए सुनाती। नाना पशु-पक्षियोके और मानवोके घात-प्रतिघात और सघर्षोके वृत्त उनमे होते। उनके जीवनोका गहन, प्रकृत परिचय पाकर अजनाकी आत्मीयता सर्व-स्पर्शी हो फैल जाती। वह उन्ही कहानियोको उलट-पुलटकर—उनकी हिंस्र क्रूरताओंके बीच-बीचमे बडी ही स्वाभाविकतासे कोई प्रेमके वृत्त जोड देती। वे बालाए जिज्ञासासे भर आती। उनकी निर्विकार चचल आखोमे सहवेदनकी करुणा छल-छला आती। वे अजनाके ही शब्दोमे अनायास बोलकर प्रश्न कर उठती। क्रीडा-कौतुक मात्रमे अजना समाधान कर देती। वे ज़ोर-जोरसे खिलखिलाकर हस पडती। गुजान हसीसे वनस्थली गूज उठती। वे बाते उन्हे कभी नही भूलती। वे तो मानो प्रकृतिके पटपर लिखे गये अक्षर है, जो सदा ध्वनित होते रहते है—इन झरनोमे, इन हवाओमे, इन झाडियोमे।

किसी उत्सवके दिन यदि वे अजनाको पा जाती तो बनके फूल-पत्तियों-से उसका अभिषेक कर देती। पैरोमे घूघुर बांधकर आती और अजनाके चारो ओर वृत्तमें झूमर देकर नाचती, हिंडोल भरे मदमाते रागोमें अपने जगली गीत गाती। तब अंजनाको सुनाई पड़ता—उस जगल-पाटीमें दूर-दूर तक फैले पुरवोसे उत्सवकी गान-ध्वनिया आ रही है। बीच-बीचमें ढोलक और खजडी अविराम बज रही है। पृथ्वीकी परिक्रमा देता हुआ यह स्वर आ रहा है। एक अनिवार आकर्षण अजनाके शरीरके तार-तारमें बज उठता। जीवन . . .जीवन . . .जीवन ! उन पुरवोमें होकर—उन दूर-सुदूरके अपरिचित मानवोमे होकर ही उसका मार्ग गया है। अरे क्यो है यह अपरिचय, क्यों है यह अज्ञान—क्यों है यह

अलगाव? असह्य है उसे यह आवरण, यह मर्यादा। इस सबको छिन्न कर उसे आगे बढ जाना है, उसे चले ही जाना है, जीवन पुकार रहा है!

और ठीक उसी क्षण उसे अपनी वस्तुस्थितिका भान हो आता। उन परिजनोका क्या होगा? उनके दुखोकी बोझिल सांकलें उसके पैरोमे बज उठती हैं। मोह है यह, क्यो वे अपने ममत्वसे घिरे हैं? इसी कारण क्या नही है—यह दुखोकी अभेद्य भव-रात्रि—यह मूर्छनाका अधकार? इसी कारण यह अज्ञता और अपरिचय है—इसी कारण यह राग-द्वेष और अपना-पराया है। पर उनके प्रति वह करुणा और सहानुभूतिसे भर आती है। उनका दुख उसे ही लेकर तो है—वे भी तो पर दुख-कातर हैं। उनकी वेदनाको भी उसे झेलना ही होगा। उनके और अपने दुखोकी सकुलताको चीरकर ही राह मिलेगी। नही, उन्हें छोडकर वह नही जा सकेगी। वह शायद जीवनसे मुह मोड़ना होगा—पराजितका पलायन होगा। वह स्वार्थ है—अपने ही स्वच्छद सुखकी खोजमे औरोकी उपेक्षा है। कर्तव्य और दायित्व उसका समग्रके प्रति है, लोक और लोकालय उससे बाहर नही है। वह जायेगी किसी दिन, उपेक्षा करके नही, उनके प्रेमकी अनुमति लेकर—आर्शीर्वाद लेकर। तब वह निश्चित होगी, मुक्त होगी और सबके साथ होगी। यों टूटकर और छूटकर वह नही जायेगी। एकाकारिताकी इस साधनामे वह अलगावका क्षत अपने पीछे नही छोडेगी। मनमे कोई फास लेकर वह नहीं जायेगी। कोई दूरी, कोई विरह-वियोग, कोई अभावका शून्य वह नहीं रहने देगी!

...कि एक सुदीर्घ-विरह-रात्रिका प्रसार उसके हृदयमें झाक उठता. कौन आया चाहता है. ?

योंही वर्षपर वर्ष बीतते जाते हैं। मृग-वनकी शिलापर जब प्रातः सामायिकसे निवृत्त हो वह आख खोलती तो अरुणाचलपर बालसूर्यका उदय होता दीख पडता। साझका कायोत्सर्ग कर जब वह आख उठाती,

तो नील-गिरिकी बनालीमे पीताभ चद्र उदय होता दिखाई पडता। वह जो सतत आ रहा है. . परम पुरुष. . . उसीके तो आभावलय है ये बिब। और उन बिबोमे होकर कोई मृग छलाग भरता निकल जाता है योही वर्ष भाग रहे है काल भाग रहा है और उसके ऊपर होकर अबाधित चला आ रहा है वह अतिथि!

[१४]

राजोपवनके दक्षिण छोरपर जो खेतोका विस्तार है, उसके उस किनारे कृषको और गोपोके छोटे-छोटे गांव बसे है। वही थोडे-थोडे फासलेसे राज-परिकरके सेवकोकी बस्तिया है। सबकी अपनी स्वतत्र धरती है, गोधन है। राज-सेवा वे स्वेच्छतया करते है। राजा और राजके प्रति उनमे सहज कर्तव्य का भाव है। उनका विश्वास है कि राजा प्रजाके माता-पिता है; जीवन, धन और धरतीके रक्षक है, पालक प्रजापति है।

कुछ वर्ष पहले एक गोप-बस्तीकी सीमापर, एक शिशिरके सवेरे, कुहरेमेसे आती हुई एक साध्वी दीखी थी। सालवनके तले पनघट और वापिकाओपर पानी भरती हुई गोप-वधुए उसे कौतूहलकी आखोसे देखती रह गई। निकट आकर वह साध्वी खेतमे बने एक चबूतरेपर बैठ गई। पहले तो वे वधुए मारे अचरजके ठिठकी रही, फिर कुछ हंसकर परस्पर काना-फूसी करने लगी। साध्वियाँ तो आती ही रहती है—पर ऐसा रूप? कोई देवागना न हो!

एक दूसरीसे जुडी-गुथी वे वधुए पास सरक आई। कुछ दूर खडी रहकर वे देखती रह गई—अवाक् और स्तब्ध। विचित्र है यह साध्वी! बालिका-सी लगती है। गभीर है, पर रह-रहकर चचल हो जाती है। बरफ-सी उजली देहपर, दूधकी धारा-सा दुकूल है; पीठपर विपुल केश-भार पडा है, जो गालोको ढकता हुआ कधो और भुजाओपर भी छाया है।

वह बडी-बडी सरल आखोसे उनकी ओर देख मुस्करा रही है, जैसे बुला रही हो। पर न हाथ उठाकर सकेत करती है, न पुकारती है।

मुहूर्त भरमें ही वे सब वधुए जाने कब पास चली आई। भूमिपर सिर छुआकर सबने प्रणाम किया।

"अरे-अरे, छि: छि:—यह क्या करती हो! मुझे लजाओ नही। क्या मैं तुमसे बडी हू? मैं तो तुमसे छोटी हू, और तुम्हींमेंसे एक हूं, तुम्हारी छोटी बहन, क्या मुझे नही पहचानती . ?"

सब अवाक् आश्चर्यसे उस ओर देख उठी। सचमुच जैसे बरसोंसे पहचानती है; कही देखा है कभी, पर याद नही आ रहा है। एक निगूढ़ स्मृतिके सवेदनसे रोम-रोम सजल हो आया। ये आखें, यह पारदर्शी मुस्कराहट। और सबसे अधिक आत्मीय है इस कठकी वाणी। पर विचित्र है यह साध्वी। अरे इसके हाथोमें वलय है, और भालपर तिलक है! साध्वियोके वलय और तिलक तो नही होता। पर मन इसे देख-कर बरबस श्रद्धासे भर आता है, पता पूछनेका जी ही नही होता। केवल एक आश्वासन भीतर अनायास जाग उठता है।

"हा ...हा . हा मैं सब समझ गई हू, तुम्हारे मनोमें क्या है! ....पूछ देखो न, तुम्हारे मनकी बात जानती हू कि नही!"

वधुओको लगा, जैसे इससे कुछ छुपा नही है। पहले जिन प्रश्नो और जिज्ञासाओको किसीसे नही पूछा था—अपने अभिन्न वल्लभसे भी नही—वे सब अतिम प्रश्न मनमे खुल-खिल उठे। लज्जा मर्यादासे परे हैं वे अतरकी गोपन पहेलियां। एक-एककर उन्होने पूछ डाले वे प्रश्न। वह साध्वी सुनकर मुस्करा आती है, उन प्रश्नोके वह सीधे उत्तर नही देती है। वह छोटी-छोटी, सुगम और रजनकारी कहानिया कहती है। लीला करती है, विनोद करती है, और जाने कब बधुए समाधान पा जाती है।

हवा बात ले गई। कुछ ही दिनोमे आस-पासकी सारी बस्तियों और गांवोके किनारोंपर वह साध्वी दिखाई पड़ने लगी। अनिश्चित

कालान्तरालसे अतिथिकी तरह कभी-कभी वह आती। ग्रामके बाहरकी किसी पाथ-शालामे, किसी मदिरके चबूतरेपर, किसी शिलातलपर, या किसी वृक्षके तले पत्तोंपर वह एकाएक बैठी दिखाई पडती। देखते-देखते ग्राम-जन, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी जुट जाते। वह कब कहासे आती और कहा चली जाती, यह जाननेका कुतूहल लोगोंका अब मिट चला था। वलय और तिलक भी नगण्य हो गये थे। निश्चित वह कोई साध्वी है, जो तत्वको पा गई है। क्योकि वह उन सबोके हृदयोंकी स्वामिनी हो चली थी—इन्ही कुछ वर्षोंमे। और साध्वीका कौन स्थान, क्या पता और क्या समय ? वह उन्हे सुप्राप्त थी। चली जाती और बहुत दिनोमे आती, उसका कुछ ठीक नही था। पर वह उस लोक-जीवनका हृदय-स्पदन बन गई थी। वह जीवनके केंद्रमे बस गई थी, सो सदा उनके साथ थी।

ग्राम-जन अपने सुख-दुखोकी बात कहते। जीवनके बाह्य आधारोमे सभी तुष्ट थे। रोटीका सघर्ष नही था—भौतिक जीवन-सामग्री सब स्वाधीन थी और अपार थी। सुख-दुख थे मनके वैकारिक सघर्षोंको लेकर ही। जिज्ञासाएँ जन्म-मरण, रोग-शोक, हर्ष-विषाद और मुक्तिको लेकर थी। प्रति दिनके मानवीय सबधोमे जो राग और द्वेषकी रगड है, हार-जीत है, क्रोध, मान, माया, लोभका जो सूक्ष्म संघर्ष सर्वव्यापी है; जिसे जानते हुए भी उसकी जडतक पहुचकर हम उसे ठीक नही कर पाते, उसीको लेकर उनकी समस्याये थी। सबसे अधिक प्रबलता थी मानकी, प्रभुत्वकी, अधिकार और स्वामित्वकी।

साध्वीके उत्तर बहुत सरल और सीधे होते। वे सबकी समझमे आते। वह सूत्र-वाणी बोलती। एक उत्तरमे कई प्रश्नोके उत्तर एक साथ मिल जाते। कमलकी पखडीमेंसे पखड़ी खुलती जाती। चेतनके अतरालोमें उजाला छा जाता। व्यक्तिकी सीमाए मानो लोप होने लगती। जन-जनमें एक ही प्राणकी अविच्छिन्न धारा दौड़ने लगती। समस्त

चराचरकी विशाल एकताके बोधमे मन आप्लावित हो जाते। जन्मोकी विच्छेद-वार्ता पुलकोके आँसू बनकर झर जाती।

साध्वीके बोल लोक-कण्ठमें बस चले—

"अपनेको बहोत मत मानो, क्योंकि वहा सारे रोगोंकी जड है। मानना ही तो मान है। मान सीमा है। आत्मातो असीम है और सर्वव्यापी है। निखिल लोकालोक उसमे समाया है। वस्तु मात्र तुममे है—तुम्हारे ज्ञानमे है। बाहरसे कुछ पाना नही है। बाहरसे पाने और अपनानेकी कोशिश लोभ है। वह, जो अपना है उसीको खो देना है, उसीको पर बना देना है। मानने हमें छोटा कर दिया है, जानने-देखनेकी शक्तियोको मद कर दिया है। हम अपने हीमे घिर रहते हैं। इसीसे चोट लगती है—दुख होता है। इसीसे राग है, द्वेष है, रगड है। सबको अपनेमे पाओ—भीतरके अनुभवसे पाओ। बाहरसे पानेकी कोशिश माया है, झूठ है, वासना है। उसीको प्रभुने मिथ्यात्व कहा है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष सब तुम्हीमे है। उनका होना तुम्हारे ज्ञानपर कायम है। कहा न कि तुम्हारा जीव सत्ता मात्रके प्रमाण है; वह सिमटकर क्षुद्र हो गया है, तुम्हारे 'मैं'के कारण। 'मै'को मिटाकर 'सब' बन जाओ। जानने-देखनेकी, तुम्हारी, सबसे बडी शक्तिका परिचय इसीमे है।

"समग्रको जाननेकी इच्छाका नाम ही प्रेम है—वही धर्म है। जानने की व्यथाको गहरी होने दो। जितनी ही वह गहरी होगी, आपा खिरता जायगा, सबके प्रति अपनापा बढता जायगा। यही प्रेमका मार्ग है—धर्म का मार्ग है। मुक्ति चाहनेकी चीज नही है। उसका ध्यान भुला दो।

मुक्तिको लेकर ही हममे काक्षा और गर्व जागेगा तो क्या मुक्ति मिलेगी ? वह तो बधन ही होगा। अपनेको मिटाओ; मुक्ति आप ही मिल जायेगी। मुक्ति कोई स्थान विशेष नही है—वह समग्रकी प्राप्तिमें है, सब-रूप हो जानेमें है. . "

ग्राम-जन वात्सल्य-वश फल, दूध-दही, मक्खनकी मधुकरी ले आते। साध्वीके पैर पकड लेते कि उनका उपहार लेना ही होगा। वह हाथकी अंजुलिमें लेकर उसे सिरसे लगा लेती—और आस-पासके बालकोंमें बाट देती। पीछेसे स्वल्प प्रसाद ग्रहणकर आप भी कृतार्थ होती। दोनो जुडे हाथोपर सिर नवाकर ग्राम-जनोको नमस्कार करती और चल देती—खेतके पथपर, मृग-वनकी ओर।

लोक-जनोमे एक जिज्ञासा बनी हुई थी—कैसी है यह साध्वी, जो अज्ञानियोको नमन् करती है ? ऐसी साध्वी तो नही सुनी। सच-मुच विचित्र है वह !

[१५]

मृग-वनसे सध्याका सामायिक कर अजना अपने महलको लौट रही है। बाहर रात अघेरी है, शीत बहुत तीव्र है। अजना अकेली ही चली आ रही है।

ऊपर आकर उसने पाया, उसके कक्षमे महादेवी केतुमती बैठी है। पास ही वसतमाला और जयमाला बैठी है। राजमाता गभीर है और चुप है। कक्षमे एक क्षुब्ध खामोशी है। देखकर अजना स्तब्ध रह गई....! आशातीत और अभूतपूर्व है यह घटना। जबसे वह इस महलमे राज-बधू बनकर आई है, इतने वर्ष निकल गये है, महादेवी यहां कभी नही आई। यहा जो ज्वाला निर्धूम जल रही है, उसे देखनेकी छाती शायद राजमाताकी नही थी। दूरसे इस सौधका रत्न-दीप देखकर ही उनका हृदय दुखसे फटने लगता था। पर आज....? आज कौन ऐसी असाधारण स्थिति उत्पन्न हुई है, कि कलेजेपर पत्थर रखकर वे यहां चली आई है। देखकर अंजना भौंचक-सी रह गई। क्षणभर कक्षकी देहरीमें ठिठक गई।....सपना जैसे भग हो गया। वस्तुस्थितिका

भान हुआ। अंतर्लोक लुप्त हो गया। उसने पाया कि वह बाहरके व्यवहार जगतमें है।

दूसरे ही क्षण वह नम्र, विनत हो आई। आकर उसने महादेवी-के चरण छुए, और पास ही वह दुलकी-सी बैठ गई। आखे उठाने और कुशल-वार्ता पूछनेकी बात दूर, यहा होना ही उसे दूभर हो गया है। अपने आपमें वह मुँदी जाती है। जैसे सिमटकर शून्य हो जाना चाहती है—धरतीमें समा जाना चाहती है।

गभीर स्वरमें महादेवीने स्तब्धता भग की—

"देखती हू बेटी, तुम्हारा चित्त महलमें नही है। कुलके परिजनोसे नाता-नेह नही रहा ? पर वह तो हमारे ही प्रारब्धका दोष है। घरका जाया ही जब अपना न हो सका, तो तुम तो पराये घरकी लड़की हो, कौनसा मुह लेकर तुमसे अपनी होनेको कहू ? पर राजकुलकी मर्यादा लोप हो गई है ! लोकमें अपवाद हो रहा है; तब तुम्हारे निकट प्रार्थिनी होकर आनेको बाध्य हुई हू। बहुत दिन तुम्हारी राह देखी, सदेशे भेजे, पर तुम तक वे पहुँच न सके, तब और क्या चारा था ?

"मृग-वनके सीमातपर तुम सामायिक करने जाती थी, सुना, तो सोचा कोई बात नही है, वह अतःपुरका ही क्रीडा-प्रदेश है। पर वहां भी तुम्हारा सामायिक न हो सका ! तब अरुणाचलकी पहाडी तुम्हे लांघनी पडी—भील-कन्याये तुम्हारी सहचरिया हो गई। यहाकी प्रतिहारियो और सखियोका सग तुम्हे असह्य हो गया। तुम अकेली ही जाने लगी। फिर तो गोप-बस्तियो, कृषक-ग्रामो और राज-सेवकोकी वसतिकाओमें भी तुम्हारा स्वच्छद विचरण शुरू हो गया। सुनकर विश्वास नहीं हुआ—सब पीती ही गई हू। पर आज समस्त आदित्यपुर नगरमें राज-वधूके स्वैर-विहारपर चर्चाएं हो रही हैं ! और इस वेषमें . . . ? तुम्हे कौन पहचानता कि तुम राजकुलकी वधू हो ? इसीसे तो विचित्र कहानियां कही जा रही है। अपने लिये न सही, पर इस

घरकी लाज तुम्हे निभानी थी। कुलके शील और मर्यादाकी लीक तुमने तोड दी। आदित्यपुरकी युवराज्ञी ग्राम-जनो, मालिनियो और सेवकोंके बीच भटकती फिरे ? क्या यही है उसका शील और मर्यादा ? क्या यही है उसकी शोभा ? तुम्हारे दुखमे मेरा दुख अलग नही है, पर कहे बिना रहा नहीं जाता। क्या यह भूल गई हो अजना, कि तुम परित्यक्ता हो—पदच्युता हो ? किसके गर्वपर तुम्हारे ये स्वच्छद क्रीडा और विहार ? जो चाहो करो, पर कुलकी मर्यादा नही लोपी जा सकेगी ..।"

दुखित कठसे, परतु अकुठित तीव्रता और आवेगसे राजमाताने सब कह डाला, और चुप हो गई। अजना अचल बैठी थी, पर भीतर उसके भूचाल था। उत्तर देनेको चेतना उसमे नही थी।

जब अजनाको चेत आया तो पाया कि राजमाता, वसत, जयमाला और बाहर बैठी हुई प्रतिहारिया सब जा चुके है। वह अपने कक्षमे अकेली है। वसत इन दिनो प्राय. उसके पास होती है—पर आज वह भी नही है। अपने तल्पपर जाकर वह औधी लेट गई। नही है वसत तो उसे शिकायत क्यो हो ? उसके पति फिर आ गये है, उसके अपने बच्चे है, वह अपने घर गई होगी। और उसने कब किसीकी अपेक्षा की है ? जिस दिन पहली ही बार वह राजोपवनकी सीमा लाघकर जबू-वनमे गई थी, उसी दिन वहासे लौटते हुए उसने पाया था कि—वसत अब उसके साथ नही है। अजनाकी मुक्तता उसे सह्य नही है। वह चिर दिनकी सखी, जीजी भी बिछुडती ही गई। और उसे ठीक-ठीक याद नही कि वह कब पीछे छूट गई। फिर बीच-बीचमें वसत महेद्रपुर भी चली जाती। उसकी ससुराल वही थी—और पीहर भी वही था। पर अजना....? वह भी तो महेंद्रपुर जा सकती थी ? पर वह नही गई। पिता और भाई, एक-एककर सभी उसे कई बार लिवाने आये—यहांतक कि मा भी आईं, उसके पैरतक

पकड लिये, रो-रोकर हार गई। पर अजना अपनेको लौटा न सकी। उसे स्वय इसके लिये मनमें कम सताप और ग्लानि नही थी। पर.... पर अब उसका पथ बदल चुका था, उसपर बहुत दूर निकल गई थी; वहांसे लौटना उसका समव नही था। यह उसकी विवशता थी। और फिर कौनसा मुह लेकर वह महेंद्रपुर जाती ? अपनी जन्मभूमिको बार-बार उसने सजल आंखोसे प्रणाम किया है—और तब अपने भाग्यको कोस-कोस डाला है। अपने कौमार्यकी वह स्वप्न-भूमि अब उसके लिये दूरसे ही वंदनीय थी। पर तब सामने कितने ही नवीन लोकोके अंतराल जो खुलते जा रहे थे।

वेदनाका कुहासा एक दिन अनायास फट गया था, और वह नवीन सवेरेके प्रकाशमें बढ़ती ही चली गई। तब उसे यह ध्यान नही रहा कि कौन पीछे छूट गया है ? उसने पाया कि उसकी यात्रा निःसंग है। उस पथका सगी कोई नही होता। प्रतिहारियो, दासियों और सखियोको सहज ही उसने यह जता दिया था, कि बिना काम और बिना कारण उसके साथ किसीको रहनेकी बाध्यता नहीं है। और सामायिकमें सेविकाओ और सगिनियोका क्या होता ? और उसके वे भ्रमण ? उसमे बाधा कहा थी ? वह कही भी तो न अटक सकी। कोई रोक भीतरसे नही हुई। वसतने एकाध बार कुछ सकेत किया था, पर वह सब उसकी समझमें न आ सका था। वह कुछ बहुत बाहरका स्थूल लोकाचार था—जो आत्माके मूल्योपर आधारित नही दीखा। वसतिकाओ और ग्रामोमें वह क्यो गई ? इसका कोई उत्तर उसके पास नही है। यह सब वह अपने भीतर उपलब्ध करती गई है। अतरकी पुकारने उसे वहां पहुचाया है। 'शिरीष-कानन'के 'अशोक-चैत्य'के दर्शन करके वह लौटती—तब वे वसतिकाए उसकी राहमें पडती थीं। कहां थी वे उसकी राहके बाहर ?

लाज, कुल, शील, मर्यादा, प्रारब्ध, विवाह, परित्यक्ता, पद-

च्युता, लोकापवाद—एकके बाद एक सफेद प्रेतोकी एक श्रेणी-सी उठ खडी हुई, और वे सारे प्रेत आपसमे टकराने लगे। देखते-देखते एक भीमाकार अधेरेकी प्राचीर-सी उसके सामने उठने लगी। ...और अगले ही क्षण एक अनिर्वार विप्लवकी झंझाए जैसे उसके समस्त देह, मन-प्राणमे मडराने लगी . । और भीतरके तल-देशसे एक करुण प्रश्नकी चीत्कार-सी सुनाई पडी—"आह वे माता-पिता, वे भाई, ये सास-माता और श्वसुर-पिता, वसत और ये सब परिजन—? क्या होगा इन सबका ? इन सबका ऋण वह कैसे चुकाये ? वे कितने विवश है ?—अपने सीमा-बधनोमे वे छट-पटा रहे है। वह कैसे उन्हे मुक्त करे इन रूढताओसे—इस मिथ्यात्वसे ? वह कैसे उन्हे समझाये ?... पर, वह कब उन्हे छोडकर गई है ? उन्हीका प्रेम और कृतज्ञता क्या बार-बार उसे खीचकर नही लौटा लाये है ? . .एकाएक वे प्रलयके बादल फट गये। आसुओका एक अकूल पारावार सारे तटोको तोडकर लहरा उठा। नही, आज वह नही पी सकेगी, ये आसू ! यह अपने लिये रोना नही है। सर्वके प्रति उसका यह आत्म-निवेदन है। कहा है इस प्रवाहकी सीमा—वह स्वय नही जानती .

" .. ओ मेरे मर्यादा-पुरुषोत्तम ! तुम हो मेरी मर्यादा, और तुम्ही उसकी रक्षा करो। मै तो केवल बहना जानती हू, टूट चुकी हू लहर-लहरमे । अब राहमे विश्राम कहा है .. जबतक उन चरणोमे आकर लीन न हो जाऊ ? ...और बाहरका कोई शासन-अनुशासन मुझे मान्य नही, इसीसे अग्नि-परीक्षाए अब समुख है। मुस्कराता हुआ मेरा सत्य इस ज्वाल-पथपर चला चले, वह बल मुझे दान करो, देव ! कुलकी लीक क्या तुमसे भी बडी है ? कौनसी मर्यादा है, जो तुमतक आनेमे मुझे रोक सकेगी ? प्रवाहकी इन लहरोमें वह आप ही टूट जायेगी। उसमें मेरा क्या दोष है ? बोलो न, चुप क्यो हो ? तुम्हारी शरणमे सब सुरक्षित हैं। इह लोक, परलोक, स्वर्ग-नरक,

मुक्ति, सब वही चढ़ाकर अब निश्चिंत होकर चल रही हूँ। कोई दुविधा नहीं है। . . . वे सतत आरहे चरण कब आंखोंसे ओझल हुए हैं . . . ?"
. . . . और इसी बीच जाने कब उसकी आंख लग गई।

[१६]

सवेरे जब ब्राह्म-मुहूर्तमें अंजना जागी, तो मन उसका शरदके आकाश-सा स्वच्छ और हलका था। कोई दुविधा नहीं थी, कहीं भी कोई अर्गला नहीं थी। वह निर्द्वंद्व चली गई, अटल अपने पथपर।

मृगवनकी शिलापर जब उसने कायोत्सर्गसे आंखें खोली, तो अरुणाचलपर बाल-सूर्यका उदय हो रहा था। उसमें दीखा कि एक तरुण-अरुण विद्रोही चला आ रहा है, उसके उठे हुए दाएँ हाथकी उंगलीपर एक आग्नेय चक्र घूम रहा है। अपने पैरोंमें सापों-सी लहराती अंधकारकी राशियोंको वह भेदता हुआ चल रहा है . !

एक अदम्य आत्म-निष्ठासे अंजना भर उठी। नहीं, वह असत्यको सिर नहीं झुकायेगी—वह मिथ्याको शिरोधार्य नहीं कर सकेगी। वह प्रतिषेध करेगी। वह दुराग्रह नहीं है, वह तो सत्यका पावन अनुरोध है। वह घात नहीं करेगा, वह कल्याण ही करेगा।

चित्तमें आज उसके अपूर्व चिन्मयता और प्रसन्नता है। वह मृग-वनसे सीधी पुंडरीक-सरोवरके तीरपर चली आई। महलसे चलती बेर प्रतिहारीको आदेश कर आई थी कि वह देवी वसंतमालाको जाकर सूचित कर दे कि आज सरोवरके 'गंध-कुटि' चैत्यमें पूजाका आयोजन करें।

पुंडरीक सरोवरके बीचोंबीच अमृत-फेन-सा उजला मर्मरका 'गंध-कुटि' चैत्य है, जिसमें प्रभुके समव-सरणकी बड़ी ही भव्य और दिव्य रचना है। सरोवरके किनारे जो दूरतक मर्मरका देव-रम्य घाट फैला है, उसपर थोड़े-थोड़े अंतरसे जलपर झुके हुए वातायन हैं। तीर से चैत्य तक

जानेके लिये, एक सुंदर पच्चीकारीके रेलिंगवाला मर्मरका ही पुल बना है।

वसंत वेदीपर पूजार्घ्य सजोये अंजनाकी राह देख रही थी। अंजनाके हृदयमें आज सुख नहीं समा रहा था। आई तो वसंतको हिये भरकर मिली, जैसे आज कोई नया ही मिलन है। नई है आजकी धूप, आजकी छाया, आस-पासका यह हरिताभासे भरा उद्यान, ये कुंज, ये घाट, ये झरोखे, जल, स्थल और आकाश, सब नया है। अणु-अणु एक अपूर्व, अद्भुत नावीन्यमें मुग्ध और सुंदर हो उठा है। दोनों बहनोंने बड़े तल्लीन भक्ति-भावमें पूजा की। शांति-धारा और विसर्जनके उपरांत अंजनाने बड़े ही संवेदनशील कंठसे प्रभुके समुख आत्मालोचन किया और अंतमें अपने आपको निवेदन कर नत हो गई।

पूजा समाप्त होनेपर, दोनों बहनें चैत्यकी छतपर आकर, एक झरोखेमें बिछी शीतल-पाटियोंपर बैठ गईं। चारों ओर सुनील जल प्रसारकी ऊर्मिलता है। देखते ही अंजनाको जैसे चैतन्यके शुद्ध और चिर नवीन परिणमनका आभास हुआ!

अवसर पाकर वसंतने धीरेसे पूछा—'अंजन, कल रात जो महादेवीने कहा, उस संबंधमें तूने क्या सोचा है?"

प्रश्न सुनकर क्षणैक अंजनाकी आंखें मुंद रहीं, भृकुटि में एक वलय-सा पड़ा और तब मर्मसे भरी वह वेधक दृष्टि उठी। बड़े ही धीर और गंभीर स्वरमें वह बोली—

"सोचकर भी उस सबका कुछ ठीक-ठीक अर्थ मैं नहीं समझ पाई हूं। कुलकी मर्यादा मैंने लोप दी है? यह कुलकी मर्यादा कौनसी ध्रुव लकीर है और वह कहां है, सो मैं ठीक-ठीक नहीं चीन्ह सकी हूं। प्राणि और प्राणिकी प्रकृत एकताके बीच क्या कोई बाधाकी लकीर खींची जा सकती है? ...और यह कुलीनता क्या है? माना कि गोत्रकर्म है और उससे ऊंच-नीच कुल या स्थितिमें जन्म होता है। पर कर्मोंके चक्रव्यूह तो भेदते ही चलना है। क्या कर्म पालनेकी चीज

है ? क्या वह संचय करनेकी चीज़ है ? आत्मामें यह जो पुरातन संस्कार-पुंज जड़ और मृण्मय हो गया है, उसे खिराना होगा। नवीन और उज्ज्वलतर कर्मोंके बीचसे मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करना होगा। जो कर्म-परंपरा अपने और परके लिये अनिष्ट फल दे रही है, जो आत्मा-आत्माके निसर्ग ऐक्य सबधका हनन कर रही है वह मुक्ति-मार्गमें सबसे अधिक घातक है। वह गोत्र-कर्मकी बाधा शिरोधार्य करने योग्य नहीं है, वह भोग करने योग्य नही है। मिथ्या है वह अभिमान। वह त्याज्य और परिहार्य है। असत्यको ध्रुव मर्यादा मानकर नही चल सकूगी, जीजी ! इस अहकारको पद-पदपर तोडते हुए चलना है। वही जीवन-की सबसे बड़ी विजय है। जीवनका नाम है प्रगति। जो है, उसीको अंतिम मानकर नही चला जा सकेगा ? सतहपर जो दीख रहा है वही पदार्थका यथार्थ सत्य नही है—वह व्यभिचरित सत्य है। वह माया है, वह छलना है। उस यथार्थ तत्वतक पहुचनेके लिये—मायाके इन आवरणोको छिन्न करना होगा। इन क्षुद्र ममत्वोंको मैटना होगा। प्रगतिमान जीवनी-शक्ति पुरातन कर्म-परपराओसे टक्कर लेगी—उनका प्रतिषेध करेगी, उन्हे तोडेगी। निखिलके स्पदनको अपने आत्म-परिणमनमें वह एकतान कर लेना चाहेगी। इस प्रगतिकी राहमे जो भी आये, वह प्रतिष्ठा करने योग्य नही है; वह तोड फेकने योग्य है. . ."

बोलते-बोलते अजनाको लगा कि वह आवेगसे भर आई है। उसके स्वरमें किंचित् उत्तेजना है। कहीं इस कथनमे राग तो नहीं है ? वह चुप हो गई। अपने आपको फिर तौला और गहरे स्वरमें बोली—

". . .हां यह जो तोड फेकनेकी बात कह रही हू—इसमें एक खतरा है। आत्म-नाश नही होना चाहिये। कषाय नही जागना चाहिये। सर्वहारा होकर हम चल सकते है, पर आत्म-हारा होकर नही चला जा सकेगा। मूलको आघात नही पहुचाना है। संघर्षसे तो परे जाना है, उसकी परंपराको तो छेदना है। विषमको समपर लाना है, फिर

संघर्षसे विषमको विषमतर बनाये कैसे चलेगा ? देश-, काल, युग, परिस्थिति सबको हमें प्रतिरोध देना है—पर आत्माकी अव्याबाध कोमलतासे, कि जिसमें सब कुछ समा सकता है, सपूर्ण लोकको अपने भीतर समा लेनेका जिसमे अवकाश और शक्ति है। . तब आत्मोत्सर्गकी लौ बनकर हमे जलना होगा। सारे सघर्षोके विषम और विषको पचाकर हमें सम और प्रेमका अमृत देना है। उसकी मर्यादा है आत्म-सयम। हमें चुप रहना है। दूसरेकी वेदनाको भी अपनी ही आत्म-वेदना बनाकर उसमें तपना है, सहन करना है। पर अपने सत्यके पथपर हमे अभय-निर्द्वंद्व और अटल रहना है, फिर राहमे अगार बिछे हो कि मूलिया बिछी हो। हमे विनीत और नम्र भावमे, बिना किसी अनुयोग-अभियोग या झल्लाहटके, अपने उस पथपर चुप-चाप चले चलना है। हमारी आन है, विनय, जीवन मात्रके प्रति आदर। हमारा शस्त्र है निखिलके प्रति सद्भाव और समता। आचरणमे उसे ही अहिंसा कहेगे। हमे प्राणके मर्मपर आघात नही करना है—जब तोडना है तब जड मिथ्यात्वको ही तोडना है। तब भीतरकी आत्मीयता और प्रेमको और भी सघन करना होगा। अपने व्यक्ति-अस्तित्वकी बलि देकर निखिलके कल्याण, आनद और मंगलके यज्ञको ज्वलित रखना होगा। बाहरके परिस्थिति-चक्र और भाग्य-चक्रोको तोडनेका अनुरोध हममे जितना ही तीव्र है, अपने आत्म-दुर्गको उतना ही अधिक अजेय बना देना है। . पर हा, यह आत्मोत्सर्ग आत्मघात नही होना चाहिये। भीतर प्रति-क्रिया नही पनपनी चाहिये, सम और आनद जागना चाहिये। प्रेम बहना चाहिये ”

बीचमे धीरेसे वसतने कहा—

“पर लोकमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका जिस रूपमे प्रवर्तन है, व्यवहारमें क्या लोकाचारके उन नियमोंको यो सहज तोडा जा सकेगा ?”

“द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी क्या कोई ध्रुव चीज है ? और वे जैसे चले आ रहे हैं वैसे ही क्या सदा इष्ट है ? हमने निश्चय सत्यसे जीवनके

आचरण-व्यवहारको इतना अलग कर लिया है, कि हमारे व्यवहारके सारे नियम-विधानके आधार हो गये हैं हमारे स्वार्थ; और सत्य रह गया केवल तार्किकों और दार्शनिकोंकी तत्व-चिंताका विषय। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी तो पदार्थ हैं। पदार्थ सत् हैं। और सत्का लक्षण ही है— नित्य परिणमन, गुण-पर्यायोंका नित्य परिवर्तन, प्रत्यावर्तन। उत्पाद, नाश और ध्रुवकी सक्रिय समष्टि ही जीवन है, सत् है। एक ही अविभाज्य क्षणमें कुछ मिट रहा है, कुछ उठ रहा है, कुछ अपने स्वभावमें ध्रुव होकर भी अपने आपमें प्रवाही है। फिर लोकाचार और उसकी मर्यादा सदा एक-सी कैसे रह सकती हैं, जीजी? वह तो सत्की सत्तासे ही इनकार करना है। वह हमारे स्वार्थों और अभिमानोंकी पूजा-प्रतिष्ठा है। वह गर्हित है और अनिष्टकारी है। और तब सोचती हूं, कुल, शील, मर्यादाके आधार क्या हैं? यह राज-सत्ता, संपत्ति, ऐश्वर्य? यह अपार परिग्रहका हमारा स्वामित्व? पर कौन उसे रख सका है? कौन उसपर अपने अधिकारकी अंतिम मुद्रा लगा सका है? वस्तु कोई किसीकी नहीं है। सत्ता मात्र स्वतंत्र है। यह हमारा ममत्व और स्वामित्वका मान ही तो मिथ्यात्व है। आत्माकी सम्यक्-दर्शनमयी प्रकृतिका घात यहीं होता है। मोहनी तीव्र होती जाती है, हमारा ज्ञान-दर्शन ममत्वसे आच्छन्न हो जाता है। यही ममत्व है हमारी समाज-व्यवस्था और हमारे नियम-विधानका आधार। इसी पर खड़े हैं हमारे कुल, शील, मर्यादा और प्रतिष्ठाके ये भव्य प्रासाद। कितना कच्चा और भ्रामक है इस लोकाचारके मूल्यका आधार! लोकाचारको मुक्तिमार्गके अनुकूल करना होगा; प्रगति-शील जीवनकी मांगोंके अनुरूप लोकाचारके मूल्योंको बदलते जाना होगा। निश्चयके सत्यको, आचरण-व्यवहारके तथ्यमें उतारना होगा।"

कुछ देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"....जो सबका है, उसका संचय यदि हमने अपने लिये कर लिया

है, तो इसमें गौरव करने योग्य क्या है ? परिग्रह तो सबसे बड़ा पाप है ! उसमें सारे पाप एक साथ समाये हैं । असत्य और हिंसा उसकी नींवमें हैं । माना कि अपने बाहुबलसे हमने इस ऐश्वर्य, राज्य, संपदाका अर्जन किया है । पर क्या हमारा यह स्वामित्वका अभिमान, आस-पासके जनोमे, जिन्हे हमने उससे वंचित कर दिया है, सूक्ष्म हिंसा, ईर्ष्या, सघर्ष नही जगाता ? और क्या हम भी निरतर उसी आत्म-हिंसाके घातसे पीडित नही हैं ? आस-पास मान और तृष्णाके सघर्ष सतत चल रहे हैं । क्या इस सघर्षकी परपराको अपने क्षुद्र मान-ममत्वसे धार देना इष्ट है ? क्या वह मनुष्योचित है ? क्या इस हिंसाका सचय हम देखती आंखों करते ही जायेगे ? नही, सत्य मार्गका पथी इस बर्बरताके समुख चुप नही रह सकता । मनुष्यके इस पीडन और पतनको—इस आत्म-घातको—वह खुली आखो नही देख सकेगा । सघर्षके इन दुश्चक्रोको उलटना होगा—तोडना होगा । जीवनको इसके बिना परितोष और समाधान नही है । निखिलमे ऐक्यानुभव और साम्य-स्थापन करनेके लिये अपना आत्मोत्सर्ग हम करते जायें । यही प्राणका चिरतन अनुरोध है । भीतर वही हमारी अनुभूति हो—और बाहर वही हो हमारा कर्म !"

"पर जो व्यवस्था है, वह तो अपने-अपने पुण्य-पापो और कर्मोंके अधीन है, अजन । क्या हम दूसरोके कर्मको बदल सकते हैं ?"

"कर्मकी सत्ताको अजेय और अनिवार्य मानकर चलनेको कह रही हो, जीजी ? तब मान ले कि मनुष्य उस कर्म-सत्ताका खिलौना मात्र है ? और यह भी कि, मनुष्य होकर उसका कृतित्व कुछ नही है. ? फिर जडके ऊपर होकर चेतनकी महानताका गुण-गान क्यो है ? फिर तो मुक्ति और ईश्वरत्वका आदर्श निरी मरीचिका है । हमारे भीतर मुक्तिका अनुरोध निरी क्षणिक छलना है । और असख्य महामानव जो उस सिद्धिको पा गये हैं, उनकी ये गाथाए और ये पूजाए मिथ्या हैं ? तब निरर्थक है यह कर्मोंके नाशकी चर्चा ! .. .असलमें विपर्यय यह

हो गया है कि अपने स्वार्थोंके वशीभूत हो हमने जड़ सत्ताका प्रभुत्व मान लिया है। परमार्थ और मुक्तिको भी हमने उसीके हाथों सौंप दिया है। उसीकी आडमें मनुष्यके द्वारा मनुष्यके निरंतर पीड़नका व्यापार अबाध चल रहा है। उस पीडनको सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त है। पीडित बन गया है मात्र उस यत्रका एक अचेतन पुर्जा। कोटि-कोटि जीवनोंको अचेतन बनानेका अपराध हम प्रति दिन कर रहे हैं। पापका यह वृहदाकार स्तूप खडा कर, उसे ही पुण्यका देवता कहकर हम उसकी पूजा कर रहे हैं। हमारा सारा पुरुषार्थ और प्रतिभा खर्च हो रही है उसी स्वार्थके पोषणके लिये, जो उस जड-सत्ताकी परपराको बलवान बनाता है।

". असलमें लोक-जीवनमें यह जो स्वार्थका मूल्य राज-मार्ग बनकर प्रतिष्ठित हो गया है, उसी मूल्यका उच्छेद करना होगा। स्वार्थका अर्थ ही बदल देना होगा। 'स्व'का सच्चा अर्थ है आत्मा, उसका 'अर्थ' यानी 'प्रयोजन', वही सच्चा स्वार्थ है। अर्थात् आत्मार्थ जो कि परमार्थ है, वही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ और परमार्थके बीचसे यह मिथ्या भेदका पर्दा उठा देना होगा। यानी 'स्व' और 'पर'के भ्रामक भेद-विज्ञानको मेटकर 'स्व' यानी आत्मा और पर यानी अनात्माके सच्चे भेद-विज्ञानको स्थापित करना होगा। जीवनमात्रको आत्मवत् अनुभव करने की अविराम साधना ही हो हमारा पुरुषार्थ.. ।"

क्षणैक चुप रहकर फिर अजस्र उन्मेषकी वाणीमें अजना बोलती ही चली गई—

'हां, तब निमित्तसे हम दूसरोके कर्मोंको भी बदल सकते हैं। हम अपने कर्मको जब बदल सकते हैं, अपनी चेतनामें उसके अनिष्ट फलको अस्वीकार कर सकते है तो निश्चय ही हमारे आत्म-परिणाम समकी ओर जायेंगे। तब लोकमें हमसे संबंधित प्राणियोसे जो हमारा जीवनका योग है, उनमें हमारे सम आत्म-परिणामोके संसर्गसे कुछ सद् प्रक्रिया होगी।

और यों आत्म-निर्माणमेंसे लोक-मंगलका उदय होगा। तीर्थंकरके जन्म लेनेमें उस काल और उस क्षेत्रके प्राणिमात्रकी कर्म-वर्गणाएं काम करती हैं। निखिल लोकके सामूहिक पुण्योदय और अभ्युदयके योगसे वह जन्म लेता है। उस कालके जीवन मात्रके शुभ परिणाम और शुभ कर्मकी पुंजीभूत व्यक्तिमत्ता होता है वह तीर्थंकर। वह सर्वका केंद्रीय अभ्युदय है। पर पुण्य और पाप दोनो ही अतत संचय करनेकी चीज़ नहीं है। पहला यदि स्वर्णकी साकल है तो दूसरा लोहकी, है दोनो ही बंधन। पुण्य कामनासे उपार्जित नही होना चाहिये, वह आनुषंगिक फल होना चाहिये। हमें अपने पुण्य-फलका अनासक्त भोक्ता होना है, उस पुण्य-फलको सबका बना देना है। तब अभिमान कटेगा और संघर्ष क्षीण होगा। जो सर्वके कल्याणकी कांक्षासे शुभ कर्म करता है, उसमें वैयक्तिक फलकी कामना नही होनी चाहिये। अपने ही लिये तीव्र पुण्य बांधकर, इस मिथ्या महत्ता और अभिमानका पोषण नही करना है। इस अज्ञानके विरुद्ध हमें लड़ना होगा

" 'सबके सुख-दुख अपने-अपने पुण्य-पापके अधीन हैं'—कहकर अपने स्वार्थमें बंद और लिप्त हो रहनेकी छुट्टी हमें नही है। जिस कर्ममें हमारी आसक्ति नही होगी—उसका बंध हमारी आत्मामें नही होगा। तब वह शुभ कर्म हमें बंधनसे मुक्त करेगा—और सर्वके कल्याण और मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करेगा। इसीसे कहती हूं जीजी, कि हमारे पाप-पुण्योंके ये मानाभिमान मानव-मानव, प्राणि-प्राणिके बीच नहीं आने चाहिये। जो व्यक्तियोंके उदयागत पाप-पुण्य हैं, उन्हें हम अंचल मानकर नही चल सकते, उससे समाजका कोई शाश्वत नियम-विधान नहीं बन सकता। हम किसीके पाप-पुण्योंके निर्णायक नही हो सकते। जो उदयागत पुण्य हमारी आत्माके प्रेमगुणका घात कर रहा है, उससे जीवनका सिंगार नही किया जा सकता। वह पुण्य-फल फेंक देने योग्य है—और यदि हो सके तो उसे बांट देना चाहिये, सबका बना देना चाहिये।

तब उस बधनसे मुक्ति मिल जायेगी। पुण्यके दुरभिमानमें मत्त होकर मनुष्य प्राय: नवीन, दुर्धर्ष पापकर्मोंका बंध करता है तो वह पुण्य पूजा करनेकी चीज नही है—वह हेय है—तिरस्कार्य है। भरत चक्रवर्तिका जड पुण्य-फल चक्र, ठेलनेपर भी बाहुबलिके पास न गया, पर भरतकी आत्मा बाहुबलिके चरणोंमे जा पडी! चक्रवर्तीका प्रेम उसके चक्र-रत्नसे बाधित न हो सका। यह है उस पुण्यका मूल्य जीजी, जिसपर हम अपने कुल, शील, मर्यादा, लोकाचार और सदाचारके मूल्य निर्धारित करते हैं। इस अज्ञान के अमागलिक पाशको तोडकर ही चलना होगा, जीजी। उसके प्रति हम निष्क्रिय आत्मार्पण नही कर सकते। उसके विरुद्ध अनिरुद्ध खडे रहकर हमे लडना होगा। उस राहमे होनेवाले प्रहारोको अचल रहकर, विनयपूर्वक, समभावसे सहन करना होगा।

और आवश्यकता पडनेपर निर्मम भी होना पडेगा। परिजनोके मिथ्या दुखका मोह भी, हमारी करुणाको उकसाकर, हमे पथच्युत कर सकता है। पर, वह कर्तव्य-पालन नही है, वह पराभव है। अहिंसाका अर्थ दुर्बलकी दया नही है!"

"पर तुम्हारे दुखसे महादेवीका दुख अलग नही है, बहन। इस घोर आपद-कालमे वे तुम्हारा ही मुह देखकर जीना चाहती है—और तुम्हारे दुखी मनके लिये भी उनकी गोद ही एक मात्र आश्रय है।"

"....दुखको बहुत पाल चुकी हू, जीजी। रत्नकूट-प्रासादके उस ऐश्वर्य-कक्षमे, असख्य राते अपने अकेलेपनमे रो-रोकर बिता दी है। पर रुदनके वे दिन अब नही रहे, जीजी। उस रुदनसे मै जीवनका सिंगार न कर सकी! लगा कि आत्माकी अवमानना हो रही है—लगा कि मृत्यु का वरण कर रही हू। मै आत्म-घात न कर सकी। आत्म-घातमेंसे क्या उन्हे पा सकती थी? प्रेम मृत्यु नही है—जीवन है। प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नही है, वह अनासक्त योग है—वह प्रवाह है। शरण उन्ही चरणोमे है, और कही नही है। कुल-शील, मर्यादा, पाप-पुण्य, जन्म-

शरणके स्वामी वे आप हैं। वे आप अपनी मर्यादाकी रक्षा करेंगे। निश्चित होकर सर्वके प्रति अपनेको देते चलना है। . . .जाने कब, एक दिन वे निश्चित मिल जायेंगे—इस जन्ममें हो, कि पर जन्ममें . . . . हो. . "

"इतना बडा विश्वास उस पुरुषके प्रति कर सकोगी, अजन, जो क्षणकी उमगमें तुम्हें त्यागकर चला गया, और जिसके कारण परित्यक्ता और पद-च्युता होनेका कलक सिरपर धरकर तुम्हें जीवनमें चलना पड रहा है ?"

"त्याग करनेकी स्पर्धा कौन कर सका है, जीजी ? कौन किसीको त्याग सका है, जबतक किसीको अपनानेकी सामर्थ्य हमारी नही है ! यह त्याग तो केवल दभ है, आत्म-छल है। वह केवल अपने अहकी झूठी तृप्ति है। अपनाया है, इसीमें तो त्यागनेके अधिकार का उपयोग उन्होने किया है। कुछ दिन अपने मानको लेकर वे खेलना चाहते है तो खेल ले, इसके बाद जब मिलेगे तो बीचमें कुछ आ नही सकेगा ! वे किसी असाधारण रास्तेसे मेरे पास आनेमें महना अनुभव करते है तो इसकी उन्हे छुट्टी है। पर जीजी, बाधा पुरुषकी नही है, बाध्यता तो केवल प्रेमकी है। और उसी प्रेमकी परीक्षा भी है कि वह अपने प्रेयको प्राप्तकर अपनेको सत्य सिद्ध करे। वहा पुरुष गौण है, और विशिष्ट पुरुष तो अचितनीय भी हो सकता है। पर यदि प्रेम किसी विशिष्टपर ही अटका है, तो उसमेंसे अपना द्वार बनाकर ही मुक्तिकी राह खुल सकेगी। इसमे लज्जा भी नही है और अपमान भी नही है। वह दासत्व नही है, वह अपनी ही सिद्धिके लिये सहन करना है · पुरुष, पुरुष है और बलवान है, और नारी कोमला है और सब कुछ सह सकती है, इसीलिए जब चाहे उसे त्यागनेका अधिकार पुरुषको है, यह मुझे मान्य नहीं है। नारीकी सर्व-ग्राही कोमलतामें एक दिन, दृप्त पुरुषका मिथ्याभिमान, निश्चित आकर गलित हो जायगा। स्त्रीके सर्वहारा प्रेमकी इस सामर्थ्यमें

मेरा अदम्य विश्वास है, जीजी । यदि कापुरुषको परम-पुरुष बना सकनेका आत्म-विश्वास हमारा टूटा नही है, तो किस पुरुषका अत्याचार है जो हमें तोड सकता है ? . .पर यह नही कह रही हू कि हमें पुरुषकी होड करनी है । हमे अपने प्रेमकी मर्यादा नही भूल जानी है । हमारा जो देय है वह हमे देते ही जाना है । पुरुष सदा नारीके निकट बालक है । भटका हुआ बालक अवश्य एक दिन लौट आयेगा । बालकपर तो दया ही की जा सकती है । उसकी हिमाके विषको पीकर भी नारीने उसे सदा दूध पिलाया है । नारी होकर अपने इस दायित्वको हमें नही भूल जाना है । पर इसीलिये अबला होकर वह असत्यको सिर नही झुका सकेगी । वह अपने प्राणपर असत्यमे टक्कर लेगी और उसे चूर्ण कर देगी । उसका आत्मार्पण भी निष्क्रिय और अज्ञ नही है, वह ससज्ञ है । उसके मुक्ति-मार्गमे पुरुष उसकी बाधा बनकर नही आ सकता ।"

"पर महादेवीने जो कहा है, उसका क्या होगा, बहन ?"

" . उनका और तुम सब परिजनोका ऋण चुकानेके लिये ही तो इस महलमे हू, जीजी । और उनकी कृतज्ञ हू कि परित्यक्ता वधूको उन्होने यह रत्नोका महल सौंप रखा है, और उसे वे इतना प्यार करती है, इतना आदर देती है । पर मेरा ही दुर्भाग्य है कि इस महलको मै अब रख नही सकूगी । उनकी इस कृपा और प्रेमके योग्य मै अपनेको नही पा रही हू । मै तो बहुत ही अकिंचन हू और बहुत ही असमर्थ हू यह सब झेलनेके लिये. . .

"इस राज-महलमे रहकर इसकी और इसके लोकाचारकी मर्यादाको मै नही लोपना चाहूगी । तब देखती हू कि इस घरमे अब मेरे लिये स्थान नही है । यह छोड़कर मुझे चले जाना चाहिए । और कोई रास्ता मेरे लिये चुननेको नही है । इस महलमे रहना है, तो यहांकी मर्यादा तोडनेका अधिकार शायद मुझे नही है । पर मेरे निकट वह असत्य है और उसे मै शिरोधार्य नही कर सकूंगी. . . .,

"महादेवीके चरणोंमें मेरे प्रणाम निवेदन करना और उन्हे कह देना कि परित्यक्ता अजनाके इतने वर्षोंके गुरुतर अपराधको क्षमा कर दें। परित्यक्ता होना ही अपने आपमें क्या कम अपराध है? फिर मुझसे तो मर्यादाका लोप भी हुआ है! उसके लिये मनमें बहुत अनुताप है। अब मेरा यहा रहना सर्वथा अनुचित होगा, शायद वह पाप होगा, अपने लिये भी और उनके लिये भी। जितनी जल्दी हो सकेगी, शीघ्र ही मै यहासे चली जाऊगी, उस राहपर जो मेरे लिये सदा खुली है ।"

आसू भीतर ही झर रहे हैं—यह कठ-स्वर ऐसा लगा रह रहा है, जैसे किसी गुफामे निर्झरका घोष हो। पर वसतकी आखोसे तो टप-टप आसू टपक रहे थे।

" . छि जीजी, तुम रो रही हो ..? अपनी अजनापर अभिमान नही कर सकती, तो क्या उसे प्यार भी नही कर सकती? इतनी अवशता क्यो? अजना अकिंचन है सही, पर उसे इतनी दयनीय मत मानो जीजी, उसके भाग्यपर और उसके कर्मपर अविश्वास न करो ... ?"

अजना चुप हो गइ, और मुह फेरकर सरोवरके जल-प्रसारपर दृष्टि फैला दी। थोडी देर बाद चुप-चाप दोनों बहनें उठकर वहासे साथ-साथ चल पडी। राहमें बराबर चल रही हैं, पर एक-दूसरीकी ओर देखनेका साहस उन्हें नही है।

[१७]

पूर्वाह्णमें अपने रथपर, अकेला प्रहस्त, अजितंजय प्रासादके मार्गपर अग्रसर है। चारो ओर शरदकी नीलमी श्री फैली है। प्रकृति प्रसन्न है, शीतल और सजल तरुणी धूप मुस्करा रही है। इस निर्मलताकी आरसी-में, प्रहस्तने पाया, कि उसकी सारी अतर्भूत व्यथाए झलमला उठी हैं।

हा, वह जब भी पवनंजयसे मिलने आया है, उसका मन सह-वेदनसे बोझिल रहा है। वह हृदयका द्वार खोलकर पवनंजयके संमुख जाता, कि अवसर पाये तो उसे अपने भीतर ले ले। पर पवनंजयके सामने पहुंचते ही, उनकी तनी हुई गर्विणी भौहोंपर जाकर सदा उसकी सहवेदना बिखर गई है। उसके मनसूबे चूर-चूर होकर व्यर्थ हो गये हैं। उसके हृदयके द्वारको जैसे कोई अवहेलाकी ठोकरसे बंद कर देता। ....और वह देखता कि देव पवनजय बोल रहे हैं। ज्ञानकी प्रत्यचा चढ़ी हुई है। हृदय मानों पैरो तले दबा है, और शून्यमें सनसनाकर शब्दोंके तीर व्यर्थ हो रहे है। उनकी वाणीमें बुद्धिका गौरव है। वे तत्वकी भाषामें जीवनका विश्लेषण कर उसे फेंक दे रहे हैं। इनकार उनका जीवन-सूत्र है। परको इनकार उन्होंने इसीलिये किया है, क्योकि उन्होंने अपनेको ही इनकार कर दिया है। तब उनके निकट जीवन मात्र वस्तु है। व्यक्ति कुछ नहीं है, उसकी आत्म-चेतना कुछ नहीं है, उसकी आत्म-वेदना मिथ्या है।

प्रहस्तने सदा उनके समुख साधारण मानव होकर अपनेको रखना चाहा। अपनी वेदना और करुणाके स्वरको दबाया नही। पर उस वेदना और मानवताको सदा कुठित हो जाना पड़ा है। तब उसे अपने दायित्वका भी भान आया है।....उसीने एक दिन किशोर पवनके सपनों और मनके कवित्वमे, एक भव्य तत्वज्ञानकी प्रतिष्ठा की थी। उसीने पवनकी अपार सौंदर्य-जिज्ञासाकी ऊर्ध्व दृष्टिको, एक प्रबुद्ध दर्शनका तुंग वातायन प्रदान किया था। उसने देखा कि उस वातायनपर चढ़कर पवनंजय अपने अह-दुर्गमें बंदी हो गया। वह जीवनके साथ चौसर खेल गया। उसने आत्माकी अवमानना की। तब वह बोला इनकार और तिरस्कारकी गर्विणी वाणी।

प्रहस्त सदा वेदना लेकर गया है और विषाद लेकर लौटा है। लौटते हुए सदा उसे अपने ऊपर रोष आया है और आत्मग्लानि

हुई हैं। पवनके लिये मानो वह दयामे आर्द्र और कातर हो उठता है। क्यो उसने उसे यो जाकर आघात पहुचाया है ? उसकी विषम वेदनापर क्यो उसने व्यग किया है ? पर क्या इसमे उसीका दोष है ? जहा बुद्धि ही के शस्त्रोपर जीवनको परखा जा रहा हो, वहां व्यंगके सिवाय और क्या निपजेगा ? इसीमे जब अपने दायित्वसे प्रेरित होकर पवनके भटके हुए दर्शनको सही मार्ग-निर्देश करनेकी चेष्टा उसमें होती है, तब उसके पीछे हृदयका सारा सद्भाव रहते हुए भी, वह व्यगसे कठिन और प्रखर हो गई है। पर पवनजय तो जैसे चोटको निमत्रण देता-सा ही मिलता है; मानो उसे प्रेम भी यदि किया जा सकता है तो चोट देकर ही.. ! पर प्रहस्तको हार अपनी ही दीख रही है। उसे बार-बार यही बात खाती रही है कि पवनके प्रति अपना देय वह नही दे पाया है। यह उसीकी असामर्थ्य है कि वह पवनको अपने विश्वासकी छायामे न ले सका है।

जो भी पवनजयने साफ घोषित करके, प्रहस्तसे अपने आपको छीन लिया था, फिर भी क्या प्रहस्त रुष्ट हो सका है ? क्या उसका हृदय कुठित रह सका है ?—पवनजयके इनकारको झेलकर भी वह उसे अस्वीकार न कर सका है। उसने अपने आप ही समझौता करके राह निकाल ली थी। नियम उसका अचूक है कि दो-चार दिनमे बराबर वह यहा आ ही जाता है, पवनजय हो या न हो। यदि मिले तो कैफियत नही तलब करता, न अपनी हित-चिंताकी घोषणा ही किया चाहता है। यदि हो सके तो पवनका सेवक होकर, उसके छोटे-मोटे कामोका सहयोगी हो जाना चाहता है।

प्रासादके नवम खंडके कक्षोमे जहा लोकोंकी रचनाए हैं, वही इन दिनो पवनजय अपने सपनोको रूप-रंग देनेमें व्यस्त रहते हैं। वहा पहुँचकर प्रहस्त चुप-चाप उनके कामकी गति-विधिको समझ लेता है। अपने लायक़ कोई काम चुनकर मौन-मौन उसमे जुट जाता है। कभी उसे

पता लगता कि आज पवनंजय छतके किसी मेरु-कक्षमे बंद हैं, तो वह कभी ऊपर जानेकी चेष्टा न करता। बाहरसे ही लौटकर चुपचाप चला जाता। यदि उसके सामने ही पवनंजय कभी बाहरसे लौटते और वह प्रतीक्षामें होता, तो वह यह कभी न पूछता कि 'कहासे आ रहे हो ?' पवनंजय कोई गभीर तत्वकी बात कहते, तो वह मुस्कराकर, उसे सहज स्वीकार कर चुप हो रहता !

उमे बात-बातमें एक दिन पवनंजयसे यह भी पता लगा था कि विजयार्धकी मेखलामे कई विद्याधर नगरियोके राज-कुमारोसे उसकी मित्रता हो गई है। उनसे उसे कुछ दुर्लभ विद्याए भी प्राप्त हुई हैं। और कभी-कभी एक प्रसन्न आत्म-तुष्टिका कटाक्ष करके वह आवेशमे कहता—"याद है न प्रहस्त, मैंने उस दिन मानसरोवरके तटपर तुमसे कहा था—कि वह दिन दूर नही है जब नाग-कन्याओ और गधर्व-कन्याओका लावण्य पवनजयकी चरण-धूलि बननेको तरस जायगा ! ....उस दिनके स्वागतके लिये तैयार हो जाओ, प्रहस्त। अब उसी यात्राके लिये महा-प्रस्थान होनेवाला है।"

और आज प्रहस्त जब पवनजयसे मिलने जा रहा है तो एक राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है।—जंबूद्वीपके राज-घरानोमे यह बात अब छुपी नही थी कि आदित्यपुरके युवराज पवनंजयने, परिणयके ठीक बाद ही नवपरिणीता युवराज्ञी अजनाका त्याग कर दिया था। कुछ दिनो प्रतीक्षा रही, पर देखा कि कुमारका मन फिरा नही है। तब अनेक दूर देशो और द्वीपातरोसे विवाहके सदेशे और भेंटें लेकर राजदूत आदित्य-पुरमें आने लगे। आये दिन आतिथ्य-शालामें एक-दो राज-दूत इस प्रयो-जनके अतिथि अवश्य पाये जाते। लंबे अतरालोसे जब कभी पवनजय माता-पिताके चरण छूने या उनसे मिलने आते, तो राजा और रानीने अकेलेमें और मिलकर, पवनके हृदयको पकड़नेके हर प्रयत्न कर देखे हैं। पर वे सफल नहीं हो सके हैं। या तो पवनंजय मौन रहते हैं, या

फिर कोई कौतुक करके, अथवा अन्योक्ति-दृष्टात देकर बात बदल देते हैं। मा की बातको तो वे विनोदमे ही उडाकर हस भी देते हैं। मा इस गठीले बेटेको खुलकर हसते देखकर ही मानो परितोष कर लेती है, और आगेका आग्रह-अनुरोध उनका मानो निर्वाक् हो जाता है।

तब आज प्रहस्तको महाराज और महादेवीकी आज्ञा हुई है कि वह इन आये हुए राजकुमारियोके चित्रोंको लेकर पवनजयके पास जाये। उसे दिखाकर उसके हृदयका भेद पाये। और अपना सारा प्रयत्न लगाकर वह, पवनजयकी अनुमति, दूसरे विवाहके लिये ले आये। वह राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है, पर वह अच्छी तरह जानता है कि वह हसी कराने जा रहा है। पवनजयकी कविताको उसने कौनसा दर्शन दिया था, वह रहस्य कौन जानता है? महाराज और महादेवीको भी उस सबका क्या पता है? उनके निकट तो वह तारुण्यका हठीला अभिमान ही अधिक है, जिसे किसी अनहोने लावण्यकी खोज है; और बीतते हुए, उम्रके, निरर्थक वर्षोंमें वह आप कही ढीला हो जायगा।

नवम-खडपर कोनेके उस अठकोने कक्षमें आज पवनंजय काममे व्यस्त थे। वे कई दिनोसे यहा अपने ही स्वप्न-कल्पनाके अनुरूप ढाई-द्वीपकी रचनाको सागोपाग कर रहे हैं। सूचना पाकर पवनजयने प्रहस्तको ऊपर ही बुला लिया। प्रहस्त इस कमरेमें पहली ही बार आया है। देखा तो, देखकर दग रह गया। विशाल धातु-स्तवकोंमें कई प्रकारकी गूँथी हुई चिकनी मिट्टिया सजी है। चित्र-विचित्र पाषाणो, मणियो और उपलोके ढेर चारो ओर फैले हैं। देश-देशकी रग-बिरगी धूलि और बालुका बिल्लौरके करडकोमें चमक रही है। शख और सीपोंके बडे-बडे चषकोमे अनेक रगोकी राशिया फैली हैं। जो रचना हुई है उसमे अद्भुत रग-छटा और बारीक रेखाओमें, बडे ही कौशल और कारु-कार्यके साथ, प्रकृतिके विस्तारको, अवकाश और सौंदर्यको बांधनेका प्रयत्न अविराम चल रहा है। पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और

आकाशोंकी सारी दुर्लंघ्यता कुमारकी तूली और उंगलियोके बीच खेल रही है।

मानो कोई बडा रहस्य एक बारगी ही खोल दिया हो, ऐसे गौरवकी मुस्कराहटसे पवनजयने प्रहस्तका स्वागत किया। प्रहस्तके मनमें एकाएक प्रश्न उठा—यह महाशिल्प-व्यापार, यह कलोद्भावना किस लिये ? अहं-भोगमें बंदिनी होकर यह कला आखिर कहां ले जायेगी ? ये रंग और रेखाएं, मानों फैलकर जडित हो गई है—उनमें जीवनके प्रवाहकी सजीवता नही है। लोकका क्षेत्र-विस्तार इसमे बध भी आये, पर क्या जीवनकी इयत्ताका मान इसमेसे उपलब्ध हो सकेगा ? पर समय-समयपर आकर क्या उसने, इसी रचनाके वृहद् आयोजनमे मदद नही की है ?

प्रहस्त बोला कुछ नही, सोचा कि रास्ता कौतुकका ही ठीक है। उसने राजकन्याओके वे चित्र-पट खोल-खोलकर, कमरेमे आस-पास आधारोपर टगे मान-चित्रोके ऊपर फैलाकर टाग दिये। अनायास एक कटाक्षसे पवनजयने देख लिया, फिर आखे तूलीकी गतिमें लीन हो गई। अपने बावजूद वे मुस्करा आये। प्रहस्तने मुह मलकाकर धीरेसे कहा—

"लोककी इस विराट रचनाके बीच अब तुम्हे हृदय स्थापित करना है, पवन ! इस सबके स्रष्टा और द्रष्टाको केद्रमे अपना झरोखा बाधना है। चुनो ..! जीवनके इन प्रवाही रूप-रगोकी धारामे अपनी तूलिका डुबा दो, और उस केद्रका अकन कर दो"

पवनजयकी वे तल्लीन आखे उठ न सकी। उसी तन्मयतामे ईषत् भ्रू उचकाकर वे बोले—

"स्रष्टा और द्रष्टा इस रचनामे कहा नही है, जो किसी विशिष्ट बिंदुपर वह अपनेको स्थापित करे ? और अपनेको उद्घोषित करनेका यह आग्रह ही क्या अपनी असामर्थ्य और सीमाका प्रमाण नही है ? पर अपने सतोषके लिये तुम चाहो तो देखो, प्रहस्त, वह दक्षिण विजयार्धकी सर्वोच्च श्रेणीपर है—अजिनजय कूट ! वह प्रासाद नहीं

है, प्रहस्त, और न वह वातायन है। वह कूट है, चारो ओरसे खुला, अरक्षित, प्रकृत ! आकाशकी अनंत नीलिमा उसके पाद-मूलमें लहरों-सी आकर टकरा रही है। वही है द्रष्टाके ध्रुवासनका प्रतीक !"

प्रहस्तने देखा कि फिर विवादकी भूमिका संमुख है। नही, अपनी बुद्धिपर आज वह धार नही आने देगा। वह तर्क नही करेगा। और हृदय ...? नही, उसकी कुर्जी उसके पास नही है। उसे कर्तव्यका सहारा है और वह उसमें बधा भी है। जो भी इस व्यावहारिकतामें वह औचित्य नही देखता, फिर भी बातको ठोस भूमिपर लाकर ही निस्तार है। पर कितना ज्वलन और वेधक है वह यथार्थ ! अपने बावजूद प्रहस्तके हृदयका उभाड फूट ही तो पडा—

"भैय्या पवन, अब और हमारे हृदयोंको मत कुचलो, अब और अपने आपको यो मत रौंदो। नही, यह बर्बर व्यापार अब मैं नही चलने दूगा। अपने ऊपर और किसीपर तुम्हे करुणा नही हुई, पर अपनी माके हृदयको अपने इस मूक अत्याचारमें अब मत बींधो। वह दृश्य बहुत ही त्रास दायक और असह्य हो गया है। और भैय्या, जीवनमे एकात निश्चय-नयकी दृष्टि लेकर ही हम नही चल सकते। वह निश्चया-भास हो जायगा। तब तत्वके यथार्थ स्वभावकी ओटमें हम अपनी दुर्बलताओंको प्रश्रय देने लगेगे। वह फिर एक आत्म-घातक छद्म-व्यापार हो जायगा। जीवनके तात्विक यथार्थको व्यवहारके सापेक्ष अर्थोंमे देखना होगा, और प्रसगके अनुसार अपना देय देकर जीवनकी धाराको अविच्छिन्न रखना होगा।"

पवनजयकी काममें लगी आखे और भी विस्फारित हो गई है। उनके ओठोंकी मुस्कराहट और भी फैलकर अपने विस्तारमे प्रहस्तके कहेको शून्य-वत् कर देना चाहती है। वे बोले कुछ नही, अविचलित अपने काममें सलग्न रहे। प्रहस्तको लगा कि वह फिर अपनी दी हुई

राहमें जो भटकन आ गई है, उसे दुरुस्त करनेमें लग गया है। फिर उसने अपनेको रोका और सीधा प्रश्न किया—

"भैय्या पवन, तुम्हारी हसी ही मेरे लिये बहुत है। हा, सुनो, मेरी तरफ देखो—कितने ही राजदूत आ-आकर लौट गये हैं, कितने ही अभी भी अतिथि-शालामें प्रतीक्षमाण हैं। मां और पिता तुम्हारे हृदयकी थाह न पा सके। तब वे क्या उत्तर देते....? इस बार उन्होंने फिर मुझे ही भेजा है। यही विश्वास करके कि मैं तुम्हारे हृदयके निकटतम हूँ; मैं ही तुम्हे मानसरोवरपर विवाहके लिये राजी कर लौटा लाया था, और इस वार भी दूसरे विवाहके लिये तुम्हारी अनुमति मैं ही ला सकूगा। जो एक भूल मुझसे हुई है, उसका प्रायश्चित्त यह दूसरी भूल करके ही शायद मुझे करना होगा ? उनके विश्वासको मैं क्या कहकर झटका दू ? वह निर्दयता भी तो मुझसे नही हो रही है। अब मेरा दावा तुम्हारे ही समुख है, पवन, अब अपना हृदय मुझसे न छुपाओ। या तो मेरे इस अभागे हृदयको काटकर यही दो टूक कर दो, या अपने मर्मकी व्यथा मुझसे कह दो।" पवनंजयका अकातर चित्त, इस आवेदन से हिल उठा। उनका सारा अन्त.करण आर्द्र हो आया। . . .पर इस आर्द्रताका उन्होंने उपयोग कर लिया। खिडकीमेंसे दृष्टि आकाशपर थमी है, अपनी उगलियोंपर तूलिकाको नचाते हुए पवनजय बोले—

"मेरे एकमात्र आत्मीय ! क्या तुम भी मेरे मनकी व्यथाको इतने दिनो तक अनदेखी ही करते रहे हो ? क्या तुम भी, प्रहस्त, उसे कोरा छल और खिलवाड ही समझते रहे हो ? जो चरम जिज्ञासाकी वेदना तुम्हींने मेरे किशोर प्राणमे एक दिन सजो दी थी, उसीको आज तुम अस्वीकार करोगे, प्रहस्त ? जानता हू, तुम्हे कितनी ही बार मैंने चोटे दी है, मैंने तुम्हे ठेला है, तिरस्कार और वेदना दी है; उसके पीछे क्या यही दावा और खीज नही थी, कि अरे तुम ! . . .अपने ही दिये दुखको देकर भूल गये हो, और अब लोकाचारके रक्षक होकर उसे मिथ्या कहा चाहते

हो ? तो मुझे चुप हो जाना है, अपनी व्यथाको तुम्हे दिखानेका कोई नाटक मुझमे नही हो सकेगा, प्रहस्त !"

"जानता हू, पवन, मेरा अपराध अक्षम्य है—पर छोडो उसे। उसका प्रायश्चित्त औरोको दुख दिलवाकर तो मुझसे नही हो सकेगा। हा, तो महादेवीको तुम्हारा क्या मन्तव्य मुझे जाकर कहना है, वही तुमसे सुनना चाहता हू।"

"पर तुम्ही मेरी तकलीफको नहीं समझोगे ? तुम्ही उसकी उपेक्षा करके मुझसे उत्तर चाहोगे ? खैर, जैसी तुम्हारी इच्छा। . . .मासे कहना, प्रहस्त, कि अपनी व्यथा मै अपनी मातक नही पहुचा सका, उसके लिये मुझे पर्याप्त दुख है। पर मुक्तिके मार्गमें निर्मम होकर ही चला जा सकेगा। माता-पिताका मोह भी तब एक दिन त्याज्य ही हो सकता है ! कहना कि अपने अभीष्टकी खोजमे जा रहा हू। वे दुखी न हो। उनका पुत्र उनके आशीर्वादको विफल नही करेगा, और उनकी कोखको नही लजायेगा। वे उसे हर्ष-पूर्वक सिद्धिकी खोजमे जानेकी आज्ञा दे। कल रात मै उनसे मिलने गया था। जीमे आया कि अपनी बात उन्हे कह दू, पर कह न सका—उनका वह चेहरा देखकर. !"

"अब कहा जाना शेष रह गया है, पवन ?

"इस प्रश्नका क्या उत्तर दूँ, प्रहस्त ? इसका उत्तर तो चले ही जाना है। और देख रहे हो इस रचनामे, वह है मानुषोत्तर पर्वत ! ढाई द्वीपोको पारकर, वहातक मनुष्यकी गति है। कालोदधि समुद्रकी जगतीको चारो ओर मडलाकार घेरे हुए वह पुष्कर-वर-द्वीप है, और उसके बीच पडा है वह मानुषोत्तर पर्वत। जानेकी बात क्या पूछ रहे हो, पृथ्वी तो उदयाचलसे लेकर अस्ताचलतक घूम आया हू, प्रहस्त ! पर, क्या अभीष्ट मिल गया है ? और उसके पहले विराम कहा ? अब समुद्रोका आमत्रण है, उन्हें भी पार करना होगा। इस आकर्षणमें ही,

प्राप्ति छुपी है, प्रहस्त ! दिशाओंमे मुक्ति स्वयं बाहे पसारकर मानों पुकार रही है। अब तीरपर कैसे रुका जा सकेगा ? अब मुहूर्त-क्षण आ पहुचा है। मुझे जाना ही चाहिये, जाना ही होगा ..."

"पहले इधर देखो, पवन, तुम्हारी योजनाके मान-चित्रोंके ऊपर होकर एक दूसरा ही लोक तुम्हारी राहमे आ गया है। उसे पार किये बिना क्या उन समुद्रोतक तुम पहुच सकोगे ?"

"ओह, इन चित्रोंकी रूपसियोकी कहते हो, प्रहस्त ? एक साथ सबको पाकर भी मेरा मन इनसे न भर सकेगा ! मेरी वासनाको इस रूप-सीमामे तृप्ति नही है, प्रहस्त। नही, इन तटोमे अब और मै लगर न डाल सकूगा। शरीर-शरीरके बीच बाधा है, मायाकी चकाचौंध है, वचना है और तृष्णाकी आर्त्तता है; हाथ पडता है केवल एक विफल पीडन। जो इसमे है, वह उसमे नही है। हर रूपमे कही न कही 'कुछ' नही है। बस वह 'कुछ', जो विच्छिन्न हो गया है, उसीका एकाग्र और समग्र भोग मुझे एक समयमे ही चाहिये। मुझे अनत सौंदर्य चाहिये, प्रहस्त, मुझे अक्षय प्रेम चाहिये,—वह कि जिसमें फिर बिछुडन नही है ! शरीरकी तुच्छ तृप्तिके बादकी विफलता मुझे अपनानेको कहते हो ? जो क्षणिक तृप्ति, अनत अतृप्तिको जन्म देती है, वह हेय है। वह मेरी तृप्ति नही है, और वह मुझे नही चाहिये। इसीलिये जाना है, प्रहस्त, उसी परम तृप्तिकी ओर—उसीका यह आकर्षण है। उसकी अवज्ञा कैसे हो सकेगी ?"

"तो क्या वह यों किसी बाहरकी यात्रासे पाई जा सकेगी ? और क्या, तुम्हारी कोई निश्चित यात्रा-योजना भी बन चुकी है, पवन ? यदि है, तो क्या वह मैं जान सकूगा ?"

हसते हुए पवनजय उत्साहित हो आये—बोले—"उसीका आयोजन तो है यह रचना, पवन ! पर, हां तुम्हे नही पता था। वह देखो हिमवान पर्वतके मूलमे, वृषभाकार मणि-कूटके मुखमें होकर चद्रमासी धवल

गंगाकी धारा गिर रही है। अनेक कूडों और सरोवरोंके तोरण पार करती, अनेक भू-प्रदेशोको सौंदर्य-दान करती, विजयार्धके रजत-प्रदेशमे आकर जरा मकुचित होती हुई, विजयार्धके गुफा-द्वारमे वह भुजगिनी-सी प्रवेश कर गई है। रूपाचलकी गुफाके वज्र-द्वारमे प्रवेश करते समय, वह आठ योजन विस्तार पा जाती है। और देख रहे हो, वे गगा और सिधु नदिया जहा जाकर लवणोदधि-समुद्रमे मिली हैं, उनके वे रत्न-तोरण और वे तट-वेदिया दीख रही है। भरत-क्षेत्र और जबू-द्वीपके सभी भू-प्रदेशोको प्रणाम करते हुए, उन तोरणोतक पहुच जाना है। और फिर है, लवण-समुद्रकी वे उत्ताल लहरे। उसमे कौस्तुभ-पर्वतको धारण किये हुए वह सूर्य-द्वीप है, और उससे भी परे चलकर वे मागध, वरतनु और प्रभास द्वीप है। देख रहे हो न प्रहस्त ?"

"हा, जो है वह तो नैसर्गिक है, पर वह है इसीलिये गम्य है और तुम्हारी तृप्तिका मार्ग उसीमे होकर है, यही नही समझ पाया हू !... पर पवन, देख रहे हो वह उत्तर भरत-क्षेत्रके बहु-मध्य भागमे वृषभ-गिरि पर्वत खडा है, जहा आकर चक्रवर्तिका मान भी भग हो जाया करता है। षट खड-विजयके उपरान, नियोगके अनुसार, जब चक्रवर्ती इस वृषभ-गिरि पर्वतकी शिलापर अपनी विजयके चिह्न-स्वरूप अपने हस्ताक्षर करने आता है, तो पाता है कि उस शिलापर नाम लिखनेकी जगह नही है। उसमे पहले ऐसे असख्य चक्रवर्ती इस पृथ्वीपर हो गये है और वे सभी उस शिलापर हस्ताक्षर कर गये हैं। तब यह नया चक्री भी अपनेसे पहलेके किसी विजेताका नाम मिटाकर वहा अपने हस्ताक्षर कर देता है, और यो अपनी विजयके बजाय अपने मानकी पराजयकी ही हस्त-लिपि लिखकर वह चुप-चाप वहासे लौट आता है।... पर, खैर, वह तो तुम जानो।

...लेकिन, तुम्हारा मार्ग मेरी कल्पनाकी पकडमे नही आ रहा है। हा, तो महादेवीको जाकर मुझे क्या यही सब कहना है, पवन ?"

"हा प्रहस्त, यदि मेरी वेदनाको तुम इनकार नही करते हो—और

मेरे सखा हो, तो मेरे मनकी इस कथाको मातक पहुंचा देना, और कहनेको कुछ शेष नही है . . . .''

कहकर तुरत पवनजय, बिना कुछ कहे चुप-चाप वहासे चल दिये। प्रहस्तने वे चित्रपट समेटे और म्लान-मुख अपने रथपर आकर बैठ गया ! रास्तेमे वह सोच-सोचकर हार गया कि हाय, क्या कहकर वह माके हृदयको परितोष दे सकेगा ?

[१८]

. एक वर्ष बाद

विजयार्धके पार्वत्य प्रवेश-तोरणपर युद्ध-प्रस्थानके दुदुभि-घोष गूज रहे हैं। आयुध-शालाओसे दिशा-भेदी शखनाद रह-रहकर उठ रहे हैं। तुरही और भेरीके स्वर-सधानमे योद्धाओको रणका आमंत्रण है. . . .

अपराह्नकी अलसता एकाएक विदीर्ण हो गई। अभी-अभी शय्या-त्यागकर पवनंजय उठ बैठे हैं। प्रासादके चतुर्थ खडमे, पूर्वीय बरामदेके रेलिंगपर आकर वे खडे हो गये। देखा कि विजयार्धके अरिजय-कूटपर आदित्यपुरकी राज-पताका वेग-पूर्वक फहरा रही है। प्रस्थानोन्मुख रथोकी जो सरणिका दूरतक चली गई है, उनके मणि-शिखर और ध्वजाए म्लान पडती धूपमे दमक रही हैं। उठते हुए धूलके बगूलोमे अश्वारोहियोकी ध्वजाएं दीख-दीखकर विलीन हो जाती हैं। कवच, शिरस्त्राण और शस्त्रोके फलोसे एक प्रकाड चका-चौंध पैदा हो रही है। हस्तियोकी चिघाड और अश्वोकी हिनहिनाहटसे पृथ्वी दहल रही है। भूगर्भमे कप है, और आकाश आतकित है।

तुरत एक प्रतिहारीको बुलाकर, कुमारने इस अप्रत्याशित युद्ध-घोषणाका कारण पूछा। मालूम हुआ कि पाताल-द्वीपके राक्षस-वंशीय राजा रावणने अपने देवाधिष्ठित रत्नोके गर्वसे मत्त होकर वरुण-द्वीपके

राजा वरुणपर आक्रमण किया है। शुरूमे जब वरुणकी सेनाए रावणकी सेनाओसे पराङ्मुख होने लगी, तो वरुण स्वय युद्ध-क्षेत्रमें उतर पडा। उसने रावणके देवाधिष्ठित रत्नोकी अवहेलाकर उसके बाहुबलको ललकारा है। रावण स्वयं उसके संमुख लड रहे हैं। युद्ध बहुत भीषण हो उठा है। आदित्यपुर वर्षोसे पातालाधिपतिकी मैत्रीके सूत्रमे बधा है। रावण-का राज-दूत सदेश-पत्र लेकर आया है। आदित्यपुर और विजयार्धके अन्य कई विद्याधर राजा रावणके पक्षपर लडनेके लिये आमंत्रित किये गये हैं। उसी युद्धपर जानेके लिये आज आदित्यपुरके सीमातपर सैन्य सज रहा है। महाराज प्रह्लाद स्वय कल सैन्यके साथ संग्रामको प्रस्थान करेगे आदि-आदि। कुमार सुनकर आतुर हो आये। सकेत पाकर प्रतिहारी चली गई।

रण-वाद्योका घोष चुनौती दे रहा है। शखनाद और तूर्य-नादसे कुमारका वक्ष हिल्लोलित हो उठा। धमनियोंका जडित रक्त अदम्य वेगमे लहराने लगा। त्वरापूर्वक वे लबे डग भरते हुए बरामदेमे टहलने लगे। शरीरकी शिरा-शिरासे गूज उठा . .युद्ध युद्ध.. युद्ध। मास-पेशिया कस-मस। उठी। रक्त-ग्रथियोमे एक खिचाव-सा हो रहा है। हृदयकी घुडी तन रही है, मानो टूट जायेगी। . ओह, वर्षोके प्रमाद और मोहसे विजडित और विषाक्त हो गया है यह रक्त। इसे टूटना ही चाहिये, इसे बहना ही चाहिये

युद्धका प्रयोजन, उसका पक्ष, उसकी नैतिकता यह सब पवनजयके लिये गौण है। प्रधान है युद्ध—युद्ध जो जीवनके ससरणकी माग बनकर प्राणके द्वारपर टकरा रहा है।. नही, इस सप्रवाहका अवरोध जीवनकी अवमानना है, वह पाप है, वह पराभव है। इससे बचकर भागा नही जा सकता, इससे मुह नही मोडा जा सकता। प्रगतिके शूल-पथपर वक्षका रक्त टपकाना होगा, उसीसे अभिसिंचितकर उसे पुष्पित करना होगा ..

....हाँ, उसने दिग्विजयी भ्रमण किया है। समस्त जम्बु-द्वीप की पृथ्वी उसने लाधी है। गंगा और सिंधुके प्रवाहोपर उसने उन्मुक्त संतरण किया है। लवणोदधिके प्रचड मगर-मच्छोको वश करते हुए उसकी उत्ताल तरगोपर उसने भ्रारोहण किया है। सूर्य-द्वीपमे कौस्तुभ पर्वतकी चूडापर खडे होकर उसने वलयाकार जंबु-वृक्षोकी श्रेणियोसे मडित जबुद्वीपको प्रणाम किया है!

पर मनकी विकलता बढ़ती ही गई है, वह और भी सघन और तीव्रतर होती गई है। मानो मिट जानेकी एक अनिवार और दुर्दाम लालसा प्राणोको अहर्निश बीध रही है। कौस्तुभ पर्वतके शिखरपर जब वह खडा था, तो एक बारगी ही उसके जीमें आया कि एक छलांग भरकर वह कूद पडे और लवणोदधिकी उन फेनोच्छ्वसित, भुजगाकार लहरोंका आलिंगन कर ले! ....उद्भ्रांत, दिङ्मूढ़-सा वह शून्यमे हाथ पसारकर जट हो रहा। नही, उसे चाहिये प्रति-रोध, सघर्ष, विरोध....। पर्वत, नदी, समुद्र, पृथ्वी और यह महाशून्य, कोई भी तो वह प्रतिरोध नही दे सका, जिससे टकराकर, संघर्षित होकर, हृदयकी यह दुर्दम्य पीड़ा शात हो लेती। प्रगतिका मार्ग सघर्षमें होकर है, विरोधमे होकर है। अवरोधसे टकराकर ही प्रक्रियाकी वह चिनगारी, मर्मकी इस चिर पीड़ामेंसे फूट निकलेगी।....इस अंध पीड़ाको निर्गति देनी होगी; उसीमें छिपा है विकासका रहस्य।....उसे चाहिये आज कुछ ठोस, मासल, जीवित प्रतिरोध-विरोध, जहां वह अपने इस उद्वेगको मुक्ति देकर, प्रगतिका उल्लास बनायेगा।

....और यह युद्ध संमुख है. ..। आज आया है वह भैरव निमत्रंण....हा-हा, पाशवका भैरव निमत्रण। उसीको कुचलकर मानवत्व स्थापित और सिद्ध हो सकेगा।....युद्ध....हिंसा.... रक्तपात, निष्काम और निर्मम रक्तपात.....केवल नग्न शक्तियोंका लोह-घर्षण ?....माना कि अहिंसा है, पर क्या वह फूलोका पथ

है ? मौतके मुंहमें, दुर्दांत हिंसाकी डाढ़में, असि-धाराके पानीपर उस अहिंसाको सिद्ध होना पड़ेगा। शस्त्रोंकी धारोंको कुंठितकर अहिंसाको अपनी अमोघताका परिचय देना होगा, अपनी सूक्ष्म आत्म-वेधकताको प्रमाणित करना होगा।....तब शस्त्रकी सीमा जान लेना जरूरी है। प्राण ले सकने और दे सकनेकी अपनी सामर्थ्यका स्वामी हमें पहले हो जाना है। तब हमें जीवनके मूल्यकी ठीक-ठीक प्रतीति हो सकेगी, और तभी हम उसके चरम-रक्षक भी हो सकेंगे। तब होगी अहिंसाकी प्रतिष्ठा, और तब शस्त्रोंके फल हमारी देहमेंसे पानीकी तरह लहराकर, कतराकर निकल जायेंगे!

. ..कर्म-चक्रको तोडनेके पहले बाह्य शक्तियोंके विरोधी दुश्चक्रोंको तोडना होगा। क्षत्रियकी बाहु बहुत दिनोंसे अकर्मण्य पड़ी है, अब और भूलुठित वह नहीं पडी रहेगी। हथेलियोंसे भुजाए ठपकारकर कुमारने फडकन अनुभव करनी चाही, पर पाया कि शून्य है; स्वाभाविक प्रस्फूर्ति की कपन और फडकन वहा नहीं है। एक आत्म-नाशका हिल्लोल है, जो मथ रहा है—कुछ टूटना चाहता है, नष्ट होना चाहता है। ..उन्नत वक्षपर योद्धाका हाथ गया, हृदयमें दीप्त, ज्वलत उल्लास नहीं है। है एक हूल, एक पके हुए फोडेकी पीडा। एक आसुरी उत्साह-से, उद्वेगसे, कुमार भर आये.. .ओह, दुःसह है यह, जाना ही होगा....

"कौन है....?"

पुकारा कुमारने। द्वारोंसे दो-चार प्रतिहारिया आकर नत हो गई।

"तुरग वैजयतको युद्ध-सज्जासे सजाकर तुरंत प्रस्तुत करो!"

आज्ञा पाकर प्रतिहारिया दौड गईं। आयुध-शालामें जाकर योद्धाने कवच और शस्त्रोंसे अपना सिंगार किया!

और संध्याकी मद पड़ती धूपमें दूरपर दीखा—वैजयत तुरंगपर शस्त्र-सज्जित कुमार उड़े जा रहे थे। पिंगल-कोमल किरणोंसे शिरस्त्राणके हीरोंमें स्फुलिंग उठ रहे थे।

दिनभरसे महाराज अपने मंत्रियोंके साथ मंत्रणा-गृहमें बद थे। युद्ध-संचालनपर गंभीर और अतिगुप्त परामर्श चल रहा था। पवनंजय घोड़ेसे उतरकर ज्योंही द्वारकी ओर बढ़े, सेवक राजाज्ञाकी बाधा उनके संमुख न रख सके। द्वार खुल गये।

अगले ही क्षण कुमार महाराजके संमुख थे। देखकर राजा और मंत्रीगण आश्चर्यसे स्तब्ध, मुग्ध और निर्वाक् हो रहे। एक पैर सिंहासनकी सीढीपर रखकर पवनंजयने पिताके चरणोंमें अभिवादन किया, फिर कर-बद्ध आवेदन किया—

"आज्ञा दीजिये देव, रणागणमे जानेको सेवामे उपस्थित हूँ। पवनजय इस युद्धमें सैन्यका सचालन करेगा। अपने पुत्रके भुजबलका निरादर न हो देव, उसके पुरुषार्थकी लोकमें अवगानना न हो, यह ध्यान रहे। उसे अवसर दीजिये कि वह अपनेको आपका कुलावतंस सिद्ध कर सके, अपने क्षात्र-तेजपर वह समस्त जबुद्वीपके नरेंद्र-मंडलका शौर्य परख सके ! मेरे होते और आप रणागणमे जायें ? वीरत्वके भालपर कालिख लग जायगी। वंशका गौरव भू-लुठित हो जायगा। आज्ञा दीजिये देव, इसमे दुविधा नही होगी...."

"साधु, साधु, साधु !" कहकर वृद्ध मत्रियोने गभीर सिर हिला दिये। भीतर-भीतर गूज उठा—'देव पवनंजयका वचन टलता नही है।' महाराजकी आंखोमें हर्षके आंसू छलक आये। स्नेहके अनुरोधमें, रुधे कठकी अस्फुटित वाणी रुक न सकी—

"तुम्हारा अभी कुमार-काल है बेटा—और फिर तुम...."

बीच हीमे पवनंजय बोल उठे—

"यह दुलारका क्षण नही है, देव, क्षत्रियके संमुख कठोर कर्तव्य-विचार है, और सब अप्रस्तुत है। आशीर्वाद दीजिये कि पवनजयका शस्त्र अमोघ हो; वह अजेय हो मौतके संमुख भी....!"

और फिर झुककर पवनंजयने पिताके पाद-स्पर्श किये। पुत्रके

सिरपर हाथ रखकर मुखसे विह्वल पिता केवल इतना ही कह सके—

"समूचे विश्वकी जय-लक्ष्मीका वरण करो, बेटा !"

और बूढ़ी आखोके पानीमे अनुमति साकार हो गई ।

[१६]

वसंत ऋतुकी चादनी रात खिल उठी है । अभी-अभी चाद तमालकी वनालीपरसे उग आया है । पूर्णिमाका पूर्ण चद्र नही है, होगा शायद सप्तमीका खडित और बकिम चन्द्र !

धूप-गधसे भरे अपने कक्षमे, इष्ट-देवके संमुख जब अजना प्रार्थनासे उठी, तो झरोखेकी जालीसे वह चाद उसे अचानक दीखा । नीचे था तमालोका गभीर तमसा-वन । अंजनाको लगा कि कौन गर्वीली, बकिम चितवन अन्तरमें बिजली-सी कौध गई. . . !

वह उठी और बाहर छतपर आ गई . . .। रात्रिके प्राण मुखसे ऊर्मिल है । रजनीगधा, माधवी और मौलश्रीके कुजोसे फैलती सौरभमे जन्मातरकी वार्ता उच्छ्वसित हो रही है ।—नारिकेल-वनके अतरालोमें पुडरीक सरोवरकी लहरे वैसी ही लीला और लास्यमे लोल और चचल है । दुरत है वे—जल-कन्याये। ऐसी कितनी हो वसत, शरद, और वर्षाकी रात्रियां उनमे होकर निकल गई है, पर वे लहरे तो है वैसी ही चिर कुमारिकाए ! कौन छीन सका है उनका वह बालापन ?

अंजनाका मन, जो स्मृतियोकी एक घनीभूत ऊष्मासे घिरकर आहत हो रहा था, अप्रतिहत भावसे उठकर चला गया उन वयहीन जल-कन्याओंके देशमें । . . . .नही, वह अबकी विगत मोह-रात्रिमें नहीं भटकेगी—नहीं ढोयेगी वह स्मृतियोका बोझा। वह नही होगी अतीतसे

अभिभूत और आवृत। अम्लिन, शुभ्र—वह तो वैसीही रहेगी अबंध और अनावरण, अपने ही आत्म-रमण मे लीलामयी-लास्यमयी।

कि एकाएक दृष्टि फिर चादकी ओर खिच गई। फिर उसी चितवनके मानने, उसी भंगिमाके गौरवने अतरको बीध दिया। सौरभकी एक अतहीन श्वास प्राणमेंसे सर-सराती हुई चली गई ...।

.....ओह बाईस वर्ष बीत गये, तुमने सोये या जागते किसी आधी-रातमे भी द्वार नही खटखटाया। कभी खटका सुनकर मनकी हठको न टाल सकी हूँ तो आतुर पैरोसे आकर द्वार खोला है और पाया है कि बाहर हवाये खिल-खिला रही है और झाड हँसी कर रहे है। पर आज कौन हो तुम, जो इस एकान्त साम्राज्यके द्वारकी अर्गलासे मन-माना खिलवाड कर रहे हो ? पर सम्राज्ञी स्वय तुम्हारे इस ऐश्वर्य-साम्राज्यसे निर्वासित हो गई है। वह चली गई है परे, बहुत दूर, क्योकि तुम्हारी इस महिमा और प्रतापको झेलनेके लिये वह बहुत क्षुद्र थी—बहुत असमर्थ। इसीसे उसे चले जाना पडा—अब क्यो उसका पीछा कर रहे हो ?

चारो ओर प्रसरे चादनी-स्नात उद्यानमे अंजनाकी दृष्टि दौड़ गई। वन-घटाओ और कुजोका पुजीभूत अधकार चादनीके उजालेमें अनेक रहस्योकी अलके खोल रहा था। पेडो तले बिछे छाया-चादनीके रहस्य-लोकमें प्रतीक्षाकी एक कातर, व्यग्र दृष्टि भटक रही है। कोई आया चाहता है....आनेवाला है....! तभी कोई छायाकृति जाती हुई दीख पडती—केलिगृहके झरोखो और द्वारोमें होकर, क्रीडा-पर्वतके गुल्मोमें होकर, कृत्रिम सरोवरोके कमल-वनोंमें होकर वह चला ही जा रहा है। श्वेत है उसका घोडा; भयानक वेगसे वह दौड़ता हुआ झलक पड़ता है। निर्मम पीठ दिये, अचल है उसपर योद्धा ! पर उसका शिर-स्त्राण निश्चिह्न है... ?

एक गहरी चितासे अजना व्याकुल हो उठी।....नही पकड़

पा रही है वह उसे। . . विजयार्धके कंगूरोपर झपट रहा है वह श्वेत अश्वारोही. . .। पर उसका शिरस्त्राण क्यो नही सूर्य-सा प्रभामय और दीप्त है ? . अजनाने—अनजाने ही दोनो हाथोसे हृदयको दाब लिया . ओह, क्यो नही चल रहा है उसका वश, कि इसे तोडकर एक चिंतामणि उस शिरस्त्राणमें टाक दे. . . !

और जाने कब अजना भीतर आकर अपने तल्पपर लेट गई थी। तल्पकी पाषाणी शीतलतामे वह अपने—दुखते हुए वक्षको दबाये ही जा रही है। मानो इसकी सारी स्वाभाविक शीतलता और कठोरताको या तो वह अपनेमें आत्मसात् कर लेगी, या आप उस पाषाणमें पर्यवसित हो जायगी !

"रूप ? कोई सागोपाग स्वरूप तुम्हारा नही देखा है, न जानती ही हू। पर देखी है तुम्हारी अजेय और उन्मुक्त गतिमयता, मानसरोवरकी उन विरुद्धगामिनी लहरोपर ! लौटकर जिसने नही देखा, वह पुरुषार्थ ! उस सतत प्रवहमानको पाकर ही मुकर गई हू रूपको— कि उस सौदर्य और तेजको कालके हाथो क्षत होते नही देखूगी ! आज भी देख रही हू कि तुम गतिमय हो। . आ नही रहे हो, तुम तो चले ही जा रहे हो। बाईस वर्षतक तुम्हारी उपेक्षाकी पीठको सहन किया है, सो इसीके बलपर। अनेक नव-नवीन मनमाने रूपो और भगिमाओमें तुम्हें अपने अतरमें देखा है, पर वह एक और स्थिर कोई विशिष्ट रूप तुम्हारा नही जानती हू। आज मन नही मान रहा है। . . .एक बार तुम्हारी गतिकी बाधा बनकर, तुम्हारे अश्वकी चापको इस वक्षपर झेलना चाहती हू—और जब अटक जाओगे, तभी उझककर एक बार वह रूप देख लूगी. . . .! फिर उसकी मिथ्या बाधा मेरे साथ छल नही खेल सकेगी। . . . और टांक दूंगी तुम्हारे शिरस्त्राणमें यह चिंतामणि. . . .

दिनभर युद्धके वाद्योके घोष गूजते रहे हैं। . . . .युद्ध-वार्ता जानी और साझको सुना कि तुम जा रहे हो सेनानी बनकर. . . .? पर इस

युद्धके प्रयोजनमे क्या तुम औचित्य देख रहे हो मेरे वीर? निर्विवेक युद्ध क्षत्रियका कर्तव्य नही, वह उसकी लज्जा है; बर्बरता है। तुम असद्के पक्षमें, मदके पक्षमें लड़ने चढोगे? . . . . ओह, केवल युद्धके लिये युद्ध? . . . मानो कुछ काम नही है तो, जीवित मनुष्योके मुडोंसे ही क्षत्रियका प्रमत्त शस्त्र खिलवाड करेगा! . . . . तो पहले इस वक्षको भी रोदते जाओ, एक प्रहार इसे भी देते जाओ, यदि तुम्हारा प्यासा वीरत्व, अणुमात्र भी तृप्ति पा सके . . . . !

. . ओ मेरे गतिमान, गतिका अभिमान भी बधन ही है—वह मुक्ति नही है; वह पीछे किसी अतीतकी ध्रुव-मरीचिकासे हमे बाधे हुए है। . . . ।

और अतरतममे कसक उठा—'तुम्हे रोकनेवाली मैं कौन होती हूं? कितनी ही बार तुम्हारी दुर्गम और विकट यात्राओके वृत्त सुने, और सुनकर चुप हो गई। कौतुक सूझा और हसी भी आई है, पर प्रश्न नही किया! पर आज तुम युद्धमे जा रहे हो और तुम्हारी गतिकी यह वक्रता—यह दुर्दमता मनमे भय और सदेह जगा रही है। भयानक और प्रचड हो तुम! तुम्हे एक बार पहचान लेना चाहती हू—ओ स्वरूपमय—कि जाने कितने जन्मोका यह बिछोह है, और कही तुम्हे भूल न जाऊं. . . सिर्फ एक बार, एक झलक . . . .

× × ×

फूटती हुई ऊषाके पाद-प्रातमे दुदुभियोके घोष और भी प्रमत्त हो उठे हैं। मानो प्रलयकालकी बहिया किसी पर्वतमें धंसनेके लिये पछाडे खा रही हैं। दूर-दूर चले जाते प्रस्थानके वाद्योमें दुर्निवार है गतिका आवाहन। शख-नादोमें चंडीकी रुद्र हुकृति, त्रिशूल-सी उठ-उठकर हृदयको हूल रही है।

और उदय होते हुए सूर्यके संमुख स्वर्ण-रत्नोसे अलकृत धवल

वैजयंत तुरगपर चले आ रहे हैं, कुमार पवनजय । मांने अभी-अभी तिलककर उनकी कटिपर कृपाण बाधी है, तथा श्रीफल और आशीर्वाद देकर उन्हे युद्धके लिये विदा किया है । वीर-सज्जामे कसे हुए योद्धाके अग जहासे जरा भी खुले है, वहासे रक्ताभा फूट रही है । कवचपर वे केशरिया उत्तरीय धारण किये है, रत्न-हारोकी कातिको ढाँकती हुई शुभ्र फूलोकी अनेक पुष्ट मालाए देहपर झूल रही है । कलशाकार शिरस्त्राण और मकराकृति कुडलोके हीरोमे प्रभाकी एक मरीचिका खेल रही है ।

युद्धारूढ़ कुमार अत पुरका प्रासाद-प्रागण पार कर रहे है । झरोखोमे फूलोकी राशिया बरस रही है । प्रागणमें दोनो ओर कतार बाधे हुए प्रतिहारिया चवर ढोल रही है । सौ-सौ स्वर्ण-कलश और आरतिया लेकर कुल-कन्याये कुमारके वारने (बलैया) ले रही है । गमनकी दिशामे एक श्रेणिमें उद्ग्रीव होकर कुमारिकाए मगलके शख बजा रही है । चारो ओर रमणी-कठोमे उठते हुए जय-गीतोकी सुरावलियोसे वातावरण आकुल-चचल है ।

रत्नकूट-प्रासादके सामनेसे निकलते हुए कुमारके भ्रूं-भग अनजाने ही धनुषकी तरह तन आये । जितना ही पीछे खिच सके, खिचकर तीरने अपना आखिरी बल साधना चाहा । वह गर्व अपने तनावमें पूर्ण वृत्ताकार होता हुआ, आखिर अपने ध्रुवपर अवश जा ठहरा !

देखा पवनजयने, प्रासादके द्वार-पक्षमे एक खंबेके सहारे टिकी अजना खडी है ! दोनो हाथोमें थमा है मंगलका पूर्ण कलश, जिसके मुखपर अशोकके अरुण पल्लव बधे है । सुहागिनीकी शृगार-सज्जा उस दूजकी विधु-लेखा-सी तरल-तनु देहमें लीन हो रही है । अकलंक गल रही हिमकी उस शुभ्र सजलतामें विषादकी एक गहरी रेखा बह रही है, घुल रही है और फिर ऊपर आ जाती है । अजनाकी उस स्थिर सजल दृष्टिमे कुमारने निमिष भर झाका. . . .विश्वकी अथाह करुणाका

तल उन आंखोमे झलक गया... ! पर ओठोंपर है वही आनदकी, मंगलकी अमंद मुस्कराहट !

....नही, वह नही रुकेगा... वह नही देखेगा. ..ओह, अशुभ-मुखी ! ....कुमारने झटकेके साथ कुहनी पीछे खींचकर वल्गा खींची; घोडेको एक सवेग ठोकरसे एड दी। हाथका श्रीफल झुंझलाहटमें हाथसे गिरते-गिरते बचा।.. .खड्ग-यष्टिमेसे खिंचकर तलवार उनके हाथोंमे लप-लपा उठी। एक दीर्घ सिसकीके साथ आये हुए उच्छ्वासमें तीव्र किंतु स्फुट स्वर निकला—

"दुरीक्षणे....छि.!"

शब्दकी अनुध्वनि अपने लक्ष्यपर जा बिखरी। अंजनाकी मुस्कराहट और भी दीप्त होकर फैल गई। उसके अतरमे अनायास स्वरित हो उठा—

"आह, आज आया है प्रथम बार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा ....तुम मुझसे बोल गये ! ....हतभागिनी कृतार्थ हो गई, जाओ अब चिंता नही है।....अमरत्वका लाभ करो ! ....देश और कालकी सीमाओपर हो तुम्हारी विजय ! पर मेरे वीर, क्षत्रियका व्रत है त्राण, उसे न भूल जाना। तुम हो रक्षक, अनाथके नाथ।.... जाओ, शत्रुहीना पृथ्वी तुम्हारा वरण करे....!"

और अगले ही क्षण वह मूर्छित होकर गिर पडी। कि नही रहेगी, वह शेष ! और आसू अविराम और नीरव, उन बद नेत्र-पक्ष्मोमेसे झर रहे थे।

रास्तेमे पवनजयके हृदयकी घृणा तीव्रतम होकर मानों रुद्ध हो गई और देखते-देखते वह छिन्न-विच्छिन्न हो गई। युद्ध-सज्जाकी सारी कसावटोके बावजूद स्नायु-बंध ढीले पड गये। अनायास एक असह्य, निगूढ़, अननुभूत, अतल वेदना देहके रोयें-रोयेमे बज उठी। आस-पाससे उठ रही मगल ध्वनिया, सैन्य-प्रवाहकी जय-जय-कारे, वाद्योके तुमुल घोष,

सभी मानो दूरसे आते हुए एक अरण्य-रोदनसे गूंजकर व्यर्थ हो रहे थे। और उस सबके बीच अकेले कुमार, अपने ही आपसे पराजित, भयभीत, हतबुद्ध, कातर, वितृष्ण चले जा रहे थे।

[२०]

योगायोग : सैन्यने मानसरोवरके तटपर जाकर ही पहला विश्राम किया। कटकके कोलाहलसे तटकी निर्जनता मुखरित हो गई। दूर-दूर तक सैन्यका शिविर फैल गया।—भोजन-पानसे निवृत्त होकर श्रात और क्लात सैनिक-जन अपने-अपने डेरो में विश्राम लेने लगे। हाथी, घोड़े और बैल बंधनोंसे छूटकर, तलहटीकी हरियाली घासमें चरनेको मुक्त हो गये।

पवनजय अपने डेरेमें विश्राम नहीं पा सके। मार्गका श्रमक्लेश मानो उन्हें छू भी नहीं सका है। करवट बदल-बदलकर उन्होंने निद्रस्थ हो जाना चाहा है, कि मन और शरीर शात और स्वस्थ हो लें। यह निरर्थक उलझनोंकी उधेड़-बुन मिट जाय, और सवेरे युद्ध ही हो उनका एक मात्र काम्य और उद्दिष्ट। पर अग अनायास संचालित हैं—सिमट-सिकुड़कर अपने भीतर ही मानो लुप्त हो रहना चाहते हैं। लेकिन इस भाति और त्राससे जैसे रक्षा भीतर नहीं है। एक—अवचेतन हिल्लोल-के वेगसे पैर चालित और चचल हैं।

अकेले ही वे घूमने निकल पड़े, निष्प्रयोजन और निर्लक्ष्य। वे कितनी दूर और कहा निकल आये हैं, इसका उन्हें भान नहीं है।

वसतके कोमल आतपमें पर्वतोंकी हिमानी सजल हो उठी है; स्फटिक और नीलम मानो पिघलकर बह रहे हैं। उपत्यकाओ और घाटियोंमें वन्य-सरिताएं और सरसियां प्रसन्न और स्वच्छ हैं। किनारे उनके मोतिया, कासनी, गुलाबी, आसमानी आदि हलके रगोंके कुसुम-वन सजल आभामें

चित्रित है। स्निग्ध किशलयों और पल्लवोसे अकुरित पार्वत्य पृथ्वी किशोरी-सी नवीना और मुग्धा लग रही है; मानो आमंत्रणसे भरी है। पर्वत-ढालोंपर सरल, साल और सल्लकीके छत्र-मडलसे तनोवाले उत्तुंग वृक्षोकी मालाए फैली हैं। बीच-बीचमे पग-डडिया जंगली हाथियोंके दातोसे टूटी हुई मैनसिलकी धूलसे धूसर हैं। पाषाण-भेद वृक्षोंकी मजरियोमे शिलातल आच्छादित है। पर्वतके पाषाण-स्तरोमें अनेक प्रकारके मद, रस और धातु-राग पिघल-पिघलकर दिन-रात बह रहे है....

....पवनजयने अनुभव किया कि जैसे उनके भीतरकी कठिन ग्रंथियोकी घुडिया अनायास खुल पडी हैं। अरे यहा तो सभी कुछ द्रवीभूत है, नम्र है, परस्पर समर्पित है; सभी कुछ सरल, सुषम और प्रसन्न है!

अकुंठित औत्सुक्य और जिज्ञासासे वे आगे बढ़ते ही गये। पर्वतके अंतःप्रदेशोमे जहातक मार्ग जाता है, वे चले जाते हैं; और छोरपर जाकर किसी निभृत एकातमें वे पाते हैं—सुरपुन्नागके अधियारे वनतलमें झरी हुई पराग बिछी है, स्वर्णकी रज-सी दीप्त।....किस विजनवनीने, किस अनागत प्रवासीके लिये यह परागकी सौरभ-शय्या जाने कबसे बिछा रक्खी है? क्या वह प्रवासी कभी न आया और कभी न आयेगा? और क्या यह अभिसार अनंत कालतक यों ही निरर्थक चलता रहेगा? वनके अधियारे विवरोंमें कुमार धसते ही चले जा रहे है, मानो द्वारके बाद द्वार पार कर रहे हैं। ऐसे अनेक नैसर्गिक पुष्प-कुंजोके तले पराग और कुसुमोंकी ऊष्म और शीतल शय्याएं बिछी हैं। इस निभृतकी वह चिर प्रतीक्षमाणा बाला किस निगूढ पर्वत-गुफामें एकांत-वास कर रही है? अनेक वसंत-रात्रियोंके सुरभित उच्छ्वास वहा शून्य और विफल हो गये हैं। कहा छिपा है इस चिर दिनकी विच्छेद-कथाका रहस्य?

उपत्यकाके दोनों ओर आकाश-भेदी पर्वत-प्राचीरें खड़ी हैं। बीचके संकीर्ण पथमेंसे पवनजय चले जा रहे हैं, कि अचानक ऊपरके खुले आकाशको देखनेके लिये उन्होंने गर्दन उठाई। उन्होंने देखा— एक ओरके पर्वत-शृंगको एक चट्टान जरा आगेको झुक आई है—और उसपर खडा है एक श्वेत प्रस्तरका छोटा-सा मंदिर। आस-पास उसके घास और सकुल झाडियां उगी हैं। द्वार उसका रुद्ध है, और वहांतक जानेके लिये राह कहीं नहीं है। मंदिरके श्वेत गुंबद्पर सांध्य सूर्यकी एक रक्तिम किरण ठहरी है।.. .अरे, कौन है वह अभागा देवता, जो इस अरण्यकी सुन-सान और भयानक गुंजानतामें कपाट रुद्धकर समाधिस्थ हो गया है? क्यों उस उत्कट ऊंचाईपर जाकर वह अपने ही आत्म-संक्लेशमें बंदी हो गया है? उस अज्ञात देवताकी विषम पीडा, पवनंजयके वक्षमें जैसे कसमसा उठी।....और उसे लगा कि ये दोनों ओरकी पर्वत-प्राचीरें अभी-अभी मिल जायेंगी, और वह अभी एक अतलान्त अंधकारकी तहमें सदाके लिये विसर्जित हो जायगा।

पवनंजय द्रुतगतिसे झपटते हुए बढ चले। जल-तरंगोंसे आर्द्र पवनका स्पर्श पाकर वे आश्वस्त हो गये। थोडी ही देरमें वे मान-सरोवरके एक विजन तटपर आ निकले। उन्हें लगा कि वे एक पूरी परिक्रमा ही कर आये हैं। झीलके सुदूर पूर्व तटपर दीख रहा है वह सैन्यका शिविर। यह तट सर्वथा अपरिचित और एकांत है। सामने झीलके पश्चिमी किनारेपर जो गुफाओंकी श्रेणी है, उनमेंसे विपुल अंधकार झांक रहा है। उनके शीर्षपरकी झाडियोंमें अस्तगामी सूर्यकी लाल किरणें झर रही हैं। जल-तरंगोंके नीलमी कुहासेमें दीख रहा है वह गुफाओंका राशि-राशि अंधकार। और उनके सम्मुख फैली है यह जल-विस्तारकी प्रशांत विजनता।... कौन योगी मौन और आत्म-विस्मृत होकर सहस्रावधि वर्षोंसे इस अंधकारकी शृंखलाओंमें बंधा, इन गुफाओंके पाषाणोंमें जडीभूत हो गया है? किस जन्म-जन्मके दुरभिशापसे वह शापित है? किस

अविज्ञानित अतरायमे वह बाधित है ? क्या है उसके तरुण मनकी चाह ? क्या है उसकी चिंता और उसका स्वप्न. . . ? उस अधेरेकी चिर उन्निद्र अचेतनतामेंसे एक गभीर पीडाका वाष्प आकर मानो पवनके हृदयमें बिंधने लगा।. . . वह मुक्त करेगा उस योगीको, तभी आसकेगा !. . वह पार करेगा झील और भेदेगा गुफाओकी उस तमसाको. . . .!

तभी उसकी दृष्टि उन गुफाओसे परे, मानसरोवरके सुदूर पश्चिमी जल-क्षितिजपर गई। विरल देवदारु वृक्षोंके अतरालमे सूर्यका किरण-शून्य चपक बिंब डूब रहा है। कोई गहरी नीली लहरी उसपर उभककर ढुलक जाती है। उसपर होते हुए हसो और सारसोंके युगल रह-रहकर आर-पार उड जाते है। कुमारको लगा कोई तरुण योगी जल-समाधि ले रहा है। समस्त तेज उसका पर्यवसित हो गया है, उन उभकती लहरोमे; और उनके तरल शीतल आलिंगनमे हो गया है वह निरे शिशु-सा कोमल और निरीह. . . .

. . . .तभी एकाएक पैरोंके पास पवनंजयको किसी पक्षीका आर्त्त स्वर सुनाई पडा। ज्यो ही उनकी दृष्टि वहा पड़ी तो उन्होने देखा कि तटके कमल-वनमें तरग-सीकरोंमे आर्द्र एक कमल-पत्रपर एक अकेली चकवी छट-पटा रही है। इस जलमय पत्रकी मृदु शीतलता भी मानो उसे शूल हो गई है ! वह त्रस्त नयनोसे डूबते हुए सूर्यकी ओर देखती है, और आकुल होकर, पख फैलाकर लोटने लगती है। वह झुककर जलमे अपना प्रतिबिंब देखती है और उसे लगता है कि वही है. . . . वही है उसका प्रीतम चकवा, इस जलके तलमे। वह करुण स्वरमें उसे पुकारती है, पर वह प्रीतम नही सुनता है, नही आता है। वह उन लहरोमे चोंच डुबो-डुबोकर उसे खीच लेना चाहती है, पर वह खो जाता है ! हारकर वह चकवी श्लथ पंखोसे तटके वृक्षोंपर जा बैठती है। सूनी आखोंको फाड़-फाड़कर वह दसों दिशाओको ताकती है। दूर कटकसे आ रहे कोलाहलके विचित्र स्वर उसे भ्रमित कर देते

हैं। वह हारकर, खींककर, वियोगके आक्रंदनसे विह्वल हो भूमिपर आ गिरती है। पंख हिला-हिलाकर, कमलोकी जो सुरभित-कोमल रज लग गई है, उसे वह दूर कर देना चाहती है। डूबते हुए सूरजकी कोरपर चकवीका प्राण अटका है।....कि लो वह सूरज डूब गया, और चकवा अब नहीं आयेगा ! और विरहकी यह रात्रि समुख है आसन्न ? निष्प्राण होकर चकवी भूमिपर पड गई !

. . और आत्माके अशेष अतरालोको चीरकर दूरसे आती हुई जैसे एक 'आह' कुमारको सुनाई पडी। मूक और निस्पद पडी है यह चकवी, फिर किसकी है यह करुण पुकार ?

. कालका अभेद्य अनराल जैसे एकाएक विच्छिन्न हो गया। .. वर्षों पहलेकी एक सध्यामें, सरोवरके इसी प्रदेशमें, लहरोकी गोदमें लीलाका वह मुक्त क्षण ! ....और वहा सामने बना था वह उजला महल।.. दिगतमें वह 'आह' गूज उठी थी, और उसीकी उसे खोज थी।.. .पर हाय भूल गया था वह अभागा, उसी पुकारको, जिसे अनजानमें खोजने ही ये सारे वर्ष विफल हो गये हैं। उस दिन पुरुषार्थके अभिमानने उसे लौटकर नही देखने दिया था। पर आज .? आज वह खडा है इस शून्यमें आखे पसारकर . बेबस ? ..पर नहीं है वह महल ...नहीं है वह अटा... नही है उस मृदुमुखकी केश लटे .नहीं है वह उडता हुआ नीलावर ! केवल एक पुकार दिगतोके अतरालमें बिछुडती ही चली जा रही है ...!

सामनेके उस तटमें बनी थी, लहरोसे विचुबित वह परिणयकी वेदी। जलकी नीलाभापर वे होमकी सुगधित अग्नि-शिखायें। धुएके नील आवरणमें उस प्रवाही लावण्यकी ऊर्मिल आभा झलक जाती। . .'.पर मनकी उस क्षणकी वह प्रतारणा, वह आत्मद्रोह....! वह नही देख सका था उसे, वह नही सह सका था सौंदर्यकी वह दिव्य-श्री। ओ अभागे, किस जन्मकी विषम और दीर्घ अतराय लेकर जन्मे थे ? कैसा दुर्धर्ष था

यह अभिशाप ? कितने वर्ष बीत गये हैं . . . . गिनती नही है . . . . शायद दस-बीस . . . . बाईस वर्ष . . . . मैंने मुड़कर नही देखा . . . .

यह तिर्यक् चकवी एक रातके प्रियके विरहमें हतप्राणा हो गई है। पर उस मानवीने उस रत्नमहलकी वैभव-कारामे बाईस वर्ष बिता दिये . . बाईस वर्ष ! कोई अभियोग नही, कोई अनुयोग नहीं, कोई उपालभ नही ? एक व्याधकी तरह मानसरोवरकी उस हसीको मैंने सोनेके पिंजडेमे ले जाकर बद कर दिया और फिर लौटकर नही देखा कि वह जी रही है या मर गई है ! देखना दूर, उसकी बात सोचना भी मुझे पाप हो गया था।

कि अकस्मात् एक सघन विषादके आवरणको चीरती हुई दीखी वह पूर्ण मंगल-कलश लिये, महलके द्वार-पक्षमे खड़ी अजना। एक अवश आक्रदनसे पवनजयका सारा मन-प्राण विह्वल हो उठा . . . . ! ' . . . . अरे तुम्ही हो . तुम ! विच्छेदकी सहस्रो रातोमे वेदनाकी अखंड दीप-शिखा-सी तुम बलती रही हो ? . . . और उस दिन चुप-चाप मुस्कराकर, मुझ पापीका पथ उजाल रही थी ! क्या था तुम्हारा ऐसा अक्षम्य अपराध, कि मैंने तुम्हारा मुंहतक नही देखा, और डकेकी चोट तुम्हे त्याग दिया ? मैंने त्याग दिया था, क्योकि मै पुरुष था, पर तुम ? क्या तुम मुझे नही त्याग सकती थी ? तुम भी तो दीक्षा लेकर अपने आत्म-कल्याणके पथपर जा सकती थी ? . . . . पर तुम न गई ! . . . . क्योकि मेरे युद्ध प्रस्थानकी बेलामे, वह मगलका कलश जो तुम्हें संजोना था . . . . !

. . . एक और आत्म-मोहका आवरण मानो सामनेसे हट गया। उसे दीखी एक मुग्धा किशोरी ! उसकी वह समर्पणसे आनत भगिमा, जो अपने प्रियकी स्तुति सुनकर सुखमें विभोर हो गई है। आखें उसकी निगूढ़ लाजसे मुद गई है। माथा झुका है, और ओठोंपर है एक सुधीर, गोपन आनदकी मुस्कराहट। एकरस और अजस्र है वह प्रवाह। स्पर्शन,

दर्शन, वचनका विकल्प वहा नहीं है। स्वीकारकी अपेक्षा नही है, कामना-की आतुरता और व्यग्रता भी नही है। केवल है अपना ही विवश और विस्मृत निवेदन। वचन वहा व्यर्थ है, फिर कौनसी तिरस्कार, निंदा या गर्हाकी वाणी है, जो आनंदकी उस मुस्कराहटको भग कर सकती है? और कौनसा अपराध है जो इस मुग्धाको आज उससे छीन सकेगा....?

तभी अचानक तंद्रा टूट गई। पवनजयने पाया कि उस विजन तीरपर, वह स्वय परित्यक्त और अकेला है; ....वह स्वय मूर्तिमान, नग्न अपराधके प्रेत-सा खडा है। झीलपर झलमलाती इस चादनीमें उसकी एक दीर्घ, दानवाकार छाया पड रही है। वह अपने आपमे ही भयभीत होकर काप-काप उठा। वह बिल-बिला आया, और दोनो हाथोंसे मुह ढापकर धरतीपर बैठ गया। राह भूला हुआ कोई बालक, दिनभर भटकनेके बाद, रातमें राह असूझ हो आनेपर कही कटे पेड-सा आ गिरा है।

एक आर्त कराहके साथ चकवी फिर तडप उठी। पवनजयने चिहुक-कर देखा। वे व्यथासे व्याकुल हो आये। वे क्या कर सकते हैं उसके लिये? क्या देकर उसे धीरज दे सकते हैं? परितापसे उफनाता हुआ यह अपराधी हृदय? ओह, वह उसमे झुलस जायेगी। वह कमल-पत्रका गीला स्पर्श भी उसे असह्य हो गया था ...! और उनकी आखोमें झिर-झिर-झिर आसू बह आये—उत्तप्त—मानो पिघलता हुआ लोहा हो, पाषाणोके प्रकृत काठिन्यको बीधकर जैसे निर्झरिणी फूट पडी हो!....

× × ×

डेरेके एकातमे प्रहस्त और पवनजय आमने-सामने बैठे हैं। अभी-अभी कुमार मनका सारा रहस्य खोलकर चुप हो गये हैं। सुनकर प्रहस्त आश्चर्यसे दिग्मूढ हो गया—हाय-हाय री मानव मनकी दुर्बलता, मानव भाग्यकी पराजय! अहकी इस जरा-सी फासमे इतना बड़ा अनर्थ घट

गया। गोपनके इस नगण्यसे लगनेवाले पापमें दुखकी एक सृष्टि ही बस गई;- अनेको जीवन निरर्थक हो गये। कितने न ऐसे रहस्य आत्माके अतरालमें लेकर यह ससारी मानव जन्म-मरणके चक्रोंमें अादिकालसे भटक रहा है ? बोले प्रहस्त—

"....तुम उस मुग्धा बालाको न पहचान सके, पवन ? ऐसे घिरे थे आत्म-व्यामोहमे ! तुम तो देश-कालाबाधित सौंदर्यकी खोजमें गये थे न ? ....पर, कब पुरुषने नारीके अतरगको पहचाना है ? कब उसकी आत्माके स्वातन्त्र्यका उसने आदर किया है ? अपने स्वयानके मूल्यपर ही सदा बर्बर पुरुषने उसे परखा है। और एक दिन जब उसका वही मान घायल होता है, तब वही देती है अपने क्रोडमें उसे शरण ! उस प्रमत्ततामें पुरुष अपने परायेका विवेक भी खो देता है। हृदयके समस्त प्यारकी कीमतपर भी, तुम यह भेद मुझसे छुपाये रहे। तुमने मुझे भी त्याग दिया। प्यारका द्वार ही तुम्हारे लिये रुद्ध हो गया। अपने ही हाथों अपने हृदयके टुकड़े कर, अपने पैरोंके नीचे तुमने उसे कुचल डालना चाहा—उसे मिटा देना चाहा, पर क्या वह मिट सका....?"

अनुतापसे विगलित स्वरमे पवनंजय बोले—

"नही मिटा सका प्रहस्त, स्वयं मौतके हाथो अपनेको सौंपकर भी नही मिटा सका। अपने उसी अज्ञानका दंड पानेके लिये मरकर भी मै प्रेतकी तरह जीवित रहा।. ..पर प्रहस्त, अब प्राण मुक्तिके लिये छटपटा रहे हैं ! साफ़ देख रहा हूं भैय्या, रक्षा और कही नही है। उसी आंचलके तले नव जन्म पा सकूंगा। यह घडी अनिवार्य है; मेरे जन्म और मरणका निर्णायक है यह क्षण, प्रहस्त ! मुझे मृत्युसे जीवनके लोकमें ले चलो। जल्दी करो प्रहस्त, नही तो देर हो जायेगी।....युद्ध मुझे नही चाहिये प्रहस्त, वह धोखा है, वह आत्म-छलना है। मै अपने ही आपसे आंख-मिचौनी खेल रहा था। युद्ध मुझसे न लडा जायगा। देखो न प्रहस्त, मेरी भुजाएं कांप रही हैं, पैर लड़-खड़ा रहे हैं, छाती उफना

रही है—जीवन चाहिये प्रहस्त, मुझे जिलाओ। पापकी ये ज्वालाएं मुझे भस्म किये दे रही है, मुझे ले चलो उस जल-धाराके नीचे, उस अमृतके लोकमें. . . ."

"पर पवन, युद्धको पीठ देकर क्षत्रियको लौटना नही है। कर्तव्यसे पराङ्मुख होकर उसे जीवनकी गोदमें भी त्राण नही मिलेगा। कर्तव्य यदि अकर्तव्य भी है तो उसे सुलटना होगा, पर लौटना सभव नही है—!"

"पर इस क्षण ये प्राण मेरे हाथमें नही है, प्रहस्त ! तुमसे जीवन-दान माग रहा हू, ओ मेरे चिर दिनके आत्मीय, जीवन की मेरी अधेरी रातोके निस्पृह दीपस्तभ ! तुम भी, युगोंके बाद, बिछुड़कर आज मिले हो। पर अपराधकी यह ज्वाला लेकर गति कहा है. . . .?"

"तो एक ही रास्ता है, पवन, अभी-अभी आकाश-मार्गसे चलकर चुपचाप रत्नकूट प्रासादकी छतपर जा उतरना होगा। गुप्त रूपसे वहा रात बिताकर दिन उगनेके पहले ही यहा लौट आना है। और फिर सवेरे ही सैन्यके साथ युद्धपर चल देना होगा।"

पवनजयने कुछ भी उत्तर नही दिया × × ×

थोडी ही देरमें, दोनो मित्र विमानपर चढे, चादनीसे फेनाविल दिशाओं-के आंचलमें खोये जा रहे थे।

[२१]

तारोकी अनत आखें खोलकर आकाश टक-टकी लगाये है। ग्रह-नक्षत्रोकी गतिया, इस क्षणकी धुरीपर अटक गई है. . . .

रत्नकूट प्रासादकी चांदनी-धौत छतपर यान उतरा। पवनजय उतरकर कोनेके एक गवाक्षके रेलिंगपर जा खडे हुए। दोनों हाथोंसे उसे पकड़कर वे देखते रह गये. . . । अपूर्व खिली है यह रात, सौरभ और सुषमामें मूर्छित। कालका सहस्र-दल कमल विगत, आगत और

अनागतके सारे सौंदर्य-दलोको खोलकर मानो एक साथ खिल आया है। नया ही है यह देश! अपनी महायात्रामें अद्भुत और अगम्य प्रदेशोंमें वह गया है। सौंदर्यका विराटतम रूप उसने देखा है। अभेद्य रहस्योको उसने भेदा है। पर अलौकिक है यह लोक! आस-पास सब कुछ तरल है और तैर रहा है। आलोककी बाहोमें अंधकार और अंधकारके हृदयमे आलोक। सब कुछ एक दिव्य नवीनतामें नहाकर अमर हो उठा है। क्या वह सपना देख रहा है?

प्रहस्त अपने कर्तव्यमे संलग्न थे। उन्होने कक्षके द्वारपर खड़े रहकर स्थितिका अध्ययन किया। देखा, सब शात है; निद्राके श्वासका ही धीमा रव है। द्वारके पास ही, उन्होंने पहचाना कि, वसतमाला सोई है। धीमो परतु निश्चित आवाजमे पुकारा —

"देवी—देवी वसतमाला!"

नीद अभी लगी ही थी। चौंककर वसत उठी। द्वारमें देखा, कुछ दूरपर चादनीके उजालेमे कोई खड़ा है। उसने प्रहस्तको पहचाना! वह सहमकर खडी हो गई। विस्मित पर आश्वस्त वह बाहर चली आई। पास आकर बहुत धीमे कण्ठ से पूछा—

"आप?.....इस समय यहां कैसे?"

"देव पवनजय आये हैं! इसी क्षण देवी से मिला चाहते हैं। उस ओर के कोण-वातायन पर प्रतीक्षा में खड़े हैं...."

"देव पवनजय....? क्या कहते हैं आप?....वे....यहा ....इस समय कैसे....?"

वसंतके विस्मयका पार न था। मति मूढ हो गई और प्रश्न बौखला गया।

"हां, देव पवनंजय! कटकको राहमें छोड़ गुप्त यानसे आये हैं। अभी-अभी युवराज्ञीसे मिला चाहते हैं। विलंब और प्रश्नका अवसर नहीं है। देवीको जगाकर सूचित करो और तुरंत उनका आदेश मुझे आकर कहो!"

वसतकी मति गुम थी। यत्रवत् जाकर उसने अजनाको जगाया।

"कौन, जीजी—क्यो ?"

"उठो अजन, एक आवश्यक काम है। लो, पहले मुह धोओ, फिर कहती हूं"

कहते हुए उसने पास ही तिपाईपर पडी भारी उठाकर सामने की। अजना सहज 'अर्हंत' कहकर उठ बैठी और मुह धोते हुए पूछा—

"ऐसी क्या बात है, जीजी ?"

वसत क्षणभर चुप रही। अजनाके मुह धो लेनेपर धीरेसे कहा—

"देव पवनजय आये हैं। वे अभी-अभी तुमसे मिलना चाहते हैं। उस ओरके कोण-वातायनपर प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाहर प्रहस्त खडे हैं; वे तुरत तुम्हारा आदेश सुनना चाहते हैं !"

अंजना सुनकर नीरव और निस्पद खडी रह गई। कुछ क्षण एक गहरी स्तब्धता व्याप गई।

"वे आये हैं ? . .जीजी, यह क्या हो गया है तुम्हे. . . .?"

"मुझे कुछ नहीं हो गया अजन, प्रहस्त स्वय बाहर खडे है। उन्होने अभी-अभी आकर मुझे जगाया है। कहा कि कटकको राहमें छोड़ देव पवनजय गुप्त यानमे आये हैं—केवल तुम्हे मिलने ! अवसरको गभीरता-को समझो, बोलो उन्हे क्या कहू ?"

"वे आये हैं. . . .युद्धकी राहसे लौटकर मुझे मिलने. . . .?"

और मानो नियति पर भी उसे दया आ गई हो ऐसी हंसी हसकर वह बोली—

"भाग्य-देवताको कौतुक सूझा है—कि नीदसे जगाकर वे अभागिनी अंजनाके वर्षोंके सोये दुखका मज़ाक़ किया चाहते हैं. . . .! समझी. . . . अब समझी, जीजी,. . . .क्या तुम्हे ऐसे ही सपने सताते रहते हैं, मेरे कारण ?"

द्वारपर प्रकट होकर सुनाई पड़ी प्रहस्तकी विनम्र वाणी—

"स्वप्न नही है, देवी, और न यह विनोद है। प्रहस्तका अभिवादन स्वीकृत हो! देव पवनंजय उस ओर प्रतीक्षामें खडे हैं। वे देवीसे मिलने आये हैं और उनकी आज्ञा चाहते है!"

संदेहकी गुजायश नही रही। फिर एक गहरा मौन व्याप गया।

"मुझसे मिलने आये है वे ?....और मेरी आज्ञा चाहते है ? पर मेरे पास कहा है वह, वह तो उन्हीके पास है। वे आप जाने। ... सारी आज्ञाओंके स्वामी है वे समर्थ पुरुष !.... अकिंचना अजनाका, यदि विनोद करनेमें ही उन्हें खुशी है, तो वह अपनेको धन्य मानती है. . !"

और कोई पाच ही मिनट बाद दीखा, चादनीके उजालेमें वह पूर्णकाय युवा राजपुरुष! सिरकी अवहेलित अलकोमें मणि-बध चमक रहा है। देहपर युद्धकी सज्जा नही है; है केवल एक धवल उत्तरीय। द्वारकी देहलीपर आकर वे ठिठक गये।....फिर महज माथा झुकाकर भीतर प्रवेश किया। कक्षमे कुछ दूर जाकर फिर वे ठिठक गये। आगे बढनेका साहस नही है। सामने दृष्टि पड़ी—तल्पके पायताने वह कौन खडी है ? सिरसे पैरतक पवनजय काप-काप आये। सारे शरीरमे एक सन-सनी-सी दौड गई—मानो किसी दैवी अस्त्रका फल रोये-रोयेको बीध गया। अपना ही भार सम्हालनेका बल पैरोंमे नहीं रह गया है। घुटने टूट गये है, कमर टूट गई है। दृष्टि जो ढुलक पडी है तो ठहरनेको स्थान नही पा रही है। वीरका अग-अग पत्तोसा थर-थरा रहा है। अभी-अभी मानो भागकर लौट जाना चाहते है। पर पैर न भाग पाते है, न खडे रह पाते है और न आगे ही बढ पाते है....!

नीची दृष्टि किये ही अपने बावजूद वे गुन रहे हैं। नही है यह विलासका कक्ष। नही बिछी है यहां सुहागकी कुसुम-सज्जा। सामने वह पाषाणका तल्प बिछा है, और उसपर बिछी है वह सीतलपाटी। सिरहानेकी जगह कोई उपधान नहीं है; तब शायद सोनेवालीका हाथ

ही है उसका सिरहाना। पास ही तिपाईपर पानीकी दो-तीन छोटी-बडी झारियां रक्खी हैं।....और पायतानेकी ओर जो वह खड़ी है ....क्या उसीकी है यह शय्या? कोनेमें स्फटिकके दीपाधारमें एक मंद दीप जल रहा है। निष्कंप है उसकी शिखा। आस-पास दीवारोंके सहारे, कोनोमें वैभव स्वयं अपने आवरणोंमें सिमटकर, परित्यक्त हो पडा है! छतके मणि-दीप आवेष्टनोंसे ढके हैं—निरर्थक और अनावश्यक।

और जाने कब अंजनाने आकर कुमारके उन कांपते, असहाय पैरोंको अपनी भुजाओंमें थाम लिया। पुरुषकी नसोंमें जड और शीतल हो गया रक्त उस ऊष्मासे फिर चैतन्य हो गया। विच्छिन्न हो गई जीवनकी धाराको आयतन मिल गया; वह फिरसे बह उठी। पवनजयने चौंककर पैरोंकी ओर देखा, और परसकी उस अगाध और अनिर्वचनीय कोमलतामें उतराते ही चले गये। ....गरम-गरम आसुओंसे भीगे पलकोंका वह गीलापन, ऊष्म श्वासोंकी वह सघनता, प्राणकी वह सारभूत, चिर-परिचित, संजीवनी गंध....। पवनजयका रोया-रोया अनंत अनुतापके आसुओंसे भर आया। पैरोंमें पडी उस विपुल केश-राशिमें अस्मित्व विसर्जित हो गया।

आसुओंमें टूटते कंठसे पवनंजय बोले—

"जन्म-जन्मके अपराधीको....और अपराधी न बनाओ!.. . उसके अपराधको ...मुक्ति दो,....उसके अभिशापका मोचन करो ...."

फिर बोल रुंध गया। क्षणैक ठहरकर कंठका परिष्कार कर फिर बोले—

"कई जन्म धारण करके भी, इस एक पापका प्रायश्चित्त शायद ही कर सकूं! ऐसा निदारुण पापी, यदि हिम्मत करके शरण आ गया है....तो क्या उसपर दया न कर सकोगी....?"

एकाएक अंजना पैर छोड़कर उठ खडी हुई, और बिना सिर उठाये

ही एक हाथकी हथेलीसे पवनजयके बोलते ओठोको दबा दिया। और अनायास वे मृदुल उंगलिया उस चेहरेके आंसू पोंछने लगीं।

"मत रोको इन्हें....मत पोंछो ...बह जाने दो....जन्मोके संचित दुर्राभमानके इस कलुषको चुक जाने दो....आह, मुझे मिट जाने दो...."

कहते-कहते पवनजय फूट पडे और बेतहाशा वे अजनाके पैरोंमें आ गिरे! अजना धपसे नीचे बैठ गई और दोनों हाथोंसे पकडकर उसने पवनंजयको उठाना चाहा। पर वह सिर उसके दोनों पैरोंके बीच मानो गडा ही जा रहा है—धसा ही जा रहा है। और उसके हाथोने अनुभव किया, पुरुषकी बलशालिनी भुजाओं और वक्षमें भीतर ही भीतर घुमड रहा वह गभीर रुदन!

भर्राये और गभीर कंठसे अजना बोली—

"अपने पैरोंकी रजको यो अपमानित न करो देव! उसका एक मात्र बल उससे छीनकर, उसे निरी अबला न बना दो!....सब कुछ सह लिया है, पर यह नही सह सकूगी....उठो, देव ...!"

और भी प्रगाढतासे पुरुषकी वे सबल भुजाए उन मृदु चरणोको बांध रही हैं। पर वह कोमलता मानो बंध्य नहीं है,—वह फैलती ही जाती है। उसमें कुमारकी वह विशाल देह मानो सिमटकर एक क्षुद्र धूलिकण हो जानेको विह्वल है। पर वह कोमलता तो अपने अदर समाती ही जाती है—अवरोध नही देती। वज्र-सी काया टूटे तो कैसे टूटे, बिखरे तो कैसे बिखरे?

अजनाने उठानेके सारे प्रयत्न जब निष्फल पाये, तो एक गहरी निश्वास छोड, मानो हारकर बैठ गई। दोनों हाथोंकी हथेलियोंसे पवनंजयके दोनो गालोको उसने दबा लिया। उनकी आंखोंसे अजस्र बह रहे आंसुओंके प्रवाहको जैसे सीमा बनकर बांध लेना चाहा—थाम लेना चाहा। फिर अंतरके मृदुतम स्वरमें बोली—

"....मेरी सौगंध है.....क्या मुझे नहीं रहने दोगे....?
...उठो देव,....मेरे जीकी सौगंध है तुम्हें....उठो....!"

पवनजय उठे और घुटनोके बल बैठे रह गये। आसुओंके बहनेका भान नहीं है। वे प्रलब बाहें और सशक्त कलाइया धरतीपर सहारा लेती-सी थमी हैं। एक बार झरती आखोसे सामने देखा। खड़े घुटने किये हारी-सी बैठी है, अजना। अरे ऐसी है इस हारकी गरिमा! विश्वकी सारी विजयोका गौरव क्षण मात्रमे ही जैसे मलिन पड गया। अपार वात्सल्यके मुक्त द्वार-सी खुली है वे आखे—अपलक, उज्ज्वल, सजल। उस—पारदर्शिनी सरलतामें उनके सारे द्वद्व, द्वैत सहज विलय हो गये! अपने बावजूद पवनजय, मानो अज्ञात प्रेरणाका बल पाकर अपनेको निवेदन कर उठे—

" ..जानता हू कि धरित्री हो, और चिरकालसे अबतक हमे धारण ही करती आई हो! पर ओ मेरी धरणी, दुर्लभ सौभाग्यका यह क्षण पा गया हू, कि तुम्हे अपने दुर्बल मस्तकपर धारण करनेकी स्पर्धा कर बैठा हू ..! इस दुःसाहसके लिये मुझे क्षमा न कर सकोगी. .?"

फिर एक बार आखे उठाकर उन्होने अजनाकी ओर देखा। उठे हुए जानू एक दूसरेसे सटकर धरतीपर ढुलक गये थे। उन दोनो जुड़े हुए जघनोके बीच दीखी—मानव-पुत्रकी वही चिर-परिचित गोद! उसका वह अशेष आश्वासन!

"हाय, फिर भूल बैठा! सदाका छोटा हू न, इसीसे अपने छोटे हृदयसे तुम्हे माप बैठा। सदासे धारणकर सदा क्षमा ही तो करती आई हो। और अभी-अभी इस जघन्यतम अपराधीको शरण दी है। फिर भी उस साक्षात् क्षमाके समुख खडा हो क्षमा मागनेकी धृष्टता कर रहा हूं?... तुम्हे नही जान पा रहा हू....नहीं पहचान पा रहा हू.... मै फिर चूक रहा हू. ..तुम जानो....अपनी थाह मुझे दो...."

कहते-कहते निरवलब होकर उन्होंने दोनो हाथोंमे अपना मुंह डाल दिया।

अजनाने भुककर एक बांहसे उस विवश चेहरेको धीरेसे पास खींच लिया और वक्षमे लगा लिया। मुकुलित गोद सहज ही फैल गई....। भयभीत खरगोश-से उस वीरकी वह विशाल काया, उस छोटी-सी गोदमें आकर मानो दुबक गई; सहज आश्वस्त हो गई। पर वह गोद क्या छोटी पड सकी है? वह तो भव्यतर ही होती गई है! उस अव्याबाध मार्दवमे चारों ओरसे घिरकर उसने पाया कि उसका प्राण अब अवध्य है, वह अघात्य है। उस अशोककी छायामे वह अभय है।

अजनाके उस जल-से शुभ्र आंचलके भीतर, उस गभीर, उदार और महिम वक्ष-युगलके बीचकी गहराईमे डूबा था पवनजयका मुख। चिर दिनका आहत और आत्महारा पछी इस नीडमे विश्राम पाकर मानो शातिकी गहरी सुख-निद्रामे सो गया है। नीदमे शिशुकी तरह रह-रहकर वह पुराने आघातोकी स्मृतिसे सिमक उठता है। प्राणको एक अनल-स्पर्शी आदिम गध उसकी आत्माको छू-छू जाती है। और जैसे वह सपना देख रहा है आस-पास उसके खुल पडा है दूधका एक अपूर्व समुद्र! दिगन्तोको आप्लावित करता वह लहरा रहा है। मधुर विश्वास-की अपरिसीम चादनी उसपर फैली है। अभय वह उसके प्रसारपर उड़ रहा है, और साथ ही वह अपने नीडमे आश्वस्त है! भीतर और बाहर सब उसका ही राज्य है। सब एक हो गया है। विकलता नही है, विराम ही विराम है।....

और उसीपर एक दूसरा सपना फूट आया—वह भारी ससागरा पृथ्वी उस नीडके चारो ओर फैली पडी है—जिसे वह लाघ आया था! उस सारे महाप्रसारको पारकर भी क्या वह उसे पा सका था? क्या वह उसे अपना सका था? क्या उसे लब्धि मिल सकी थी? क्या उसमें अपना घर खोजकर वह आत्मस्थ हो सका था? नहीं....!

पर, आज, इस क्षण ? सारी दूरियां, सारे विच्छेद सिमटकर इस केंद्रमे अपसारित हो गये हैं। और इस नीड़के आस-पास सर्वथा और—सर्वकाल सुलभ और सुप्राप्त पडी है यह ससागरा पृथ्वी—अपनी तुग और अलघ्य गिरिमालाओ सहित । अपने आश्रित बिलौनेकी तरह छोटी-सी वह लग रही है। जानी-मानी और सदाकी अपनी ही तो है वह।.... और देखते-देखते अनेक लोकातरोके द्वार पवनंजयकी आंखोके सामने खुलने लगे....। अनेक कालातरालोकी जैसे यवनिकाए उठने लगी ....। इन सबमे होकर विश्वस्त, निश्चित, निर्विघ्न और अभय चला गया है उसका राजमार्ग। कोई उसे रोकनेवाला नही। सिद्धि ही स्वय रक्षिका बनकर साथ है। माथेपर अनुभव हो रहा है—सुरक्षाका वह परम।

पवनजयको एकाएक जब चेत आया तो अनजाने ही उन्होने सिर उठाया। पाया कि वे बदी है उन कोमल बाहोमे। पुचकारकर, दबाकर फिर शिशुको सहज सुला दिया गया। वहीसे आखे उठाकर पवनंजयने ऊपरकी ओर देखा। उस सुगोल और स्नेहल चिबुकके नीचे, कधो और वक्षपर चारो ओरसे घिर आये सघन केशोके बीच खुली है वह उज्ज्वल ग्रीवा। उसपर पडी है तीन वलयित रेखाए। अभी-अभी देखे वे सपने मानो उन्ही रेखाओमे आकर लीन हो गये है। उस भव्य सौंदर्य-गरिमाको उन्होने जैसे उझककर चूम लेना चाहा।....पर ओह, क्यो है इतनी जल्दी ? यही आश्वासन क्या परम तृप्ति नही है कि वहां लिखा है—'मैं तुम्हारी ही हू !'। फिर एक बार उस सुखकी मूर्छामें वह उसी नीडमे झाक उठा।

...पसीनेमें भीग आई पवनजयकी भुजाओको सहलाते हुए अजना बोली—

"उठो, बाहर हवामे चलें, गरमी बहुत हो रही है !"

कहकर पवनजयका हाथ पकड वह आगे हो ली। बाहर आकर

छतके पूर्वीय झरोखेमे, रेलिंगके खबोंके सहारे वे आमने-सामने बैठ गये। परिमल और परागसे भीनी चांदनीमे उपवन नहा रहा है। आकाश-गगामें जल-क्रीडा करती तारक कन्यायें खिल-खिलाकर हंस पडी। सामने जा रहा पूर्ण युवा चाद, चलते-चलते रुक गया। चांदके बिंबमे आंखें स्थिर कर पवनजय विस्मृतसे बैठे रह गये। पहली ही बार जैसे पूर्ण सौंदर्यकी झलक पा गये हैं। उसी ओर देखते हुए बोले—

"हां, बाईस वर्ष पूर्व, ऐसी ही तो वह रात थी मानसरोवर के तटपर। चाद भी ऐसा ही था और ऐसी ही थी चांदनी। और लगता है कि तुम भी वैसी ही तो हो; कही भी तो आयुका क्षत नही लगा है! पर उस दिन क्या तुम्हे—पहचान सका था ? उसी दिन तो भूल हो गई थी। चेतन और ज्ञानपर गहरी अंतरायका आवरण जो पडा था। इसीसे तो ऐसा आत्म-घात कर बैठा। संमुख आये हुए प्यारके स्वर्गको अपने ही अहकी ठोकरसे मिट्टीमे मिला दिया। . . . . और आज ?

. आज भी क्या तुम्हे पहचान पा रहा हू ? फिर-फिर भूल जाता हू . नही पा रहा हू तुम्हे. . . ."

अजना चादमें खोई पवनजयकी स्थिर और पगली दृष्टिपर आखें थमाये चुप बैठी है। उसे कुछ कहना नही है, कुछ पूछना नही है। कोई अभियोग नही है। कुमारको वह मौन असह्य हो उठा। दृष्टि फिराकर उन्होंने अजनाकी ओर देखा—आवेदनकी आंखोंसे। अजनाकी दृष्टि झुक गई। वह वैसी ही चुप थी। पवनजय भीतर ही सिसकी दबाकर बोले—

"हुम . . . . तो तुम्हे मुझसे कुछ भी पूछना नहीं है ? . . . . समझा, तुम्हारा अभियुक्त होनेका पात्र भी मै नही हू ? . . . . नही, तुम्हारे इस मूक और निरपेक्ष स्वीकारको सहनेकी शक्ति अब मुझमें नहीं है ! उस दिन भी तो मेरी क्षुद्रता, इसी स्थलपर चूक गई थी। और आज फिर वैसी ही कठोर परीक्षा लोगी ?"

फिर एक चुप्पी व्याप गई। जिसे प्यार किया है उसका न्याय-विचार अजनाके निकट अप्रस्तुत है। और कहीं कोई प्रश्न उस वियोगके निमित्त-को लेकर मनमें होगा भी, तो इस क्षण वह उसके लिये अकल्पनीय है। वह वैसी ही गर्दन झुकाये प्रतिमा-सी बैठी है। पवनजय व्यथित हो उठे। अधीर होकर तीव्र स्वरसे बोले—

"मेरे अपराधको मुक्ति दो, अंजन ! नहीं तो यह ज्वाला मुझे भस्म कर देगी। मेरे इस मर्मको बींध दो—तोड दो अपनी इन मृदुल पगतलियोंसे . . । जन्म-जन्मके इस पापको अपने चरणोंमे विसर्जित कर लो, रानी . !"

कहते-कहते पवनजय फिर भर आये और सामने बैठी अंजनाके पैरोंमे फिर सिर डाल दिया।

" पूछो . . एक बार तो मुंह खोलकर पूछो . अपने इस पाषाणके पतिदेवसे कि ऐसा क्या था तुम्हारा अपराध . जिसके लिये ऐसा कडा दंड उसने तुम्हें दिया है ?"

अंजनाने पवनंजयके सिरको एक ओरकी गोदपर खींच लिया। आंचलसे उनकी आंखें और चेहरा पोंछती हुई बोली—

"ऐसी बातें मनमें लाकर, अब और दूर न ठेलो, देव। मैं तो अज्ञानिनी हूं इतना ही जानती हूं कि तुम्हारी हूं आदिकालसे तुम्हारी ही हूं ! . . इसीसे तो उस दिन उन लहरोंके बीच भी तुम्हें पहचान लिया था। कितने ही भवोंमें कितनी ही बार वियोग और संयोग हुआ है . उसकी कथा तो अंतर्यामी जाने ! दुःख और अंतरायकी रात बीत गई—उसका सोच कैसा ? खोकर इसी जीवनमें फिर तुम्हें पा गई हूं, यही क्या कम बात है ? दोष किसीका नहीं है। आत्माके ज्ञान-दर्शनपर मोहनीका आवरण जबतक पडा है, तबतक तो यह आवा-गमन और संयोग-वियोग चलना ही है। पर मिलनका यह दुर्लभ क्षण यदि आ ही गया है, तो इसे हम खो न बैठें। विगत दुख-रागोंको, क्या इस

क्षण भी हम नही भूल सकेंगे ? . . . और कलका किसे पता है . . . ? आज अपने बीच उस आवरणको मत आने दो ! आज जो मुहूर्त आ गया है, उसीमे क्यो न ऐसे मिल जाये—ऐसे कि, फिर बिछुड़ना न पडे . . . ."

कहते-कहते अंजना झुककर पवनजयपर छा गई—

"पर अपराध तो मेरा ही है न, अजन ! इसीसे तो वह मेरे आडे आ रहा है । और तुमतक वह मुझे नही पहुचने दे रहा है । तुम चाहे जितना ही मुझे पास क्यो न खीचो, पर मेरे पैरोंमें जो बेडिया पडी है ! पहले उन्हे खोलो रानी, तभी तुम्हारे पास मे पहुँच सकूगा । उसके बिना छुटकारा नही है "

"स्वार्थिनी हू, अपनी ही बात कहे जा रही हू । · · ·बोलो, अपने जीकी व्यथा मुझसे कहो"

अजनाके दोनो हाथोको अपनी हथेलियोसे अपने हृदयपर दाबकर, एक सासमे पवनंजय उस अभागी रातकी कथा सुना गये । आत्म-निवेदनके शेषमे वे बोले—

" · · ·मानसरोवरकी लहरोपरसे, उस महल-अटापर तुम्हारी पहली झलक देखी, और मै कालातीत सौदर्यका अनुमान पा गया । वही अनुमान अभिमान बन बैठा ! मै आपेसे घिर गया । उस अहकारमे उस सौंदर्यकी सदेश-वाहिकाको भी भूल बैठा । उसे ही मै न पहचान सका । तुलनामे विद्युत्प्रभ था या और कोई पुरुष होता, उसके प्रति कोई रोष मनमे नही जागा । रोष तो तुमपर था—तुमपर !—इसलिये कि तुम्हें जो अपनी मान बैठा था, सर्वस्व जो हार बैठा था । तुमपर ही जब संदेह कर बैठा, तो अपना ही विश्वास नही रहा । फिर माता-पिता, मित्र-सगी, किसीमें भी आश्वासन कैसे खोजता ? केवल अपने पुरुषार्थका अभिमान मेरे पास था । सामने था केवल अथाह शून्य—मृत्यु—और उसीमे भटकते ये सारे वर्ष बिता दिये · · · ·"

कहकर पवनजयने एक गहरी निःश्वास छोडी। अजना बात सुनते-सुनते तल्लीन होकर वर्षों पारकी उस रातमें पहुंच गई थी। वह घटना उसकी स्मृतिमें पूर्ण सजल हो उठी। सुनकर उसके आश्चर्यकी सीमा न थी। मानव-भाग्यकी इस बेबसीपर, जीवके इस अज्ञानपर उसका सारा अंतःकरण एक सर्व-व्यापिनी करुणासे भर आया। गभीर स्वरमें बोली—

"अपना ही प्यार जब शत्रु बन बैठा, तो वह मेरे ही तो कर्मका दोष था। मै अपने ही सुखमे ऐसी बेसुध हो रही, कि अपने ही सामने होनेवाले तुम्हारे ऐसे घोर अपमानका भानतक मुझे नही रहा।.... वह मेरे ही प्रेमकी अपूर्णता तो थी। घटना तो वह निमित्त मात्र थी, पर आवरण तो भीतर जाने किस भवका पडा था। आज भाग्य जागा, कि तुम आये, तुमने पर्दा उठा दिया! नारी हू—इसीलिये सदाकी अपूर्ण हू न.... आओ मेरे पूर्ण पुरुष, मुझे पूर्ण करो! ....कल्प-कल्पकी बिछुडी अपनी इस आत्माको छोडकर अब चले मत जाना...."

अजनाने अपना एक गाल पवनजयकी लिलारपर रख दिया। सुखसे विह्वल होकर पवनजय बोल उठे—

"नारी होकर तुम अपूर्ण हो, तो पुरुष रहकर मै भी क्या पूर्ण हो सकूगा? पुरुष और नारीका योनि-भेद तोडकर ही तो एक दिन हम पूर्ण और एकाकार हो सकेगे!"

राज-द्वारपर दूसरे पहरका मगल-वाद्य बज उठा! × × ×

इस बीच जाने कब चतुर वसतने कक्षमे आकर, वहाकी सारी व्यवस्थाको रूपातरित कर दिया। वर्षोंका ढका वैभव आज फिर निरावरण होकर अपनी पूर्ण दीप्तिसे खिल उठा! मणिदीपोंकी जग-मगते रगोंका माया-लोक रच दिया। इस क्षुद्र, जड वैभवकी ऐसी स्पर्धा कि वह इस मिलनका क्रोड बननेको उद्यत हो पडा है? सब सरजाम अपनी जगहपर ठीक है।

पद्म-राग-मणिके पर्यंककी वह कुंदोज्वल, उभारवती शय्या आज सूनी नहीं है। उपधानपर कोहनीके सहारे कुमार पवनंजय अध-लेटे हैं। पास ही चौकीपर स्तवकोमें रजनी-गंधा, जूही और शिरीषके फूलोके ढेर पड़े है। शैय्यापर कामिनी कुसुमके जूमखे बिखरे है। महकसे वाता-वरण व्याप्त है। पर्यंकके पायतानेकी ओर, पैर सिकोडकर अजना बैठी है। एक हथेलीपर मुख उसका ढुलका है। आखें उसकी झुकी है——अतरके सहज सकोचसे नम्र, वह एक बिंदुभर रह गई है। राग नही है, सिंगार नही है, आभरण भी नही है। चारो ओर लहराती घनी और निर्बंध केश-घटाके भीतरसे झांकती वह तपक्षीण, कल्प-लता-सी गौर देह निवेदित है। हिमानीसे शुभ्र दुकूलमेसे तरल होकर, भीतरकी जाने किस गगोत्रीसे गगाकी पहली धारा फूट पड़ी है। कुमारिकाका हिम-वक्ष पिघल उठा है—उफना उठा है। देखते-देखते पवनंजयकी आखें मुद गई। नही देख सकेगा वह, नही सह सकेगा—इस हिमानीके भीतर छुपी उस अग्निका तेज। इन कलुषित आखोकी दृष्टि उसे छुआ चाहती है? ओह, कापुरुष, तस्कर, लुटेरा—अत्याचारी! तेरा यह साहस? भस्म हो जायगा अभागे? एक मर्मांतिक आत्म-भर्त्सनासे पवनंजयका सारा प्राण त्रस्त हो उठा—

पर वह छबि जो उसके सारे कल्मषको दबाकर उसके ऊपर आ बैठी है—और मुस्करा रही है! वही है इस क्षणकी स्वामिनी, उसीका है निर्णय! पवनंजयका कर्तृत्व इस क्षण मानो कुछ नही है।

मुदी आंखोंके भीतर फिर उसने देखी वही निरजना तन्वंगी। कलाइयोंपर एक-एक मृणालका वलय है, और सतीके प्रशस्त भालपर शोभित है सौभाग्यका अमर तिलक। जैसे अखंड जोत जल रही है। ढुलकी पलकोंकी लबी-लंबी फैली बरौनियोमे भीतरका सरल अंतस्तल साफ़ लिख आया है। अरे कौनसा है वह पुरुषार्थ जो, इसका वरण कर

सकेगा ? कौनसा वह सक्षम हाथ है, जो इसे छू सकेगा . . . . ? पवनंजयने मुह अपना उपधानमे डुबा दिया।

पर गगाकी धारा, जो चिर दिनकी रुद्धता तोडकर फूट पडी है, उसे तो बहना ही है।

पवनजयने अनुभव किया—पगतलियोपर एक विस्मरणकारी, मधुर दबाव! रक्तमे एक सूक्ष्म सिहरनसी दौड़ गई। मुह उठाकर उन्होने सामने देखा।. . . . मुस्कुराती हुई अजनाकी वह घनश्याम पक्ष्मोमे पूर्ण खिली स्नेहकी विशाल दृष्टि!—अचचल वह उनकी ओर देख रही है। पहली ही बार आया है शुभ-दृष्टिका यह क्षण। हाथ उसके चल रहे है—एक गोदपर पवनजयकी एक पगतली लेकर वह दाब रही है। पवनजय सहम आये। शिराओमे एक गहरा सकोच-सा हुआ। पर पैर खीच ले, यह उनके बसका नही है। अजना मजरियो-सी हम आई—धीमे-से बोली—

"डरो मत, मै ही हू! युद्ध की राह से लौटकर आये हो न, और जाने कितनी-कितनी दूर की यात्राए कर आये हो! सोचा थक गये होगे. . .तुम नही. .बेचारे ये पैर . .!"

एक मार्मिक दृष्टिसे पवनजयकी ओर देख अजना खिल-खिलाकर हस पडी। पवनजय गहरी लज्जा और आत्मोपहाससे मर मिटे। पर आघात कहा था? अगले ही क्षण एक अप्रतिहत आनदकी धारामे वे डूब गये। बाल-सुलभ चचलतासे बोल पडे—

"हा हा—सब समझ गया! अपनी सारी मूर्खताओपर अभी भी मैंने पर्दा ही डाल रक्खा है। पर तुम्हारे सामने कौनसी मेरी माया टिक सकेगी? तुमसे क्या छिपा रह सका है? यहां बैठकर भी अनुक्षण, मेरे पीछे छाया की तरह जो रही हो। मेरे सारे छिद्रो पर स्वयम् जो पर्दा बनकर पडी हो। जानती हो, उन यात्राओमें मुझे किसकी खोज थी?"

"हम अन्तःपुरकी वासिनिया, तुम्हारी खोजका लक्ष्य क्या जाने ? आप पुरुष है—और समर्थ है। बड़े लोग है न, बड़े हैं आपके मनसूबे, आपके सकल्प और लक्ष्य ! आप लोगोके परे जाकर हमारी गति ही कहां है, जो आपके रहस्योकी थाह हम पा सके। अनुगामिनिया जो ठहरी...."

पवनंजय सुनते-सुनते हसी न रोक सके। अतरमे उलझी-दबी सारी पीडाओंको, यह सरल लडकी, इन स्नेहल आखोसे, हंस-हसकर, कैसी सहज सुलझाये दे रही है! अशेष दुलारका जोर पाकर पवनजय अल्हड हो पडे और बोले—

"हां, सच ही तो कह रही हो, तुम्हारी खोज तो अवश्य ही नहीं थी ! यो ना कहकर, सोचती हो, कि मुझे ठगकर मेरा लक्ष्य बननेका गौरव ले लोगी, सो नही होने दूगा !....हा, तो लो सुनो, अच्छी तरह तैयार हो जाओ और कान खोलकर सुनो; बताता हू, मुझे किसकी खोज थी।"

फिर एक मार्मिक दृष्टिसे, अपनी ही ओर भरपूर खुली अजनाकी आखोमे गहरे देखते हुए खिल-खिलाकर हस पडे और बोले—

"मुझे मुक्तिकी खोज थी....! आदि प्रभु ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिपर जाकर भी मनको विराम नही था। मुझे चाहिये था निर्वाण ! लहरोके मरण-भवरोंपर मै बेसुध खेल रहा था। इसी बीच पीछेसे तुमने पुकारा। तुमने फेका वह लावण्यका पाश। मै देश-कालातीत—सौंदर्य-की कल्पनासे भर उठा। तुम्हीने दिया था वह अभिमान। मै प्रमत्त हो उठा। तुम्हे जब भूल बैठा, जिसने दी थी वह कामना, तो फिर कहा ठिकाना था ? ओ कामनाओकी देवी ! कामना दी है, तो सिद्धि भी दो ! अपने बाधे बधन तुम्ही खोलो, रानी ! मेरे निर्वाणका पथ प्रकाशित करो !... तुम्हीने जो पुकारा था उस दिन....!"

"मुक्तिकी राह मै क्या जानू ? मै तो नारी हूं, आप ही जो बंधन

हूं और सदा बधन ही तो देती आई हू।—मुक्ति-मार्गके दावेदार और विधाता हैं पुरुष ! वे आप अपनी जानें...."

अगाध विसर्जन और सुखातिरेकसे भर आये पवनंजय इस क्षण अपने स्वामी नही थे। एकाएक वे उठ बैठे और उन पैर दाबते दोनो मृदुल हाथोंको अपनी ओर खीचते हुए गद्गद् कठसे बोले—

"नही चाहिये मुक्ति—मुझे बधन ही दो, रानी ! ओ मेरे बधन और मुक्तिकी स्वामिनी....!" × × ×

भाषाकी सीमा अतीत हो गई। ढलती रातके अलस पवनमें बासती फूलोकी गध और भी गहरे और मधुर मर्मका सदेशा दे रही थी। आत्माके अतरतम गोपन-कक्ष आलोकित हो उठे। अनाहत मौनमे सब कुछ गतिमय था ! ग्रह-नक्षत्र, जल, स्थल, आकाश और हवायें, सभी कुछ इस एक ही सत्यकी धुरीपर एक तान और एक-सुर होकर नृत्यमय हैं। कहा है इस अनत आलिगनके मिथुका कूल ? इद्रियोकी बाधा निमज्जित हो गई। देहके सीमांत पिघल चले। पर आत्माओंको कहा है विराम ? नग्न और मुक्त, वे जो एक-दूसरेमे पर्यवसित हो जानेको विकल हैं।

पुरुषको वे दिग्विजयकी अभिमानिनी भुजाए नही बाध पा रही हैं उस तनु, सूक्ष्म कल्प-लताको। जितना ही वे हारती हैं, आकुलता उतनी ही बढ़ती जाती हैं। अखड और अपराजिता है यह लौ, जितना ही वह बाधना चाहता है, वह उतनी ही ऊपर उठ रही है, वह हाथ नही आ रही है ! अपरिसीम हो उठा है पुरुषका अपराध—और उसका अनुताप। पर वह नारी देनेमे चूक नही रही है। दान-दाक्षिण्यका स्रोत अक्षत धारासे बह रहा है। पुरुषने हारकर पाया कि व्यर्थ और विफल है इसे बाधनेकी उत्कंठा; इस प्रवाहके भीतर तो बह जाना है, स्वयं ही विसर्जित हो जाना है। निर्वाण आप ही कहीं राहमें मिल जायगा! अतीत हैं वह इन सारी कामनाओसे। पुरुषने छोड दिया अपनेको, उस बहावकी मर्जीपर ...

× × ×चौथे पहरका मंगल-वाद्य राज-द्वारपर बज उठा !

अजनाकी नींद खुली । अकल्पनीय तृप्तिकी गहरी और मधुर नींदमें पवनजय सो रहे थे । पर अंजना जानती है अपना कर्तव्य । इस क्षण उन्हें रुकना नहीं है । उन्हें लौटाना ही होगा—दिन झाकनेके पहले । हां, उन्हे जगाना होगा । वह धीमे-धीमे पगतलिया सहलाने लगी । पवनके स्पर्शमे जागरणका संदेश है । अंजनाने पाया कि वह भर उठी है, एक मर्म-मधुर भारसे वह दबी जा रही है. . . .। शेष रात्रिकी शीर्ण चांदनी झरोखेकी राह कक्ष मे आकर पड रही है ।

पवनजयकी नींद खुल गई ।

"उठो देव !"

पायतानेकी ओर सुनाई पडा वह मृदु स्वर ।

अगड़ाई भरते हुए, सहज इष्ट-देवका नामोच्चार करते पवनजय उठ बैठे । सामने था वही मुस्कराता हुआ सतीका अनिंद्य उज्ज्वल मुख । दोनो एक-दूसरेकी आखोंमेंसे एक-दूसरेके पार देख उठे. . . .।

"दिन उगनेको है—जानेकी तैयारी करो, अब देर नहीं है !"

स्नेहके उन्मेषमे अजनाकी चिबुक पकडकर बोले पवनंजय—

"जानेको कहोगी तुम्ही, और उसकी भी इतनी जल्दी हो पडी है तुम्हें. . . .?"

"अपनी विवशता जानती हू न । तुम्हे कब-कब रोक सकी हूं ? नही रोक सकी हू, इसीसे तो कह रही हूं ! . . . .पर. . . .हां, मेरी एक बात मानोगे. . . .?"

अंजनाने दोनों हथेलियोसे बिखरी अलकोवाले उस चेहरेको दबा लिया । फिर पवनंजयके दोनों कंधोंपर हाथ डालकर भरपूर उनकी ओर देखती हुई बोली—

"मेरी शपथ खाकर जाओ कि अनीति और अन्यायके पक्षमें—मद

और मानके पक्षमें तुम्हारा शस्त्र नही उठेगा। क्षत्रियका रक्षा-व्रत, विजयके गौरव और राज-सिंहासनसे बड़ी चीज है !"

क्षणभर खामोशी व्याप गई। युद्धका नाम सुनकर पवनजय बौखला आये—

"अ. . .अजन, वह सब कुछ मुझे नही मालूम है . . .कुछ करके मुझे रोक लो न. . .? मुझे नहीं चाहिये युद्ध, वह थी केवल मरीचिका, मान कषायकी वही मोहनी, जिसके वश मे इतने वर्षों भटकता रहा। उसीकी चरम परिणति है यह युद्ध। इससे मेरी रक्षा करो, अजन !"

निपट हत-बुद्ध, अज्ञानी बालककी तरह वे विनती कर उठे।

"नही, रोक नही सकूगी। लौटकर तुम्हे जाना ही होगा। तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्यायका है तो उसके विरुद्ध भी तुम्हे लडना होगा। पर इस क्षण रुकना नही है, मेरे वीर !"

पवनजयकी शिरा-शिरा एक तेजस्वी वीर्यसे ओत-प्रोत हो उठी। कधोपर पडे अजनाके दोनो हाथोको हाथमे लेकर चूम लिया और बोले—

"मुझे शपथ है इन हाथोकी, और इन हाथोका आशीर्वाद ही सदा मेरी रक्षाभी करेगा . . ।"

उल्लसित होकर पवनजय उठ बैठे और प्रयाणकी तैयारी करने लगे। इतने हीमे बाहर प्रहस्तका उच्च स्वर सुनाई पडा।

. . अजनाके भीतर एक नामहीन, निराकार-सा सदेह जाग उठा। भीतर एक धुक-धुकीसी हो रही है। क्या कहे, कैसे कहे, वह स्वय जो नही जान रही है। पलगके पायताने सोच और सकोचमे डूबी वह खडी है।

"देवी, दिन उगनेको है, बिदा दो !"

. . .अजनाको चेत आया। बिना दृष्टि उठाये ही, पवनंजयके पैरोमे सिर रखकर वह प्रणत हो गई। पवनंजयने झुककर, बाहुएं पकड़

उसे उठा दिया। दृष्टि उसकी अब भी झुकी ही है। पतिके एक हाथको धीरेसे अपने हाथमें लेकर बोली—

"सुनो, मेरी विवशताकी कथा भी सुनते जाओ।....दुनियाकी आंखोंकी ओट तुम कब मेरे पास आये और कब चले गये, यह सब तो कोई नही जानता और नही जानेगा! तब पीछेसे किसी दिन कुछ हुआ ....तो परित्यक्ता अंजनापर कौन विश्वास करेगा....?"

कहते-कहते अंजनाका कंठ अंतरके आंसुओंसे काप आया।

पवनंजयके भीतर असीम उल्लासका वेग था। पुरुषको अपनी तृप्ति और अपना जीतव्य मिल चुका था। अपने सुखके इस चांचल्य और उतावलीमें नारीकी इस विवशताको समझनेमे वह असमर्थ था। तुरत भुजापरसे वलय, और उंगलीसे एक मुद्रिका निकालकर अंजनाके हाथोंमें देते हुए पवनंजय बोले—

"पगली हुई है अजन, मुझे लौटनेमें क्या देर लगनेवाली है? यों चुटकी बजानेमें सब ठीक करके, तुरत ही लौटूंगा। तेरी दी शपथ जो साथ है। फिर भी अपने मनके विश्वासके लिये चाहे तो यह रखले!"

वलय और मुद्रिका हाथमें लेकर फिर अंजनाने पैर छू लिये। और उठकर बोली—

"निश्चिंत होकर जाओ, मनमे कोई खटका मत रखना....!"

आंसू भीतर झर गये। ओठोंपर मंगलकी मुस्कराहट थी!

प्रहस्त द्वारपर खड़े थे। दूरसे ही उन्होंने झुककर देवीको प्रणाम किया। पवनंजय उनके साथ हो लिये।

पौ फटते-फटते यान दृष्टिसे ओझल हो चला। अजना और वसत छतपर खड़ी एकटक देखती रही, जबतक वह बिंदु बनकर शून्यमे लय न हो गया।

[२२]

पलक मारतेमे दिन बीतने लगे । कटकका कोई निश्चित सवाद आदित्यपुरमें नही आया । अभी कुछ दिनो पहले केवल इतना ही सुना था कि युद्ध बहुत भयकर हो गया है । जबुद्वीपके अनेक मडलीक छत्रधारी युद्धमे आ उतरे है । पक्षोमे ही आपसमे विग्रह हो गये है । स्थिति जटिल होती जा रही है । सुलझनेके अभी कोई चिह्न नही दीखते ।

रोजके नित्य-कर्मोमे अजना जो भी आश्वस्त भावसे सलग्न है; पर इस सबमे होकर दिन और रात, सोते और जागते उसकी दृष्टि लगी है, विजयार्धके सुदूर शृगोपर । नही दीख पडता है वहा आता हुआ वह धवल तुरग । नही दीख पडती है, चितामणिसे चमत्कृत शिरस्त्राणकी आभा ! किसी—जय-पताकाका कोई चिह्न भी दूर-दूरतक नही है । कभी-कभी स्वप्नाविष्ट-सी, वह दसो दिशाओको सूनी आखोसे घटो ताकती रह जाती है । किसी भी दिशामे नही दीख पडती है, सैन्यके अश्वोसे उडती धूल । जयभेरीका स्वर भी नही सुनाई पडता । दूरकी उपत्यकाए जयकारोके निनादसे नही गूजती । सुनसान क्षितिजके मडलपर नियति-सा शून्य और अचल यह आकाश खडा है !

इस महल को छोडने का सकल्प अजना उस दिन कर चुकी थी । पर वह जाने ही को थी, कि उस रात अचानक पवनजय आ गये । वे आप मर्यादाकी रेखा स्वय खीच गये है । इसे लाघकर अब अजनाको कही जाना नही है । पर लोक-मर्यादाके विचार-पति क्या इस मर्यादा-रेखाका आदर करेंगे ? प्रच्छन्न रूपसे दिन-रात यह प्रश्न उसके अतरतममें कसकता रहता है ।

दिन सप्ताह और सप्ताह महीने होते चले । उनके आनेकी सारी आशाए दुराशा हो गई । प्रतीक्षाकी दृष्टि पागल और अनत हो उठी है । कोई सूचना नही है, सवाद भी नही है । पथिकों और

प्रवासियोंके मुंह अस्पष्ट और अनिश्चित खबरें आदित्यपुरमें आती रहती हैं।

. . . . अंजनाके शरीरमें गर्भके चिह्न प्रकट हो चले। नवीन मंजरियोंसे लदे रसाल-सी अंजनाकी सारी देह पांडुर हो चली है। मुखपर फूटते दिनकी स्वर्णाभा दीपित हो उठी है।—दिन-दिन उन्नत और उदार होते स्तनोंके भारसे वह नम्रीभूत हो चली है। अंगोंमें विपुलताका एक उभार और निखार है। भीतरके गहन और सघन आनंद-भारसे एक मधुर गाम्भीर्यका प्रकाश बाहर चारों ओर फूट पड़ा है। श्री, कांति, रस और समृद्धिसे आनत अंजना जब चलती है, तो गजोंकी भव्य गति विनिंदित होती है—पैरों तलेकी धरती गर्वसे डोल-डोल उठती है! प्रकाशपर कौनसा आवरण डालकर उसे छुपाया जा सकता है? वह तो फैलता ही है, क्योंकि वही उसका निसर्ग धर्म है। लोक-दृष्टिने देखा और अनेक चर्चाएं अंदर ही अंदर चलने लगी।

भीतर जो भी अंजनाका मन दिन-रात चिंता और भयसे संत्रस्त है, पर उस सबपर पड़ा है जाने किस अदृष्ट भावी विश्वासका बल-शाली हाथ, कि एक अमंद आनंदकी धारामें वह अहर्निश आप्लावित रहती है।

इसीसे कभी-कभी जब अकेलेमें चिंतामें डूबी वह उदास हो जाती तो वसंत मौन-मौन उसके हृदयकी व्यथाको आखोंसे पी लेती। उसे छातीसे लगाकर मूक सान्त्वना देती। अंजना एकाएक हंस पड़ती। चेहरेकी वेदना उस हंसीसे और भी मोहक हो उठती। अंजना कहती—

"तुम चुप रहती हो, जीजी, पर मैं क्या नहीं समझ रही हूं? पर विधाताके कौतुकपर अब तो हंसी ही हंसी आ रही है। देव-दर्शनके लिये तुम मुझे मंदिरतक नहीं जाने देती। ऐसे डरकर कै दिन चल सकूंगी? मुझे भय भी नहीं है और लज्जा भी नहीं है। क्या मुझे इतना हीन होनेको कहती हो, जीजी, कि उनकी दी हुई थातीकी अवज्ञा करूं? उनके दिये

हुए पुण्यको पाप बनाकर दुराती फिरू, यह मुझसे नही हो सकेगा · · · ·!"

"पर अजन, लोक-दुनिया तो यह सब नहीं जानती · · · ·।"

"हां, दुनिया यह नही जानती है कि किस रात वे अभागिनी अंजनाके महलमें आये और कब चले गये। पर उन्हें मुझतक आनेके लिये, या मुझे उनके पास जानेके लिये क्या हर बार, लोक-जनोकी आज्ञा लेनी होगी ?"

"पर अजन, दुनिया तो इतना ही जानती है न, कि कुमार पवनजयने अजना को कभी नही अपनाया। उनकी दृष्टि में तुम पहले ही दिन की परित्यक्ता हो। तुम्हारे और उनके बीचकी राह सदाके लिये जो बद हो गई थी—इसके परेकी बात दुनिया क्या जाने ?"

अंजनाके चेहरेपर फिर एक अम्लान हसी झर पडी—

"कैसी भोली बाते करती हो, जीजी ! इस सबका उपाय ही क्या है ? मुझे या तुम्हे घूम-घूमकर क्या इसका विज्ञापन करना होगा ? और करोगी भी तो क्या दुनिया उसे सच मान लेगी ? सच बात तो यह है, जीजी, कि अगी लोक-दृष्टि यदि मेरे और उनके बीचकी राहको देख पाती, तो दुनियामे इतने अनर्थ ही न होते !—पाप और दुराचारोकी सृष्टि ही न होती। विधिका विधान ही कुछ और होता। मै कहू, फिर विधि का विधान होता ही नहीं, मनुष्यका अपना ही मांगलिक विधान होता। पर स्थूल लोक-दृष्टिपर राग-द्वेषोके आवरण जो पड़े है। इसीसे तो मानव-मनमें अशेष दुख-क्लेशोकी वार्ताएं चिरकालसे चल रही है। दिन-रात आत्मा-आत्माके बीच सघर्ष है। यह सब इसीलिये है कि एक-दूसरेको ठीक-ठीक समझने जाननेकी शक्ति हममे नही है।"

"पर अजन, मनुष्यकी जो विवशता है, उसकी अपेक्षा ही तो जगतका बाह्य व्यवहार चल सकेगा।"

"भीतर और बाहरके बीच तो पहले ही खाई है—इस खाईको और बढ़ाये कैसे चलेगा, जीजी ? भीतरके सत्यपर विश्वास कर, बाहरकी दुनियामें उसके लिये सहना भी होगा। उस सत्यकी प्रतिष्ठा करनेके

लिये, अचल रहकर सम-भावसे, लोकमें प्रचलित मिथ्याको प्रतिरोध देना होगा, खपना होगा। अपनेको चुकाकर भी उस सत्यको प्रकाशित करना होगा !"

"पर उस सत्यका आधार ही यदि छिन जाय, तो उसे प्रकाशित कैसे कर सकोगी ?"

"सत्यका अंतिम आधार सदा कोई स्थूल, ठोस चीज तो नहीं होती, जीजी ! प्रेम और आत्मा कोई रग-रूपवाली मणि तो नहीं होती है कि चट निकालकर दिखा दें। 'उन'पर और अपने ऊपर विश्वास यदि अचल है, तो बाहरका कौनसा भय और प्रहार है जो मेरा घात कर सकेगा ? जो धन वे सौंप गये है, उसकी रक्षा करनेका बल भी वे आप मुझे दे गये हैं।.... केवल एक ही चिंता मनको दिन-रात बींध रही है—कि वे किसी दुश्चक्रमें न पड़ गये हों। जाते-जाते उनका मन युद्धसे विमुख हो गया था। उनकी इच्छाके विरुद्ध, मैंने ही उन्हें भेजा है। शपथ दी है मैंने कि वे अन्यायके पक्षमें नहीं लड़ेंगे, चाहे वह अपना ही पक्ष क्यों न हो। इसीसे रह-रहकर चिंता होती है—कि किसी गहरे दुश्चक्रमें न पड गये हो.... ? मेरी बातको वे कुछका कुछ न समझ बैठे.... "

कहते-कहते अजनाकी आखे भर आई। वसतने उसे फिर पास खीचकर पुचकार लिया और छातीसे लगाकर सान्त्वना देने लगी।

× × × कानोंकान बात सारे अंतः पुर में फैलगई—। राज-परिकरमे भी दबे-छुपे चर्चाएं होने लगी। महादेवीने सुनाऔर सुनकर दोनों कानोमें उंगलिया दे लीं। आखें जैसे कपालसे बाहर निकल पड़ती थीं। उनके क्रोध और संतापकी सीमा नहीं थी। 'ऐसी आई है कुलक्षिणी कि पहले तो मुझसे पुत्र छीना, उसके जीवनको नष्ट कर दिया, और उसकी पीठ पीछे कुलकी उज्ज्वल कीर्तिमें ऐसे भीषण कलंककी कालिख लगा दी !' स्वयं जाकर बहूसे मिलने या उसे बुलवाकर पूछ-पाछ करनेका धैर्य राज-मातामें नही था। जाने या

बुलानेकी तो बात दूर, इस कल्पनासे ही शायद वे सिहर उठती। अपनी विश्वस्त गुप्त-चरियोको भेजकर ही उन्होंने बातका पक्का पता लगा लिया था। दूसरे इधर कुछ दिनोसे अजना भी नि शंक होकर प्रातः-सायं, देव-मदिरमें दर्शन करने जाने लगी थी। तब सभीके समक्ष वह प्रकट थी। अजनाके इस दु साहसपर देखनेवालोको भीतर-भीतर अचरज जरूर था, पर बातकी गहराईमें जाना किसीने भी उचित नही समझा। स्वयं महादेवीने भी एक दिन छुपकर उसे देख लिया। सदेहका कोई कारण नही रह गया! पापी यदि निर्लज्ज होकर प्रकटमें घूम रहा है तो क्या कुलीन और सज्जन भी अपनी मर्यादा त्यागकर उसका सामना करे? पापके स्थूल लक्षण जब प्रकट ही है तो उसमे जाचना क्या रह गया है? पतित तो समाजके निकट घृणा, उपेक्षा और दडका ही पात्र है—उसके साथ सहानुभूति कैसी, सपर्क कैसा? यही रही है अबतक कुलीनोकी परंपरा! अपनी मर्यादाकी लीक लाघकर दुराचारीके निकट जाकर उससे बात करना, यह सज्जन और कुलीनकी प्रतिष्ठाके योग्य बात नही है। पर क्या है इन कुलवानो और सज्जनोके चरित्र और शीलकी कसौटी, जिसपर इनका न्यायाधिकरण अधिष्ठित है? पाखड, स्वार्थ, शोषण—सबलके द्वारा अबलका निरतर पीडन और दलन। यही पार्थिव सामर्थ्य है उनका सबसे बड़ा चरित्र-बल—जिसकी ओट उनका बडासे बडा पाप स्वर्ण और रत्नोकी शैय्यामे प्रमत्त और नग्न लोट रहा है—वह लोकमे ऐश्वर्य और पुण्य कहकर पूजा जा रहा है!

महादेवी केतुमतीने महाराजको बुलाकर सब वृत्तात कहा। पछाड़ खाकर वे धरतीपर औंधी गिर पड़ी और विलाप करने लगी। महाराजकी मतिको काठ मार गया। उनकी आखोके आसू रुक नही सके। एक अवश क्रोधसे उनके ओठ फड़-फड़ाने लगे। पुत्र विमुख था, फिर भी उसके प्रति अविश्वास उन्हे नहीं था। इधर वह जबसे युद्धपर गया है, उनके मनमे एक नई आशा बलवती हो रही थी। शायद अब

उसका मन फिर जाये। पर भाग्यने यह दूसरा ही खेल रच दिया। ....विचित्र है कर्मोंकी लीला—! उनके सतोगुणी मनमें, अस्पष्ट, जड़ नियतिपर ही क्रोध है;—मनुष्य और उसकी दुर्बलतापर क्रोध उनके बसका नहीं है।

रानी रुदन करती-करती उच्च स्वरमें राजाकी ओर नागिन-सी फूत्कार कर बोली—

"देख ली अपनी गुणियल बहूको ? बड़े गुण गा-गाकर लाये थे ! ....कुलघातिनी....कुलटा, उसके दुष्कृत्योंका अंत नहीं है !"

राजा पत्थरकी तरह अचल हैं, पर भीतर उनके क्रंदन मचा है। कानोंमें उनके गूंज रही हैं, लोक-निंदाकी वेधक किलकारियाँ। सत्य उनकी कल्पनासे परे था। लाख कुछ हो, पर पुत्र क्या मा-बापसे छुपा है? और फिर पवनंजय जो कर बैठा है, वह क्या कभी टला है ? फिर, बाईस वर्ष बीत गये, कभी कोई बात नहीं हुई। आज उसके पीठ फेरते ही यह सब कैसे घट गया ? सत्यकी जाँच करनेको क्या रह जाता है ?

रानीने अनेक विलाप-प्रलापकर राजाकी स्वीकृति ले ली: कि पापिनको महलसे निकालकर राज्यकी सीमासे बाहर कर दे; उसे अपने बापके घर महेंद्रपुर भेज दिया जाय। उसके और उसके पितृ-कुलके लिये इससे अच्छा दंड और क्या होगा ? उस पुत्र-घातिनी और कुल-घातिनीको एक क्षण भी अब इस राज-घरानेके आँगनमें नहीं रक्खा जा सकेगा। नहीं तो पापका यह बोझ वंशको रसातलमें ही पहुंचा देगा।

अगले दिन सवेरे ही रानीने रथ लेकर अक्रूर नामा सारथीको बुला भेजा। स्वयं रथपर चढ़कर फुंकारती हुई रत्न-कूट प्रासादपर जा पहुंची।

अंजना और वसंतमाला तब स्वाध्याय करती हुई, तत्व-चर्चामें तल्लीन थीं। भीषण आंधी-सी जब राज-माता एकाएक प्रकट हुई, तो अंजना और वसंत किंकर्तव्य-विमूढ़ देखती रह गईं ! रानी अंगारोंसी-लाल हो रही है, और क्रोधसे थर-थरा रही है। पहले तो दोनों बहनें

भयभीत हो सकपका आई। फिर अजना साहसकर पैर छूनेको आगे बढ़ी. . . .

. . . . कि बिजलीकी तरह एक प्रचड पदाघात उसकी छातीमें आकर लगा। वह तीन हाथ दूर जा पड़ी।

"राक्षसी. . . . कलकिनी. . . . ओ पापन, तूने दोनो कुलोके भालपर कालिख पोत दी ! तूने वंशकी जड़ोमें कुठाराघात किया है. . . . और अब सती बनकर बैठी है शास्त्र पढने !. . . . किससे जाकर किया है यह दुष्कर्म. . . . किससे जाकर फोड़ा है सिर. . . . ?"

कहते-कहते रानी फिर झपटी, और कसकर एक-दो लाते अजनाके सिर और पीठमें मार दी। वसत बीचमे रोकनेको आई तो उसकी पसलीमें एक घूसा देकर, बिना बोले ही उसे दूर ठेल दिया। वसत उस मर्मांतिक आघातसे धप्से धरतीपर बैठ गई।

"सच बता डायन, सच बता, छः महीने हुए वह युद्धपर गया है, और उसके पीठ फेरते ही तुझे सूझा यह खेल. . . . ? पर कबकी जान रही हू तेरे कृत्य, तभी तो जाती थी मृग-वन, अरुणाचलकी पहाडी ! गाव-बस्तियो और जंगलमें जो भटकती फिरती थी ! भाग्य तो तभी फूट गया था, पर किससे कहती ? पति तो धर्मात्मा और उदासीन ठहरे और पुत्र अपना ही नहीं रहा।"

अजना औंधी पडी है, अकप, मेरु-अचल !

"हतभागिनी पत्थर होकर पड़ी है—कुछ भी नही लगता है ! धरती भी तो पापका भार ढो रही है—जो फटकर इस दुष्टाको नही निगल जाती !. . . . हमारे ही भाग्यका तो दोष"

क्रोधसे पागल रानीकी छाती फूल रही है—नथुने फडक रहे है। हांपते-हांपते जरा दम लेकर फिर बोली—

"अरी ओ भ्रष्टे, चल उठ यहांसे. . . . जा. . . . अपने बापके घर जा ! एक क्षणको भी देर हुई तो अनर्थ घट जायगा। दुनिया

कुलके मुखपर लाञ्छनका कीचड़ फेंकेगी । अरे नरककी बहिया खुल पड़ेगी. . . . उठ शंखिनी. . . . उठ, देर हो रही है. . . . !"

कहते हुए राजमाताने पास जा अंजनाको झकझोरकर उठाना चाहा। अजनाने उनके पैरोमें गिरकर उनपर अपना सिर डाल देना चाहा। तब पैर खीचकर, एक और ठोकरसे उसे दूर ठेलती हुई महादेवी बोली—

"दूर हट. . . पापिन, दूर हट. . . . अंग छू लेगी तो कोढ़ निकल आयेगी. . . !"

अजनाके दोनो खाली हाथोके बीच बिखरे केशोमे ढका माथा पड़ा है। रुदन छाती तोडकर फूट ही तो पडता था, पर आज उसकी छाती ही जैसे वज्रकी हो गई है। पहले अजनाके मनमे आया कि अपनी बात कहे। पर परिस्थितिका ऐसा अघ और विषम रूप देखकर, वह स्तब्ध रह गई। उसका समस्त मन-प्राण विद्रोहसे भर आया।. . . . नही, वह नही देगी कैफियत। सुनने और देखनेको जिनके पास आंखे और कान नही है, क्षण भरका भी धैर्य जिन्हे नही है, सिरसे पैरतक जो अपने ही मान-मदमे डूबे है, और सत्यकी जिनमे जिज्ञासा नही है, निष्ठा नही है, असत्यपर ही खडी है जिनकी सारी नीतिया और मर्यादाए।—वे करेंगे 'उनके' और मेरे बीचका न्याय-विचार ? वे किन कानो सुन सकेंगे उस रातकी कथा, जिनके हृदय और आत्मा ही मर चुके है। नही, उसे कुछ भी कहना नही है—चाहे उसे यही गाड दिया जाये। 'उनके और मेरे बीच नही है मृत्युकी बाधा !' —और फिर एक अपार बलसे वह भर उठी। ध्यानमे 'उन' चरणोको ही पकड वह आत्मस्थ और चुप पड़ी रह गई।

बसंतने राज-माताके पैर पकड़ लिये। उन्हें शपथें दिला-दिलाकर उसने उस रातकी कथा कह सुनाई। प्रमाण-स्वरूप अंजनाके हाथमेंसे वलय और मुद्रिका निकालकर दिखाये। परिणाम और भी उल्टा

हुआ। पुत्र मासे विमुख है, और इस कुलटाके पास वह आया होगा ? युद्धसे लौटकर, क्षत्रियकी मर्यादा लोपकर वह आया होगा इसके पास ? एक मर्मांतिक ईर्ष्या और क्रोधसे रानी फिर पागल हो गई। कषायमे प्रमत्त सुलगती आखे, अधी हो रही थी। वलय और मुद्रिकाको पहचानकर भी अनदेखा कर दिया। प्रेम और सद्भाव ही जब हृदयसे निर्मूल हो चुका था, मिथ्यात्वका ही जब एक आवरण चारो ओर पडा था, मनुष्यको मनुष्यका ही आदर और विश्वास जब नही रहा, तो निर्जीव वलय और मुद्रिकाकी क्या सामर्थ्य कि वे सत्यको— प्रमाणित करते। राज-माताने व्यगका अट्टहास करते हुए वसतपर प्रहार किया—

"छि कुटिनी, तू ही माया न रचेगी तो और कौन रचेगा? ऐसे दुष्कृत्य कर, अब भी झूठ बोलते और शील बखानते, जबान नही कट पडती ? बडी आई है सतवती, सती बहनके गुण गाने ! दु शीलाओ, जाने कितने पापका विष तुमने इस महलमे अबतक फैलाया होगा। पूर्वजोंकी पुण्यभूमिमे नरक जगाया है तुम दोनोने मिलकर ! जाओ, इसी क्षण जाओ, निकलो मेरे महलसे ! हटो आखोके सामनेसे, अब तुम्हे देख नही सकूगी. . "

कहकर रानीने द्वारकी ओर देखा और साथ आई हुई विश्वस्त अनुचरियोको पुकारा। उन्हे सक्षिप्त आज्ञा दी—

"इन दोनोको ले जाकर नीचे खडे रथमे बिठाओ !"

फिर झपटती हुई राजमाता बाहर निकली। सारथीको बुलाकर आज्ञा दी—

"सुनो अक्रूर, महेंद्रपुरकी सीमापर इन दोनोको छोडकर शीघ्र आओ, और मुझे आकर सूचित करो !"

इधर दासिया उठायें, उसके पहले ही वसतने उठाकर अजनाको अपनी गोदपर ले लिया। प्रगाढ मुदी आखोके आसुओसे सारा मुख

घुल गया है। पर अब सूख गये हैं वे आसू। देह जैसे विदेह हो गई है। झकझोरकर एक-दो बार वसंतने कहा—

"अजन—ओ अंजन!"

एक विस्मृत प्रसन्नताकी अर्ध-स्मितमें अंजनाके ओठ खुले। चेहरेकी सारी वेदनामें एक तेज झल-मला उठा। केवल इतना ही निकला उन ओठोसे—

"उनकी आज्ञा मिल गई है, जीजी! चलो वे बुला रहे हैं, देर मत करो!"

वसन्त अपने हाथों के सहारे अजना को लेकर सीढ़ियाँ उतर रही थी। तब फिर एक बार महादेवी गरज उठी—

"जा पापिन, अपने बापके घर जाकर अपने कियेका प्रायश्चित्त कर। तुझे और तेरे पितृ-कुलको यही दड काफी है!"

.. देखते-देखते रथ, अत पुरके गुप्त मार्गसे, राज-प्रागणके बाहर हो गया।

[२३]

हवासे बाते करता हुआ रथ महेंद्रपुर के मार्गपर अग्रसर था। प्रभात-पवनके शीतल स्पर्शसे सचेत होकर अजनाने वसतकी गोदमें आखें खोली। पथके दोनो ओर स्निग्ध, श्यामल, घटादार वृक्ष सवेरेकी कोमल धूपमे दमक रहे हैं। कही दूरकी अमराइयोसे रह-रहकर कोयलकी टेर सुनाई पडती है। आस-पास खेतोमे सरसो फूली है। तिस्सीके नीले फूलोमे शोभाकी लहरें पड़ रही हैं। दूर-दूर खेतोके किनारे इक्षुके कुज हैं। कही घने पेड़ोके झुरमुट हैं। उनके अतरालसे गाव झाक रहे हैं। आकाशके छोरपर कही श्वेत बादलोके शिशु किलक रहे हैं। अजनाकी स्थिर आंखें उसी ओर लगी हैं। ....भीतरके मुकुलित सौंदर्यका आभास-सा पाकर वह सिहर आई। अधरोपर और कपोल-पालीमें स्मितकी भंवर-सी

पड़ गई। वेदना आंखोके किनारे अंजन-सी अंजी रह गई है, और पुतलियां भावीके एक उज्ज्वल प्रकाशसे भरकर दूरतक देख उठीं—जैसे क्षितिजके पार देख रही हों....

अपने गालपर फिरती हुई वसतकी उगलियोंको हथेलीसे दबाती हुई अंजना बोली—

"क्या सोच रही हो, जीजी ?"

"सो क्या पूछनेकी बात है, बहन ?"

"सो तो समझती हू, जीजी, मुझ अभागिनीके कारण तुमको बार-बार अपमान और लाछना झेलनी पड़ रही है। और आज तो पराकाष्ठा ही हो गई। इसीकी ग्लानि मनमे सबसे बडी है। मेरी राहमे यदि विधिने काटे ही बिछाये हैं, तो तुम्हें उनपर क्यों घसीटू। नही बहन, यह सब अब मै और नही चलने दूंगी। मुझे मेरी राहपर अकेली ही जाने दो। देखती हूं कि इस राहका अंत अभी निकट नही है। अबतक जिस तरह चली हू और आज भी जो हुआ है, उसे देखते अब मेरी यात्रा सुगम नही है।....तुम्हें लौट ही जाना चाहिये, जीजी ! तुम अपने घर जाओ, तुम्हे मेरी शपथ है ! जाकर अपने बच्चो और पतिकी सुध लो। विश्वास रखना, तुम्हे अन्यथा नही समझूगी। सुख-दुख और जन्म-मरणमे तुम्हारा आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहेगा !"

"पत्थरकी नही हू अजन, तेरी वेदनाको समझ रही हू। जानती हू कि तेरी होड मैं नही कर सकूगी। तेरी राहकी सगिनी हो सकू, ऐसी सामर्थ्य मेरी नही है। पर मेरी ही तो मति गुम हो गई थी, और उसीका परिणाम है कि यह सकटकी घडी आई है। क्यों मैंने तुझे स्वच्छद होने दिया, क्यो जाने दिया मृगवन; क्यो उस दिन कुमारको रोका नहीं—कि वीरको यो गुप्त राह आना और चले जाना शोभा नही देता। स्वार्थी पुरुषने सदा यही तो किया है ! और स्वार्थ पूरा होनेके बाद कब उसने पीछे फिरकर देखा है ? पर मोहके वश ये सारी भूलें

मुझीसे तो हुई है। तेरे साथ रहकर इनका प्रायश्चित्त किये बिना, किस जन्ममे इनसे छूट सकूगी ?"

"तुम्हें छोटा नही आंक रही हू, जीजी ! दूर रहकर भी क्या क्षण भर भी जीवनके पथमे तुम मुझसे विलग रही हो ? मेरी कांटोंकी राहमें, अपना हृदय बिछाकर तुमने सदा उसे सुखद बनाया।—तुम्हीने दिखाया था उन्हे, मानसरोवरकी लहरोपर, पहली बार ! रूठकर वे गये, तो तुम्ही उस रात उन्हे लौटा लाईं, और जगाकर मुझे सौंप दिया। —और आज इस क्षण भी तुम्हारे ही सहारे यहातक चली आई हू। अपने पथपर नि.शक तुमने मुझे जाने दिया। इसलिए कि तुम्हारे मनमें उसके लिए आदर था।—और माना कि वे गुप्त रास्ते आये, वीरकी तरह वे नही आये।..पर जो वेदना वे लेकर आये थे, वह क्या तुमसे छिपी है, जीजी ? वे तो मुझे कृतार्थ करने आये थे ! उस क्षण उन्हे मेरी जरूरत थी। और मै थी ही किस दिनके लिए ? तुम्ही कहो, क्या उस क्षण उन्हे ठुकरा देती ?—तुमसे जो हुआ है, वह कल्याण ही हुआ है, जीजी। पर देखती हू कि तुमसे लेती ही आई हूं, देनेको मुझ कगालिनीके पास क्या है ?....और आज यदि दिया है तो कलक ! यही सब अब नही महा जाता है, जीजी। इसीसे कहती हू कि अब यह भार मुझपर मत डालो—मैं तुच्छ दबी जा रही हूं इसके नीचे—।"

"तेरी बात कुछ समझ नही पा रही हू, अंजन ! क्या है तेरा निर्णय. जरा सुनू !"

अंजनाकी वे पारदर्शिनी आंखे, फिर किसी दूर अगम्यमें जा अटकी थी। कुछ देर मौन रहा, फिर एक दबी निःश्वास छोड़कर वह धीरे-से बोली—

"....मेरा क्या निर्णय है, जीजी, पथकी रेखा तो वे आप ही खीच गये हैं। देख नहीं पाती हूं, फिर भी अनुभव करती हूं कि उसीपर चल रही हूं। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हू, राह खुलती जाती है।—

माना कि सामने साप बिछे हैं और भालू झपट रहे हैं, खदक और खाइयां भी हैं—! पर हंस-हंसकर वे पास बुला रहे हैं, तो रुक कैसे सकूगी ? उनके इगितपर, नरकको आगमें भी चलना पडेगा, तो हंसती हुई चली चलूगी। क्योकि जानती हू कि वे गिरने नही देंगे—हाथ जो झाले हुए हैं।—जाने ही वाली थी, कि उस रात वे आकर खडे हो गये और राह रोक ली ! क्या वह सब झूठ था, जीजी, क्या वह मात्र अभिनय था ? अपनाया तो है ही, पर और भी परीक्षा लिया चाहते है, तो क्या मुकर जाऊगी . . ?"

वसतने देखा कि कैसी अबोध है यह लडकी ! बाहरकी यह ठोस दुनिया इसके समुख है ही नही। भीतरका जो रास्ता है, वही इसके लिये, एकमेव सत्य है। परिस्थिति इसके लिये सहज उपेक्षणीय है। निःशक उसे तोडती हुई यह चली जा रही है—निर्द्वंद्व और अकेली।

"अपने बाहरकी दुनियाके प्रति, अपने सभी इष्ट-जनोके प्रति, इतनी निर्मम हो जाओगी, बहन ? अपने आत्मीयोपर, अपने जन्म देनेवाले जनक और जनेतापर भी, क्या तुम्हारा विश्वास और प्रेम नही रहा ? अपनी सासकी दुष्टताके लिये, अपने सभी स्नेहियोको ऐसा कठोर दड मत दो। सारी दुनियाको इतनी निष्ठुर मत समझो, अजना। अपनी जन्मभूमि महेंद्रपुरको छोडकर तुम और मै कही जा नही सकेंगे।"

"बाहरकी दुनियाकी अवज्ञा करू, ऐसा भाव रच मात्र भी नही है मनमें। और कौनसी शक्ति है, जो ऐसा कर सकी है ? मिथ्या है वह अभिमान। लोक है, इसीसे तो उसका ज्ञाता-द्रष्टा ईश्वर भी है। लोकसे क्या वह अलग है ? फिर लोकसे द्रोह करके, उससे विमुख होकर, मेरे होनेका क्या मूल्य है ? और तब क्या मै रह भी सकूगी ? लोक और माता-पिता, सबकी कृतज्ञ हू कि उन्हीके कारण तो मै हूं। और सास-ससुरका और किसीका भी दोष इसमें नही है। दोष तो अपने ही पूर्व सचित कर्मोंका है, और उसका फल अकेले ही भोगना होगा। अपने किये

पापोंका फल बाटती फिरू, यह मुझसे नही हो सकेगा। पुण्य फलता तो बाटकर ही कृतार्थ हो लेती। अपने कियेका दड उन्हें नहीं देना चाहती, इसीसे तो वहा जानेकी इच्छा नही है। उपेक्षाका भाव किसीके भी प्रति नही है। किसीके प्रति कोई आक्रोश या आरोप भी मनमे जरा नहीं है। पर सबको देनेको मेरे पास दुख ही दुख है, और वैसा करने का अधिकार मुझे नही है। जन्म-भूमिके प्रति, आत्मीयोके प्रति, और लोकके प्रति शत-शत बार मेरी दूरसे ही वदना है!—हो सके तो उन सबसे कहना कि अजनाको वे अन्यथा न समझे।"

"तुम भूलती हो अजन! तुम मनुष्य और उसके प्रेममे ही अविश्वास कर रही हो। यदि दुखमे ही मनुष्य, मनुष्यका नही है, तो फिर आत्मा-आत्माके बीचका अटूट सबध ही मिथ्या है। सकटकी इस घडीमे ही तो उस प्रेमकी परीक्षा है।"

"प्रेम कहा नही है, जीजी? उसपर अविश्वास किये कैसे बनेगा? प्रेम है कि हम सब जी रहे है। सत्ताका विस्तार ही प्रेमके कारण है। पर मनुष्य मात्रकी अपनी विवशताए भी तो है। वे भी तो अनेक मिथ्यात्वो और कर्म-परपराओसे बधे है। इसीसे भीतर बह रही प्रेम की सर्व-व्यापिनी धारा व्यक्ति-व्यक्तिके बीच रह-रहकर टूट जाती है; कहे कि लोप हो जाती है। तब जागते है, पारस्परिक सघर्ष, कषाय और विग्रह। उस धाराको जोड़ सकनेकी शक्ति जिस दिन पा जाऊगी, उसी दिन उनके बीच आऊगी! अपनी ही अपूर्णता और विषमता लेकर आऊगी, तो उनके जीवन-व्यवहारको शायद और भी जटिल बना दूगी. . . .।"

"ठीक-ठीक तेरा अभिप्राय नही समझी हू, अजन? कैसे तू भागनेकी तर्क-युक्ति सोच रही है। समझती हू कि तुझे पकडकर रखनेकी शक्ति मुझमे नही है। फिर भी स्पष्ट जानना चाहूगी, तू क्यो अपने स्वजनोके पास नही आया चाहती?· वे तो तुझे प्राणाधिक प्यार करते है। कितनी ही बार वे तुझे लेने आये, तेरे पैरतक पकड़ लिये, पर तू न गई! आज

भी इस आपद्कालमें वे तो तुझपर विश्वास ही करेंगे। उनकी गोद तेरे लिये सदा खुली है। क्या तू सोचती है कि वे भी तुझपर सन्देह करेंगे?"

अंजना कुछ देर चुप रही, फिर बाहरकी ओर देखती हुई ईषत् मुस्कराकर बोली—

"....वैसा भी हो जाये तो कोई बडी बात नही है, जीजी! विश्वास न भी कर सकें तो क्या इसमे उनका कोई दोष है?—कर्मावरण तो सब जगह एकसे ही पडे है, न? उनके और मेरे बीच भी तो वे आड़े आ ही सकते हैं। इसके उदाहरण लोकमे कम नही है। उन्हें ही कौनसा प्रत्यक्ष प्रमाण देनेको है मेरे पास?—सिवा इसके जो छिपाये छिप नही सकता! और—लोक-दृष्टिमें यही तो है पापका साक्षात् रूप! उन स्वजनोकी भी अपनी परिस्थिति है। वे भी तो एक लोक-समाजके अग है। उनकी भी तो अपनी कुल-प्रतिष्ठा, लोक-मर्यादा और सदाचारके नीति-नियम है। अज्ञात कालसे चली आई उन्हीं परंपराओंसे वे भी तो बधे है। उन संस्कारोको तोड देना, उनसे ऊपर उठकर देख सकना, उनके लिये भी सहज सभव नही है। पहले मै परित्यक्ता थी, फिर मुझसे मर्यादा टूटी; और अब तो गुप्त व्यभिचारके कलंकका टीका भी मेरे भालपर लगा है! इस सबको लेकर वहा जाऊंगी, तो वहां भी उन सबके विक्षोभ और क्लेशका कारण ही बनूंगी। वहाके लोक-समाजकी मर्यादाको भी धक्का लगेगा। उसे तोड़कर वे मुझे अपनायेंगे, तो—परिणामहीन हिंसा और कषाय लोकमें फैलेगा। वह इष्ट नही है, जीजी! कल्याण उसमे न उनका है न मेरा, और सत्यकी राह ऐसे नही खुलेगी। उल्टे संघर्ष ही बढ़ेगा।"

"लोक-समाज यदि अज्ञानके अंधेरेमे पडा है, तो क्या उसे यों छोड़कर चले जानेमें, निरा स्वार्थ और भीरुता ही नहीं है? अपना ही बचाव यदि यों सब करने लगेंगे, तो लोकाचारका मांगलिक राज-पथ कौन प्रशस्त करेगा?"

"पर लोकको पथ दिखानेकी स्पर्धा करूं, ऐसी सामर्थ्य मेरी नहीं है, जीजी ! आप अपने पथपर चली चलू, अपने सत्यपर अटल और अच्युत रह सकूं, वही मेरे लिये बहुत होगा। और तब किसी दिन यदि उस सत्यका संपूर्ण बल पा गई, कुछ लोकको अर्पित करने योग्य जुटा सकी, तो उस दिन वापस आऊंगी, और लोकके प्रति अपना देय देकर उसका ऋण चुकाऊंगी। मेरे सत्यको सिद्ध होनेमे अभी देर है, जीजी। जब वह प्रकट होगा तो अपना काम वह आप करेगा, फिर चाहे कितनी ही दूर और कहीं भी क्यों न रहूं। तब किसीके भी मनमें मेरे लिये दुराग्रह और कषाय नही जाग सकेगा; प्रेम ही जागेगा। तब मेरी सामर्थ्य होगी, और मुझे अधिकार भी होगा, कि मैं सबके बीच आकर सबकी हो सकूं और सबको अपना सकू। उसी दिन आऊंगी, जीजी।—आज तो मैं सबकी अपराधिनी ही हू, और सबके दुखका कारण ही हो सकूंगी। —देनेको है मेरे पास केवल कलंककी कथा....!"

"तुझे पाकर यह जीवन धन्य हुआ है, अंजनी ! तुझे छोड़कर मैं कही जा नही सकूगी, यह तू निश्चय जानना।—पर अपनी जीजीकी एक बात तुझे माननी ही होगी। तू नगरकी सीमापर ही रहना और मैं एक बार महाराजके पास जाऊंगी। सत्य उनपर प्रकट करूंगी, देखूं वे क्या कहते हैं। उसके बाद तेरा ही निर्णय मुझे मान्य होगा। तुझे छोड़कर में इस लोकालयमें रहँ सकूं, यह इस जन्ममे और जीते जी मुझसे नही हो सकेगा। मेरे गलेपर हाथ रखकर कह दे, तू मेरी यह अन्तिम बिनती अस्वीकार नहीं करेगी"

कहते-कहते वसन्तने अंजनाका हाथ लेकर अपने गलेपर रख लिया। अंजनाकी आंखोंमें आंसू छल-छला आये। उसने लेटे-लेटे ही एक बार आंखें उठाकर वसन्तके मुखकी ओर देखा और बोली—

"तुम्हें अपने ही लिये नहीं भेज रही हूं, जीजी, पर तुम्हारे पतिदेवने और उन बालकोंने क्या अपराध किया है, जो उन सबसे बिछुड़ाकर

तुम्हें छीने जा रही हूं। पूर्व भवमें जाने किसको बिछोह दिया था, सो तो इस भवमें झेल रही हूं, और अब तुम्हें बिछुड़ाकर कहां छूटूंगी, यही देख लेना,—जीजी ! . . . .और मैं कुछ न कहूंगी . . . ."

अंजनाकी आंखोंमें आंसू उफनते ही आये। वसतने अपने आंचलसे उन्हें पोछते हुए कहा—

"तेरे दुखसे अपने दुखको अलग नही देख पा रही हू, अजन ! विवश हो गई हूं। जो कर रही हूं, उसमें दायित्व मेरा ही है। तेरा संकल्प वह नहीं है, जो कर्म तुझे बाँधेगा। घर जाकर सब ठीक कर आऊगी। निर्णय हो चुका है, अजन, दुविधा अब नही है।"

एक दूसरेके हाथ अपनेको सौंपकर दोनो बहने मानो निश्चित हो गईं। ऐसा अद्वैत भीतर सध गया है, कि जैसे वचनका विकल्प अब दोनोंके बीच सभव ही नही है। चुप और बद होकर अपने आपमें वे एकीभूत हो रही है। और ऐसे ही जाने कब दोनोकी आख लग गई। योजनोंकी दूरी लाघता हुआ रथ चला जा रहा था, पर वे दोनो लडकियां उस संघर्ष और संकटकी अनिश्चित घडीमे भी बिल्कुल अविचल भावसे निद्रामें मग्न थी। ऐसा लगता था जैसे कुछ हुआ ही नही है।

ढलते हुए अपराह्नमे दोनोकी नीद जाने कब खुल गई। दूरपर दंति-पर्वतकी नील शृंग-रेखा दीखने लगी थी। देखा और अंजनाका हृदय एक मार्मिक वेदनासे हिल उठा। रोएं-रोएंमें सौ-सौ जन्म मानों एक साथ जाग उठे हों। दंति-पर्वतके शिखरपर बैठकर वीणा बजानेवाली वह मुक्त-कुतला, निर्दोष बालिका फिर उसकी आंखोमें सजल हो उठी। आह, कितनी दूर, किस कालातीत लोकमें चली गई है वह ! क्या वह उसे कभी न पा सकेगी ? और उसे पानेके लिये एक बारगी ही अंजनाका सारा अंतःकरण विकल और पागल हो उठा। खूब प्रगाढ़तासे आंखें मूंदकर व्यथासे भर आये अपने अतरको वह सयत करने लगी।

"अंजन . . . . !"

आंखें खोलकर अंजनाने वसंतकी ओर देखा। दोनोंने एक-दूसरेको देखकर एक वेदना भरी मुस्कराहट बदल ली। सांझके सूर्यकी म्लान किरणोमें दूरपर, महेंद्रपुरकी उन्नत प्रासाद-परंपराएं और भवन दीख रहे हैं। देव-मंदिरोंके भव्य स्वर्ण गुंबज, देवत्वकी महानताको घोषित कर रहे है। शिखरोंपर उड़ती हुई ध्वजाएं मंगलका संदेश दे रही हैं। आस-पासके उपवनों और उद्यानोमें ताल झांक रहे हैं। खेतोंके किनारे ग्राम-रमणियां जलकी कलसिया भरकर जाती हुई दीख पडती हैं। कोई-कोई विरल पुर-जन या पुर-नारी भी इधर आते दीख पड़ते हैं।

अंजनाकी आंखोके आंसू न थम सके। बाईस वर्ष बाद आज फिर आई है वह अपनी जन्म-भूमिमें—पिताके द्वारपर शरणकी भिखारिणी बनकर—कलकिनी होकर! क्या वे देंगे प्रश्रय? और देगी प्रश्रय यह जन्म-भूमि? पर, प्रश्नको जैसे उसने दबा देना चाहा, और मन ही मन बार-बार केवल प्रणाम ही करती रही।

महेंद्रपुरके सीमास्तंभके पास आकर रथ रुका। राहमें उतर पड़नेकी बात अजनाकी कल्पनामें भी नही आ सकी थी। क्योकि सारथी का कर्तव्य वह जानती थी। और सास-माताके दिये दडको जहातक निभा सके निभा देनेसे भी उसे इनकार नहीं था। अजना और वसंत रथसे नीचे उतरी।—धरतीपर पैर जैसे अजनाके ठहर नहीं रहे हैं। थर-थर उसका सारा शरीर कांप रहा है, जैसे अभी गिर जायगी। सड़कके एक ओरके वृक्ष-तले वसंतमाला उसे सम्हालकर ले गई। सारथी रथसे उतरकर बिदा मागने आया।—मूक पशुवत् वह अंजनाकी ओर देख रहा था। आंखोंमें उसके आंसुओंकी झडी लगी थी। दूर ही भूमिपर पड़कर उसने बार-बार प्रणाम किये। अपने कठोर कर्तव्य-पालनके लिये क्षमा मागनेको शब्द उसके पास नही थे। घोर ग्लानि, अनुताप, और करुणासे ओंठ उसके खुले रह गये थे—और फटी आंखोंके आंसुओंमें उसकी मूक बेबसी बिलख रही थी।

अंजना बड़ी कठिनाईसे अपनेको ही सम्हाल.पा रही थी। पर सारथीकी उस सहज मानवीय संवेदनाको देख वह अपना दुख भूल गई। अक्रूरके भूमिपर पड़े सिरपर हाथ फेरकर बोली—

"भैय्या अक्रूर, तुम्हारा कोई दोष नहीं है।—जाओ अपने कर्तव्यका पालन करो! प्रभु तुम्हारे साथ हों—"

तीरके वेगसे रथ आदित्यपुर जानेवाले मार्गपर लौट रहा था।

[२४]

सामने ही पेडोकी वीथिमे होकर एक वन-पथ गया है। उससे कुछही दूर जाकर नील-पर्णा नदी मिलती है। उस नदीके एकात और शात तटपर एक तपोवन है। अभय, निरापद और पावन है वह भूमि। निर्ग्रंथ, वीतराग तपस्वियोंका वह विहारस्थल है। वात्सल्यका ही वहां साम्राज्य है। जीव मात्रको वहा प्रश्रय है, और सकल चराचर वहा निर्भय है। किसीसे कोई पूछ-ताछ या रोक-टोक नहीं है। विधि-निषेध वहा नही है। प्रकृत जीवनकी ओर जानेकी साधना ही वहा मौन-मौन अनाहत चल रही है। इसीसे वहा जीव-मात्रका अपना शासन है। किसीका गुण-दोष या छिद्र देखनेका वहा किसीको अवकाश नही है। केवल निर्वसन श्रमण, या भिक्षुणिया अतिथियोकी तरह वहा आते-जाते रहते है। कभी-कभी कोई विरल जिज्ञासु जन भी इधर आ निकलते है। मनुष्य, मनुष्यका वहा सहज मिलन है, बीचमे सदेह नही है, प्रश्न नही है। लोक-जनोंका उधर विशेष आवागमन नहीं है।

वसत अजनाको उसी तपोवनके एक भिक्षुणी-आवासमें ले गई। आवास सूना पड़ा था, आश्रयार्थिनी वहा कोई नही थी। बालकों-से नग्न साधु-जन नदीके उस पार विचरते दीख पडे। कोई योगी किसी शिल-लता पर समाधिमे मग्न है। तो कोई मुनि किसी दूरके टीलेपर अचल खड़े

कायोत्सर्गमें तल्लीन हैं। डूबते सूर्यकी अंतिम आभामें उनके मुखकी तपःपूत श्री और भी दिव्य हो उठी है। देखकर अंजना भक्ति-भावसे गद्गद् हो उठी है। रोयां-रोयां एक अकारण सुखके आंसुओंसे भर आया। युग-युगकी बिछुड़नके बाद जैसे किसी परम आत्मीयका मिलन हुआ हो। नदी तटपर जहां खड़ी थी, वहीं आंचल पसारकर अंजना साष्टांग प्रणिपातमें नत हो गई। एक गहरी आत्म-निष्ठासे वह भर उठी है—कि यहां है वह प्रश्रय जिसे कोई नहीं छीन सकेगा।

आवास के दालान मे खूंटी पर एक मोर-पिच्छिका पड़ी है। वही लेकर वसंतने थोडी-सी जगह बुहार ली। ताकपर पडे दो-एक डाभके आसन जोडकर बिछा दिये। उसपर अजनाको सुखासीन कर दिया। वहीं आलेमे पडा एक कमडलु उठाकर वसत नदी-तटपर चली गई। कमंडलुमें पडे छन्नेसे छानकर जल भर लाई। उसने और अंजनाने मुंह-हाथ धोकर जल पिया। भोजनका प्रश्न इस समय उनके निकट बहुत गौण हो गया है—सो उस ओर ध्यान ही नही गया है। अंजना जब स्वस्थ होकर बैठी थी, तभी वसतने कहा—

"जाती हूं, बहन, छोडकर जाते जी टूट रहा है। पर और उपाय ही क्या है। लेकिन यहा कैसा भय? केवल मनका मोह ही तो है न। ....प्रभुसे विनति करना अजनी, कि मनुष्यको वह विवेक दे; और मै सफल होकर उसका प्रसाद लेकर लौटूं।"

"प्रभु तुम्हारे साथ है, बहन—पर वे कहां नही है? घट-घट मे वे बसे है। पर हमी उन्हें पहचाननेमें चूक जायं, तो क्या उनपर अविश्वास कर सकेंगे? मनमें फिकर मत रखना, मै यहां बहुत सुखी हूं।.... जाओ बहन....।"

और जैसे कुछ कहते-कहते अंजना रुक गई। वाष्पसे कुछ धुंधली हो आई, निगूढ आखोसे वह वसंतकी ओर देखती रह गई....

"चुप क्यों रह गई, अंजन....?"

नदीकी धाराकी ओर देखती हुई अंजना धीरेसे बोली—

"....कुछ नहीं, जीजी, यही कह रही थी कि स्नेहके वश होकर अधीर मत हो जाना। तुममे होकर अंजना ही याचनाका आचल पसारकर, पिताके संमुख जा रही है—इसे भूल मत जाना, बहन ! प्रहार आयें, तो उन्हे भी अपनी भिक्षा ही समझकर इस आंचलमें समेट लाना। उनकी अवज्ञा मत होने देना। मां-बापकी दी हुई वह मधुकरी जीवनके पथमे पाथेय ही बनेगी ! रोष करने योग्य वह नही है...."

कहते-कहते वह एकाएक चुप रह गई। फिर जैसे एक आसूका घूट-सा उतार गई और बोली—

"....क्या इतना ही कहना काफी न होगा, जीजी—कि अजना कलंकिनी होकर श्वसुर-गृहसे निकाल दी गई है—क्या पिताके चरणोमे उसे आश्रय है, ? अपना सतीत्व सिद्ध करनेके लिये उस रातकी कथा कहती फिरू, यह अब नही रुचता, जीजी ! लगता है कि द्वार-द्वारपर जाकर उनका अपमान कराती फिर रही हू ! उनके लिये मुझे किसकी साक्षी खोजनी होगी ? क्या ऐसे असमर्थ है वे, कि उन्हे'मेरे' होनेके लिये प्रमाणोसे सिद्ध होना पड़ेगा ? वे तो आप ही अपनेको एक दिन प्रकट करेंगे।....चाहो तो भले ही इतना कह देना कि—मैं उन्हीकी हू—और उनके और मेरे बीचकी बात जगत जो जानता है—वही अतिम सच नही है....!"

कुछ देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"हा, तो जीजी, यही कह रही थी कि प्रश्रय और दयाकी भीख तो कलकिनी अंजनाको चाहिये। सतीको उसकी जरूरत नही है। रक्षाकी जरूरत तो पापिनीको ही है। यदि उसे शरण नही मिली, तो फिर उसे वचितकर, सती बनकर भीख मागनेकी विडबना मुझसे नहीं होगी।—इतना ही ध्यानमें रखना, जीजी, और कुछ न कहूंगी....।"

एक-टक वसंत अंजनाके उस तेजो-दीप्त चेहरेको देखती रह गई। फिर धीरेसे बोली—

"भगवान देख रहे हैं, तेरी बहन हो सकने योग्य होनेका भरसक प्रयास करूंगी। आगे तो मेरी ही मति काम आयेगी। जल्दी ही लौटूंगी बहन।"

कहकर वसंतमाला धीरे-धीरे चली गई।

सामने नदी किनारेके झाउओंमें अवसन्न संध्याकी छायाएं घनी हो रही थीं। कहीं-कहीं नदीकी सतहपर, मलिन स्वर्णाभामें वैभव बुझ रहा था। मानो पार्थिव ऐश्वर्य अपने गलित मान और नश्वरताका सकरुण आत्म-निवेदन कर रहा हो। कोई-कोई जल-पंछी विचित्र स्वर करते हुए जलपर छाया डालते निकल जाते। नहीं छोड़ा है कहीं उन्होंने अपना पद-चिह्न।

नदीके पार, संध्याके शात आलोकमें, स्थान-स्थानपर मुनि-जन कायोत्सर्गमे लीन हो गये हैं। फिर एक बार झुककर अजनाने उन्हे प्रणिपात किया और आप भी अपने आसनपर ही सामायिकमें मग्न हो गई।

....आवेदनके वेदनसे सारा प्राण गभीर हो गया। प्रतिक्रमण आरंभ हुआ। आत्मालोचनकी विनम्र वाणी भीतर नीरव गूंज उठी—

"ज्ञानमें और अज्ञानमें होनेवाले मेरे पापोका अत नही है। इसीसे तो भव-सागरमें गोते खा रही हू। कितने ही जन्म यो निर्लक्ष्य भटकते बीत गये हैं। बार-बार मैं प्रमाद और मोहके आचलमें अचेत हो जाती हू—संज्ञा खो बैठती हूं। अपने सुख-दुख, जन्म-मरणकी स्वामिनी मैं आप हूं?—पर मैं कहा हूं, तुम ही तो हो! तुम्हें नही देख पा रही हूं, नही रख पा रही हूं अपने पास। इसीसे तो बार-बार ये सारी भूलें हो जाती हैं।

"....यही बल दो प्रभो, कि अपने दुःखोंसे अधीर होकर उनका दायित्व औरोंपर न डालू। अपना ही कर्म-फल जान अपने ही

एकांतमें धैर्य-पूर्वक उसे सह लूं। और सबके कल्याण और मंगलकी भावना ही निरंतर भा सकूं। वे जो इस दुखके निमित्त बने हैं, चाहे वे सास-माता हों, श्वसुर-पिता हों या और कोई हों, वे भी तो जड़ कर्मके ही वश ऐसा कर रहे हैं। वे उसके वाहक निमित्त मात्र हैं। क्या वे चाहकर ऐसा कर सकते हैं ? और मुझे दुख देकर वे आप भी क्या कम दुखी होंगे ? क्या आप ही कोई अपने जाने, अपनेको दुख देना चाहेगा ? पर वे अज्ञान और लाचारीमें ही यह सब कर रहे हैं। ससार-चक्र चलानेवाली दुर्धर्ष कर्म-शक्ति उनसे ऐसा करा रही है। इसमें उनका कोई दोष नही है। उनके प्रति कोई अभियोग या अनुयोग मनमे न हो, क्रोध-रोष न हो, ग्लानि और घृणा भी न हो। कर सकू तो उन्हें प्रेम ही करू, ऐसा बल दो नाथ !—अंजनीको छोड गये हो तो जहा हो, वहीसे उसकी बात सोलहो आने रख लेना, इतनी ही विनति है। हर्ष-शोक, सुख-दुख, लाभ-अलाभ, मणि-तृण, महल-स्मशान, सबमें सम-भाव धारण कर सकूं। भूत मात्र सब अपने बाधव है—चारों ओर सब अपनेही तो है ! अरे क्या है पराया ? परायापन इसलिये है कि अपनानेकी शक्ति जो अपने हीमे नही है. . . .।"

अजनाने जब आखे खोलीं तो रात पड चुकी थी। अधेरा चारों ओर घना हो गया था। नदीका मंद कल-कल और शून्यमें झिल्लियोकी झनकार ही सुनाई पड़ती थी। पेड अनेक भयानक आकृतियोंमें खड़े भविष्यकी दुर्दृश्य छाया-लिपि लिख रहे थे।

उधर जब वसत महेन्द्रपुरमे पहुंची तो सायाह्न निबिड़ हो रहा था। राज-प्रागणमे पिछले गुप्त रास्तेसे प्रवेश पानेमे उसे बड़ी कठिनाई पड़ी। उसे मालूम हुआ कि महाराज इस समय अपने निज महलके विहार-काननमें वायु-सेवनको निकले हैं। समस्या और भी कठिन हो गई। उसने पाया कि यहां अब वह निरी परदेशिनी ही हो गई है। इधर कुछ ही वर्षोंमें यहां बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। सारा राज-परिकर ही अपरिचित-

सा लगता है। बड़ी युक्तियों और कठिनाइयोंसे उसने अनेक राज-द्वार पार किये। तब मिल गया उसे एक बहुत पुरातन, परिचित और विश्वासु भृत्य। किसी तरह विहार-काननमें पहुंच ही तो गई। मर्मरके पच्ची-कारीवाले हंस-नौकाकार सिंहासनपर महाराज महेंद्र बिराजे हैं। एक ओरकी ऊंची चौकीपर उनके प्रियतम सामंत महोत्साह बैठे हैं। दूसरी ओर एक छोटे सिंहासनपर ज्येष्ठ राज-पुत्र प्रसन्नकीर्ति बैठे हैं। कांपते पैरों साहसपूर्वक वसंत महाराजके समुख जा उपस्थित हुई। देखकर तीनों जन आश्चर्यसे स्तब्ध हो गये। असमय और बिना सूचनाके, महा-राजके सर्वथा निजी इस विहारमें यह स्त्री कैसे प्रवेश पा गई है? बात कुछ असाधारण है।

"आर्य जय-घोषकी पुत्री वसंतमाला देव-चरणोंमें अभिवादन करती है!"

कहती हुई वसंत सिंहासनके पाद-प्रांतमें प्रणत हो गई। नाम सुनकर तीनोंने वसंतको पहचाना। वसंत माथा झुकाये, गलेमें आंचल डाले, नमित दृष्टिसे खड़ी रह गई। महाराजने पूछा—

"कुशल तो है न शुभे! अंजनीका कुशल-संवाद कहो....।"

वसंतने फिर सारा साहस बटोरकर कहा—

"प्रगल्भता क्षमा हो देव, अकेलेमें कुछ निवेदन किया चाहती हूं!"

महाराजका संकेत पाकर कुमार प्रसन्नकीर्ति और सामंत महोत्साह उठकर कुछ दूर निकल गये।—वसंत पास जाकर पाद-पीठके पास घुटनोंके बल बैठ गई। आंचलमें गांठ देते हुए और बार-बार क्षमाका आवेदन करते हुए उसने बात कहना आरंभ किया—

"देव, समझो कि अंजनी ही आंचल पसारकर पिताके संमुख आई है। चाहो तो अपनी पुत्रीको अपने ही पैरों तले कुचल देना।—पर उसे निर्मम दुनियाकी ठोकरोंमें मत फेंक देना—।"

कहकर उसने अधिकसे अधिक सयत और अकपट भावसे अंजनाका आत्म-निवेदन महाराजके संमुख रक्खा। जहांतक उससे बन सका अपने मनकी सारी रुलाईको दबाकर भी उसने अंजनाकी कठोर मर्यादाकी रक्षा की। .

महाराजने सुना तो लगा कि निरभ्र आकाशसे वज्र टूटा हो। संज्ञा-शून्य होकर उन्होंने दोनो हाथोमें मुह डाल दिया। बड़ी देरतक ऐसे ही जड-वत् वे बैठे रह गये। भीतर-भीतर एक दुःसह ज्वाला-मुखी दहक रहा था। वे एकाएक भिंचते स्वरमें फूट पडे—

"हाय आकाश, फट पडो! पृथ्वी, विदीर्ण हो जाओ!—यह सुननेको एक क्षण भी मैं जी नही सकूंगा....नही....'नही....नही देख सकूगा....इन आखोसे .. नही सुन सकूगा इन कानो से...."

कहते-कहते वे सिहर-सिहर आये। दोनो हाथोंसे कभी आखें मीचने लगे तो कभी कान मीचने लगे। कुछ देर रहकर फिर उत्तेजित रुदनके स्वरमे बोले—

"...आह, अंजन, दोनों कुलोको डुबा दिया तूने!....धिक्कार है मेरा वीर्य...धिक्कार है यह मनुष्य-जन्म....मिथ्या है यह विक्रम और प्रताप...धूल है यह वैभव और अभिमान...."

कहकर कपालपर उन्होने हाथ मार लिया। अपने ही आपमें धीरे-धीरे रुदनके स्वरमे गुन-गुनाये—

"सौ पुत्रोंके बीच...एक प्राण-पालिता लाडिली बेटी....! आह..अपने ही वीर्यने भयकर नागिन बन, छातीपर चढ़कर....डस लिया... !"

कहते-कहते दोनो हाथोमे जैसे वे अपने उन्नत वक्षको मसोसने लगे। फिर बोले—

"..किस भवका वैर लिया है तूने? ...बेटी बनकर ऐसा

विश्वास-घात किया ?....इस बुढ़ापेमें मां-बापोंको पत्थरकी नावपर फेंक दिया तूने। डूबकर किस नरकमे स्थान मिलेगा....।"

....और लोक-निंदाकी तप्त शलाकाएं जैसे राजाके समस्त शरीरमें बिंधने लगी।

"दूर हट निर्लज्जे, सामनेसे जा....! तुरंत तुम दोनों जाकर कही डूब मरो !....मेरी पुत्री यदि है तो उसे कहना कि अपना कलंकित मुह दुनियाको न दिखाती फिरे।....पर, आह, नही है वह मेरे उज्ज्वल कुलका वीर्य !....अनार्या है वह....कोई प्रेतिनी कौतुक करनेके लिये मेरे घर जन्मी है।

"....जा निर्लज्जे....परे हट....अनर्थ न हो जाय.... क्षत्रियका शस्त्र स्त्रीघातका अपराधी न बन बैठे. ..नही तो तुम दोनोको....ओफ...."

कहते-कहते राजा सिंहासनकी मसनदपर लुढ़क पडे। वसतने सत्यको प्रकट करनेमें कुछ भी उठा न रक्खा था। उसे लगा कि मनुष्यकी वाणीमें इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता। शायद अजनाकी इच्छासे भी परे वह सभी कुछ कह गई है। उसे स्वयं ही जो भान नही रहा था। पर राजाके पास वह सब सुननेके लिये कान नही थे। वसंत चुपचाप वहांसे उठकर चली गई। रास्तेमें एक बार उसके जीमे आया कि मांका हृदय ही पुत्रीकी इस बेबसीको समझ सकेगा। क्यो न वह राज-माताके पास जाये। पर उसने सोचा कि माका हृदय तो अपराधिनी बेटीके लिये भी पसीजेगा ही, पर उसका क्या बस है ? पुरुष-शासनके पाषाणी-कपाट जो उस हृदयपर लगे हैं—राजाका जो रूप उसने देखा है—उसके आगे मा क्या बोल सकेगी ? साथ ही उसे यह भी लगा कि यह सब करके शायद वह अंजनाके साथ विश्वास-घात भी कर रही है। शायद परोक्षमें उसका अपमान कराती फिर रही है। रथमें जिस अंजनाको बात करते उसने सुना था—उसे ऐसी दयनीय बना देना उसे सह्य नही है।

कुछ ही देरमें सामंत महोत्साह और कुमार प्रसन्नकीर्तिने आकर पाया कि राजा सिंहासनकी पीठिकापर अर्ध-मूर्छित-से पड़े हैं। आंखोसे उनके आंसू बह रहे हैं। पहले तो दोनों जन विस्मयसे स्तब्ध हो रहे। फिर महोत्साह अपने उत्तरीयसे हवाकर राजाको चेतमें लाये। राजाको इन दोनोंसे कोई दुराव नही था। सक्षेपमे उन्होंने वृत्त कहा। साथ ही उसपर अपना कठोर निर्णय सुनाकर वे चुप हो गये।

कुमार प्रसन्नकीर्तिका मन सुनकर हाय-हाय कर उठा। पिताका वज्र-कठोर निर्णय सुनते-सुनते उनके जीमें आया कि वे उनका मुंह बंद कर दें—पर राजाकी वह भीषण मूर्ति देखकर उनकी हिम्मत न हुई। भीतर-भीतर उनका जी बहुत टूटा कि वे बहनका पक्ष-प्रतिपादन करे—पर क्या है आधार? और वस्तु-स्थिति जैसी थी उसमें कौनसी विषमता संभव नही थी? पर महोत्साहसे न रहा गया। वे साहस बटोरकर बोले—

"राजन्, आदित्यपुरकी रानी केतुमतीकी दुष्टता तो जगत-प्रसिद्ध है। वह अधर्मिणी है—और ,नास्तिक-सूत्रपर चलनेवाली वह लोकमें विख्यात है। स्वभावकी वह बहुत ही कर्कशा है। पर अजनाके त्याग और तपस्याके जीवनकी कथा तो लोकमे प्रसिद्ध है। उसे लोग कहते हैं सती! देवी वसतमालासे बातका ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। नही तो उतावलीमे अनर्थ हो जायगा। आपसे धीर-धुरधरवीर का ऐसे मामलोंमे अधीर होना उचित नही—। देव, अन्याय न हो—"

"नहीं महोत्साह, सब खत्म हो चुका, सुननेको अब कुछ नहीं रहा है। वसंतमालाने कहनेमें कुछ भी बाकी नही रक्खा है। बालपनसे वे दोनो अभिन्न रही हैं, फिर वसंत सत्यको कैसे प्रकट करेगी? कितनी बार अंजनाको हम सब लिवा लाने गये—पर अकारण ही वह मुकर गई—। अवश्य ही कोई खोट उसके मनमें थी। और फिर सतीका सत् छुपा नहीं रहता है। सती होती तो सास-ससुरको ही न जीत लेती!

वे ही क्यों उसे निकालते ?—पाप चाहे संतानका ही रूप लेकर क्यों न आये, वह त्याज्य ही है, महोत्साह ! फिर लोक-मर्यादाको यदि राजा ही तोड़ेगा, तो कौन उसकी रक्षा करेगा ? लोकसे बड़ा कौन है ? रक्षकके चोलेमें यदि भक्षक बन जाऊंगा, तो जन्म-जन्म नरक पाऊंगा। जाओ मेरे अभागे बेटे, उस पापिनसे जाकर कहो कि वह जीवित रहकर दोनों कुलोको लोकमें लजाती न फिरे—!"

× × × कुछ दूरके रास्तोंमें घूम-फिरकर फिर वसत कही भाड़ोंकी आड़में आ खड़ी हुई थी। उसने यह सारा वार्तालाप सुन लिया। उसे लगा कि पैरों नीचेकी पृथ्वी धँसी जा रही है। सामनेका यह सारा अवकाश ही लीलनेको चला आ रहा है।—झूठा है संसार, झूठी है उसकी ममता-माया और प्रीति। झूठे है मा-बाप, पुत्र और पति, कुटुंब और आत्मीय। सब स्वार्थके सगे और साथी हैं। दुखके समय नही है कोई रखनेवाला। आप ही अपनेको नही रख पाता है यह जीव, तो फिर दूसरा कौन इसे रख सकेगा ? अपने घर जानेकी इच्छा भी वसंतकी नही हुई। आप वे अपनी रक्षा करेंगे। और कौन जानेगा कि अभागिनी मैं कहां गई हूं ?

चितातुर और क्षुब्ध हृदयसे भागती हुई वसंत सीधी भिक्षुणी-आवासको लौट आई। पाया कि अजना डाभकी शय्यापर चुपचाप सोई पड़ी है। शायद उसे नीद लग गई है। चुप-चाप पास बैठकर, किसी तरह दो पहर रात बिता देनेका संकल्प वह करने लगी। कि इतने हीमें जैसे कोई तीव्र पीड़ा हो रही है, ऐसी कसमसाहटसे अंजना पसली दबाकर तड़प उठी। हलकी-सी आह उसके मुहसे निकल गई।

"अंजन !—नींद आ रही है ?"

पीड़ित स्वरको दबाती हुई अंजना बोली—

"ओह जीजी, कब आ गईं—? बोली क्यों नहीं—मैं तो जाग ही रही थी।"

"तकलीफ़ हो रही है, अंजन ?"

जवाब नहीं आया। फिर धीरेसे केवल इतना ही कहा—

"कुछ नहीं जीजी, · · · 'यों ही · · · ·"

कहते-कहते वह आवाज फिर आहत हो गई। उसकी बढ़ती हुई छट-पटाहट वसतसे छुप न सकी।

"अजनी, मुझसे छिपाकर किससे कहेगी ? क्या समझ नहीं रही हूं—उस दुष्टाने गर्भके अभ्रपर ही आघात जो किया था।"

"जीजी, न याद करो, बिसार दो · · · 'बिसार दो—जीजी, तुम्हें मेरी सौगंध है"

कहते-कहते अपने हाथसे अंजनाने वसतका मुह बद कर देना चाहा। पीड़ा शांत होनेपर, कुछ देर बाद अजनाने पूछा—

"अपनी अंजनीका भाग्य परख आई, जीजी ?—चुप क्यों हो —बोल न ?"

मर्म चीर देनेवाली उस कंठकी ज्वलत वाणीमें हंसीकी रणकार थी।

वसत अपनी रुलाई न रोक सकी। फटती छातीसे सिसकियां भरती हुई वह आसू पोंछने लगी। टूटते हुए स्वरमें वह बोली—

" · · · 'जा आई बहन,—नही मानी तेरी बात !—मेरा भी तो पूर्व भवका बैर तुझपर था, सो वसूल करने गई थी। तेरा अपमान कराकर ही तुष्ट हो सकी हूं मै—! मनुष्यके चोलेमे धरतीपर दानव ही बस रहे हैं, बहन,—मनुष्यपर रहा-सहा जो विश्वास था वह खतम कर आई।— पिता नहीं है वे, राक्षस हैं. . . . असुर · · · 'नराधम ! क्षात्र-धर्मका पाखंड करके असत्यसे लडनेमे वे मुह छुपाते हैं। वे करेंगे आसुरी शक्तियोंसे मानवका त्राण · · · ·?"

उत्तेजित होकर वसंत बोलती ही गई। पहले तो अंजना चुप-चाप सब सुनती रही, फिर गंभीर अनुनयके स्वरमें बोली—

"बस · · · 'बस · · · 'बस करो जीजी, मिथ्यासे जूझकर अपनी

आत्म-हानि न करो। अज्ञानियोसे तो सहानुभूति ही हो सकती है—भवकी उसी रात्रिमे हम सभी तो भटक रहे हैं।"

पर वसंतसे आवेशमें रहा न गया। सब सुनाकर ही तो उसे चैन था। राजाका एक-एक शब्द उसने दुहरा दिया।

सुनते-सुनते अजना जाने कब मृतवत् हो रही। वसंतने देखा, उसे मूर्छा आ गई है। अपने क्रोधावेश और अपनी भूलपर वह अनुतापसे विकल हो गई। आह, वह पहलेही पीड़ित थी, और ऊपरसे उसने आकर ये अंगार चढ़ाये दु:खिनीके मर्मपर—? पानी छिडककर वह अंजना-को होशमें लानेका प्रयत्न करने लगी। बड़ी देर बाद अंजनाको चेत आया——

वसतकी गोदमें मुंह ढककर केवल इतना ही निकला उसके मुहसे, अस्फुट पर, ज्वलंत—

"····नही जीजी, ···नही मर सकूगी ····पिताकी आज्ञा लाघनेको विवश हू ··· जीवन और मरणके स्वामी वे आप है ···· वे ही जानें! मैं कुछ नही जानती।·· और यह जो आ रहा है ····?"

कहते-कहते फिर वह एक मार्मिक पीड़ासे कसमसा उठी। भीतर अनिवार जीवनका महास्रोत जैसे सारी बाधाओकी पर्वत-काराको तोड़नेके लिये छट-पटा रहा था ····

[२५]

अंजनाके सो जानेपर बड़ी राततक वसंतकी आंखोंमें नीद नहीं थी। अनेक चिंताओ और विकल्पोंसे मन उसका अशांत था। क्षुब्ध और बेचैन वह करवटें बदल रही थी। जो होना था वह तो सब हो लिया पर अब कहां जाना होगा, क्या करना होगा? क्या है अब भाग्यका

विधान ? गर्भके भारसे पीडित, घायल, चारों ओरसे त्यक्ता और अप-मानिता सोई है यह भोली लड़की। दुखको इसने संमुख होकर अंगीकार किया है। उसकी क्या सामर्थ्य है जो इसपर दया करे, इसके भाग्यपर आंसू बहाये। फिर भी चिंताओंका पार नहीं है, राह असूझ है। अशन भी नहीं है, वसन भी नही है। दोनोके शरीरपर केवल एक-एक दुकूल पड़ा है। रत्नोंके महलमें रहनेवाली युवराज्ञीके शरीरपर रत्न तो दूर, धातुका एक तार भी नहीं है। पानी पीनेको पासमें पात्रतक नहीं है। कल सवेरेसे दोनोके पेटमें अन्नका एक दाना भी नही पड़ा है। और तिसपर यह गर्भिणी है।—पर रुकना नहीं है, चले ही जाना है अदृष्टके मार्गपर। अदय, स्वार्थी मनुष्योंकी जगतीसे दूर, बहुत दूर।

सवेरे ब्राह्म-मुहूर्तमें दोनो बहने उठी। नदी-तीरपर जाकर शुचि-स्नान किया। पास ही पेड़ों तले, नित्य-नियमानुसार सामायिकमें प्रवृत्त हुईं।—अंजनाने देखा कि पथकी रेखा अंतरमें प्रकाशित हो उठी है। दुविधाका कोई कारण नही है।

उठनेपर बोली वसंत—

"कहां जाना होगा अब ?"

तपाकसे उत्तर आया—

"बनकी राहपर, जहा सबका अपना राज्य है। जीवन वहां नग्न और निर्बाध है। सभी कुछ सहज प्रवाही है। प्रभुत्वका मद वहां नही है। छिपाव-दुराव वहा नही है, इसीसे पाप भी नही है। माना कि हिंसा और संघर्ष जीवोंमें वहा भी है। पर वह पाप अकपट और खुला है। आदर्शोंके आवरणोमें ढकी रोज-रोजकी पराधीन मृत्युसे, खुलकर सामने आनेवाली वह अकपट मौत सुदर है! सब कुछ सरल, खुला और अपना है जहां—वहीं होगा अपना वास, बहन—!"

"पर नारीका चोला पाकर हम इतनी स्वतंत्र और निरापद कहां है, बहन ?"

"भूलती हो जीजी, कोमल हैं इसीसे इतनी निर्बल हम नहीं हैं। सबल पुरुषके गर्विष्ठ विधानको हम सदासे झेलती आई हैं—अपने धर्मका पालन करनेके लिये। पर दुर्बल सस्कार बनकर यदि वही कोमलता हमारे आत्म-धर्मका घात कर रही है, तो वह भी त्याज्य ही है। माना कि कोमलता स्त्रीका अस्तित्व-गत धर्म भी है। पर अंततः आत्माके मार्गमें स्त्रीत्वसे भी तो परे जाना हैं। योनि तो भेदना ही है। और ठीक वैसे ही क्या पुरुषको भी अपनी परुषतासे उपरत नहीं होना है ? दोनों ही को इष्ट है वही आत्माकी अव्याबाध कोमलता ! और देह भी क्या अंतिम सत्य है ? उससे भी तो एक दिन उत्तीर्ण होना ही है। फिर उसकी बाधा कैसी ? कोमलता पुरुषको जितनी चाहिये हमसे ले, पर वही हमारी बेडी नही बन सकती। पुरुषका दिया संस्कार तो क्या, मुक्तिके मार्गमें, स्वयं पुरुष भी यदि हमारी बाधा बनकर आये तो वह त्याज्य ही है—"

"पर अपनी रक्षा करनेमे हम असमर्थ जो हैं, अंजन !"

"यह वही सस्कारकी दुर्बलता तो है, जीजी। यह निसर्ग सत्य नहीं हैं। इसी विवशताको तो जीतना हैं। रक्षा कोई किसीकी नहीं कर सकता। हम आप अपने रक्षक हैं। अपने ही सत्यका बल अपना रक्षा-कवच है।—रक्षकोंकी छत्र-छायामें तो अबतक थी ही। बड़ा भरोसा था उनका। पर वहासे भी तो ठेलकर निकाल दी गई। और कहो कि शीलकी रक्षा, तो शील तो आत्माका धन है; मृत शरीरका कोई जो चाहे करे ! इस आत्म-धनकी रक्षाके लिये जो सचमुच चैतन्य है, देहके विसर्जन-में उसे सकोच या भय क्यों होगा ?—तब शील बचाना है किसके लिये ? अपने ही लिये तो। पुरुषकी सती-पतिव्रता सिद्ध होनेके लिये नहीं ! उसके लिये बचाकर रक्खा, तब भी क्या सदा उसने हमपर विश्वास किया है ? उस मिथ्या मरीचिकाके पीछे दौड़नेसे अब लाभ नही है, बहन।—वह सब छूट गया है पीछे—"

"पर हम दोनो अकेली ही तो नही है, अजनी, गर्भ मे जो जीव आया है, उसकी रक्षाका उपाय भी तो सोचना ही होगा "

अंजनाके उस तेज-तप्त चेहरेमें हसीकी एक कोमल रेखा दौड गई। पर उसी प्रखरतासे उसने उत्तर दिया—

"अपना विधान वह अपने साथ लाया है, बहन ! वह आप अपनी रक्षा करनेमे समर्थ है।—नही है समर्थ तो उसका नष्ट हो जाना ही इष्ट है।—किसीका जिलाया वह नही जियेगा और किसीका मारा वह नही मरेगा। मेरे दुर्भाग्योसे वह परे है। जीवनकी उस महासत्ताका अनादर मुझसे नही होगा, जीजी !—चलो देर करना इष्ट नहीं है। दिन उगनेसे पहले इस नगरकी सीमाको छोड देना है।"

वसंतने सोच लिया कि इस लडकीसे निस्तार नही है। उसने निश्चय किया कि राहमे वह अजनाको राजी कर लेगी, और यदि संभव हुआ तो वे किसी दूर विदेशके ग्राममे जा बसेंगी। मनुष्यके द्वारपर अब वे भीख नहीं मागेंगी। अपने ही श्रमसे कुछ उपार्जन कर लेंगी। सुख-पूर्वक प्रसव हो जानेपर, आगेकी बात आगे देखी जायगी। और सच ही तो कहती है अंजन, जो आया है वह भी अपना भाग्य लेकर आया है, उसके पुण्यपर हम सदेह क्यो करे ?

गर्भके भारसे देह पीड़ित है। राज-भोगोपर पला शरीर निराहार और निरवलंब है। राह अनिश्चित है और भविष्य धुधला है। अंजनाको चलनेमें कष्ट हो रहा है, पर पैर एक निश्चयके साथ आगे बढ़े जा रहे है। वसंतका हाथ उसके कंधेपर है। दोनों मनोंके तार जैसे एक ही सुरमें बंधे है। एक ही संगीतकी लयपर सधी वे चली जा रही है। बोलका अंतर भी इस क्षण उनके बीच नही है। रह-रहकर दोनोंकी दृष्टि सामनेके शुक्र-तारेमें अटक जाती है।

धीरे-धीरे दिशाएं उजाली होने लगी, आस-पासका समस्त लोक—चराचर प्रकाशित हो गया। सुदूर पूर्व छोरपर एक ताड़की वनालीके

ऊपर ऊषाकी गुलाबी आभा फूट उठी। वसंतने देखा कि अंजनाके क्लांत मुखकी श्रीमें एक अद्भुत नवीनताका निखार है। उस चेहरेका भाव निर्विकार और अगम्य है। विरक्ति नहीं है, निर्ममता नहीं है। पर ममता और कोमलता भी तो नहीं है। विषाद मानो स्वयं ही मुस्करा उठा है। फिर भी उन ओठोंमें कहां है राग-अनुरागकी रेखा ?

विशाल स्वर्ण किरीट-सा सूर्य एक पुरातन और घने जटाजालवाले, वृहदाकार वट-वृक्षके ऊपरसे उग रहा था। नीचे उसके हरे-भरे झाड़ोंके बीचसे, गावके उजले, पुते हुए, स्वच्छ घर चमक रहे थे।

पक्की सड़क जाने कहा छूट गई थी। जाने कब वे—चलती-चलती कच्चे रास्तोंपर आ निकली थी। आस-पास दूर-दूरतक फैले हरियाले खेत सवेरेकी ताजी और शीतल वायुमें लहक रहे थे। उनकी नोकोंके बीच यह अपार आकाश मानो छोटा-सा कुतूहली बालक बनकर आंख-मिचौनी खेल रहा है। हरियालीकी इस चचल आभामें उसकी अचल नीलिमा जैसे लहरा रही है। दूर-दूर छिटकी स्निग्ध-छाय अमराइयो और विपुल वृक्ष-यूथोंमें विश्रामका आमंत्रण है। खेतोंके बीचकी विशाल वापिकाओंपर बैल चड़स खींच रहे हैं। बावड़ीकी मेहराबसे कोई-कोई रमणियां और ग्राम-कन्यायें पानीकी गागर भरकर निकलती हैं, और खेतके किनारे-किनारे ग्रामकी ओर बढ़ रही हैं।

धूप काफी चढ़ आई है। चलते-चलते वसतके पैर लड़-खड़ाने लगे। सांस उसकी भर आई है। पर रुक जानेकी और विरामकी बात उसके ओठोंपर नहीं आ पाती है। उसने अंजनाकी फूलती हुई सांसको अनुभव किया। धूपसे चेहरा उसका तम-तमा आया है—और सारा शरीर पसीनेसे लथ-पथ हो गया है। अंजना बेसुध-सी चली ही चल रही है। चल-चलते एकाएक उसने अपना मुंह वसंतके कंधेपर डाल दिया। आंखें उसकी मिच गईं। सांस उसकी और भी ज़ोर-ज़ोरसे उत्तप्त होकर चलने लगी। पैरोंमें आंटियां पड़ने लगीं। वसंतने देखा कि उसके सारे

अंग ढीले और निश्चेष्ट पड गये हैं—। उसका समूचा भार उसीके ऊपर आ पडा है। वह सावधान हो गई। एक खेतके किनारेकी घासमें ले जाकर उसने अजनाको अपनी गोदपर लिटा लिया और आंचलसे हवा करने लगी। श्वासके प्रबल वेगसे अजनाका वह विपुल वक्ष मानो टूटा पड़ रहा है। और भीतर की किसी अनिवार यत्रणाके त्राससे सारा चेहरा देखते-देखते विवर्ण हो उठा। बढ़ती हुई बेचैनीको दबानेके लिये, अपने ही तनते हुए अगोंको अपने भीतर सिकोडती हुई वह गांठ हुई जा रही है। वसतके होश-हवास गुम हो गये। जबान तालूसे चिपक गई। चारो ओर जन हैं, जीवन है, फिर क्यो है वे इतनी—जनहीन और असहाय? मनुष्य मात्रसे ऐसी विरक्ति क्यो? क्या जीवनसे रूठकर जिया जा सकेगा? वसंतके मनमें ऐसे ही प्रश्न चिकौटी काट रहे थे।—पर उसे वहा अकेली छोड़कर वह कैसे जाये और कहां जाये? इस अपरिचयके देशमें किसे पुकारे? अजनाको एक-दो बार हिला-डुलाकर पुकारा, पर कोई उत्तर उसने नही दिया। केवल एक बार समाधानका हाथ उठाकर फिर धरतीपर डाल दिया।

तब तो वसतका धैर्य टूट गया। अंजनाके सकेत को वह ठीक-ठीक समझी नही। अशुभकी आशंकासे वह थर्रा उठी। रह-रहकर कलका वह महादेवीका पदाघात उसकी छातीमे भाले-सा कसक उठता है। उसने सोचा कि कुछ उपाय तुरत ही करना चाहिये, नही तो देर हो जायेगी। और कुछ नही सूझा, तो अंजनाको गोदसे सरकाकर धरतीपर लिटा दिया, और आप उठकर बेतहाशा दौड़ती हुई खेतके उस मोडतक चली गई। वहासे जो पग-डंडी गई है—उसीपर एक बेलोसे छाया झोपडा उसे दीखा। पास ही एक खुली बावडीमे पानी चमक रहा है। और उसीसे लगा एक घनी छायावाला फलोका बाग है। वैसी ही झपटती हुई वसंत वापस आई। अंजना चुप होकर औंधी पड़ी थी। वसंतने बहुत सावधानीसे धीरेसे उठाकर उसे कधेपर लिया, और बडी कठिनाईसे

किसी तरह उस बागतक ले आई। किनारे ही बावड़ीकी सीढ़ियों तक छाता हुआ अगूरों का एक लता-मण्डप था। उसी की छाया में लाकर उसने अजनाको लिटा दिया। श्वेत पत्थरकी पक्की बावड़ी, विशद, स्वच्छ और चारों तरफसे खुली हैं। किनारेसे कुछ ही नीचेतक निर्मल जल उसमे लहरा रहा हैं। हाथ डुबाकर ही पानी लिया जा सकता हैं। चारो ओर स्निग्ध शिलाओके पक्के किनारे बधे है—और बाग़की तरफ़ सीढ़िया बनी हैं। एक किनारे केलोका वन-सा झुक आया है और दूसरी ओर इक्षुका खेत आ लगा हैं। वसतने कुछ केलेके पत्ते और अगूरोकी लताए बिछाकर उनपर हलका-सा पानी छिडक दिया, और अंजनाको उसपर लिटाकर एक केलेके पत्तेसे हवा करने लगी।

एक मनसे वसत इष्ट-देवका स्मरण कर रही है। उसके देखते-देखते अजनाके मुखपर उद्विग्नताके बजाय एक गहरी शांति फैल गई। थोडी देर वह चुपचाप लेटी रही, जैसे नीद आ गई हैं। एकाएक उसने आखे खोली। देखा कि ऊपर हरियालीका वितान है। चारो ओर एक निगाह उसने देख लिया। फल-भारसे नम्र बागकी घनी और शीतल छायामें दूर-दूरतक वृक्षोके तनोकी सरणिया हैं। पत्तोमे कही-कही हरियाला प्रकाश छन रहा है। सधोमेसे आई हुई धूपके कोमल धब्बे कही-कहीं बिखरे हैं। जैसे इस कोमल सोनहली लिपिमे कोई आशाका संदेश लिख रहा है? बाहरकी तरफ, सामने दीखा—शाखाओ और सूखे पत्तोसे बना एक सुदर झोंपडा है। उसपर पीले और जामुनी फूलोवाली शाक-सब्जियोंकी बेले छाई हैं। आस-पास सब्जियोंकी क्यारियाँ हैं। उनके किनारे पपीतेके झाडोकी क़तारें खडी हैं। झोपड़ेकी एक बग़लमे चारो ओर खुली, छाजनके तले एक गौशाला हैं। उसमे दो-एक विशाल डील-डौलकी पुष्ट सफेद गाये बैठी जुगाली कर रही हैं। पास ही खड़ा एक नवजात बछड़ा उनीदी आंखोसे एकटक अपनी जनेताकी ओर देख रहा है। झोपडेका आंगन निर्जन हैं, द्वार बद है। जान पड़ता है, वहां

कोई नहीं है। गौशालेकी छाजन और झोंपड़ेके बीचकी आडमें एक ग्रामीण रथकी पीठ दीख रही है। ऊपर उसके पीतलका गुंबद है—और पीठिकामें तने हुए रंग-बिरंगे चित्रोंवाले, ऋतु-जर्जर पालकी झलक दीख रही है। उसके पास ही छायाबानवाली एक गाडी खुली पडी है।

अंजनाने पाया कि यह मनुष्यका घर है। आस-पास यहां सुरक्षा है, गार्हस्थ्य है। सुख-सुविधा, और विश्रामका प्रबंध है। यहां अन्न है, फल-फूल है, दूध है—और स्नेहसे स्निग्ध जीवन-रस चारों ओर बिखरा है। पर अतिरिक्त और अनावश्यक यहा कुछ नही है। अभिमान और दिखावेका आडबर नही है। प्रकृतिके हृदयसे सटा हुआ ही जीवनका एक सहज, सुषम और सुखमय विरामस्थल है। पर जिस घर वह अतिथि बनकर अनायास चली आई है, उसका द्वार बद है। अभ्यर्थना करनेके लिये कोई गृह-स्वामी वहां नही है। वह समझ गई थी कि आपत्तिकी घडीमें निरुपाय वसत उसे यहा ले आई है।—फिर भी जैसे वह अपनेको यहां ठहरनेकी अधिकारी नही पाती। सप्रश्न आंखोंसे उसने सामने बैठी वसतको देखा। वसतकी उस मुर्झाई मुख-मुद्रामें अभी भी गहरी परेशानी और चिंतातुरता साफ झलक रही है। फिर भी अपने दुखभरे चेहरेपर सायास एक मुस्कराहट लाकर वसंतने पूछा—

"अब जी कैसा है, अंजन?"

"अच्छी हूं बहन, अपना सारा दुख तो तुम्हे सौप दिया है, अब मुझे क्या होनेको है....?"

कहते-कहते अंजना मुस्करा आई।

"अभी भी मुझे इतनी पराई समझती है, अजनी, तो तू जान।—पर तुझसे विलग होकर अब मेरी गति नहीं है। नही जानती हूं कि कैसे वह तुझे समझा सकती हू। मेरी उतनी बुद्धि नही है।"

कहकर एक गहरी नि.श्वास छोडती हुई वसंत दूसरी ओर देखने लगी। अंजना बोली कुछ नहीं—चुपचाप एकटक उस वसंतको करुण

आंखोंसे देखती रही। वसंतसे रहा न गया। पास सरककर उसने अंजनाका माथा अपनी गोदपर ले लिया और बोली—

"अंजनी, इतनी निर्मम न बन। कुछ तो दया कर अपनी इस अभागिनी जीजीपर!—मेरे जीकी शपथ है, मुझसे सच-सच बता दे—क्या कल उस दुष्टा के पदाघातसे तुझे चोट लगी है? मुझीसे छिपायेगी तो मै बहुत असहाय हो जाऊंगी। तब तो मेरे दुखका अंत ही नहीं है। मै अकेली किसे जाकर अपनी पुकार सुनाऊंगी?"

"व्याकुल न होओ जीजी, पत्थर और मिट्टीकी हो गई हूं,.... चोट जैसे अब लगती ही नहीं है—"

"पर अभी जो चेहरा मैंने देखा है, उसका त्रास तो मुझसे छुपा नही है—"

अजनाका मुख फिर म्लान हो आया। वह एकटक बाहरके आकाशको देखती रह गई। कुछ देर रहकर एक मर्माहत स्वरमें वह बोली—

"हत्यारी हो उठी हू, जीजी!....युग-युगकी वेदनासे संतप्त वे मेरे पास आये थे। सुख और शांतिकी उन्हें खोज थी। युद्धसे उन्हें ग्लानि हो गई थी। चिर दिनकी वचनासे वे संत्रस्त थे। कौन जाने सुख दे सकी या नही, पर मैंने उन्हे धक्का दे दिया। जाने किस अगम्य भयानकताके मुह मे मैंने उन्हें ढकेल दिया।—उसी क्षण समझ गई थी कि मृत्युसे भी जूझनेमे अब ये हिचकेंगे नही। केवल मेरे ही कहनेसे, मेरे ही लिये गये हैं वे मृत्युसे लड़ने—! अपने लिये अब किसी भी विजयकी कामना उनके मनमें शेष नहीं रही थी। अपनी ही हारको उन्होने सिर झुकाकर, जयमालाकी तरह स्वीकार कर लिया। और उस दिन उन्होने अपनेको धन्य माना। अपनी सारी महत्ताओंको चूर करके, वे केवल अपनी आत्म-वेदना लेकर मेरे पास आये थे।

"....पर उनकी हार मुझे सहन न हो सकी! तब मुझमें गौरवका लोभ जागा। उनके पुरुषत्वके अभिमान और विजयके अनुरागसे मैं भर

उठी। मै गर्विणी हो उठी। एक तरहसे मैंने ही उन्हें यह कहा कि—'विजेता होकर आओ—!' वे हंसते-हसते उस पथपर चले गये। विजयकी मांग भी उनसे मेरी छोटी नहीं थी। मन ही मन शायद यही तो कह रही थी—'अजात-शत्रु जेता बनकर लौटो!' उस क्षण तो मै अपनी ही आत्म-गरिमाके सुखमे बेसुध थी—

"पर ओह जीजी, आज कल्पना कर सकी हू, चारो ओर तने हुए असंख्य शत्रुओके तीरोके बीच मैंने उन्हे ढकेल दिया है—। पर लौटकर न देखनेवाले वे, उनके बीच खेलकर भी, मेरी कामनाकी विजय पाये बिना नही लौटेंगे। और उनकी बात सोचे बिना ही, जाने किस सत्य के आग्रह से, मै अपने ही मार्ग पर चल पड़ी हूँ?—मेरी साध की पूर्ति लेकर, जब वे किसी दिन आशाभरे लौटगे ····और मुझे न पायेगे....तब...? तब उनपर क्या बीतेगी, जीजी..?"

कहती-कहती वह बसतकी गोदमे विलख पडी। बसत नि.शब्द उसे अपने पेट और वक्षसे दबाये ले रही थी। इस ऐसी विषम वेदनाके लिये, वह क्या कहकर सात्वना दे, जिसे वह स्वय नही समझ पा रही है। वह तो केवल उस दुखकी निष्काम सहभोगिनी है। फिर अजना धीरेसे रुलाईभरे कंठसे ही बोली—

"पर हाय, उनके वीरत्व और पुरुषत्वकी ही अवमानना कर रही हूँ क्यो उठी है मनमे यह शका—कि अपनी ही राहपर स्वच्छद चल पडी हूँ? कहा है उनसे अलग मेरा रास्ता? उन्हीकी खीचो रेखापर तो चली जा रही हूँ, बहन! अपने ही ममत्वसे घिर जाती हूँ, इसीसे रह-रहकर मन भ्रममें पड़ जाता है। तब उनके प्यारपर अनजाने ही अविश्वास कर बैठती हूँ। क्षुद्रता और अज्ञान तो मेरा ही है न। इसीसे तो पाकर भी उन्हें नही रख सकी।—पर मर भी जाऊँगी, तो जिस राह यह मिट्टी पडेगी, उसीसे होकर वे आयेंगे, इसमें रंच भी सदेह नहीं है....!"

कहते-कहते अंजनाका वह आंसुओंसे धुला हुआ चेहरा एक अमंद दीप्ति और जागृतिसे भर उठा। वह बैठ गई और अपने दोनों हाथोंमें वसंतके दुखी चेहरेको दबाकर बोली—

"दुखी न होओ जोजो, मेरी छोटी-छोटी मूर्खताओंपर तुम्ही यों घबड़ा जाओगी, तो कैसे—बनेगा ?"

"यह तो तेरी पल-पलकी वेदना है, अजन। इसे समझ सकूं, ऐसी शक्ति मुझमे कहा है ? पर उस हत्यारीने जो मर्मांतिक आघात किया है, उसीकी पीडासे अभी तुझे मूर्छा आ गई थी—यह बात मुझसे क्योंकर छिप सकेगी ?"

"—वह तो ठीक-ठीक मैं भी नही समझ पा रही हूँ, जीजी।—क्या तुम उस विगतको भूल नही सकती....? ससारके पास आघातके अतिरिक्त और देनेको है ही क्या ? और उसके प्रति कृतज्ञ होनेके सिवा हम और कर ही क्या सकते है ? चोटे आती है कि हम चिन्मय है—गतिमय है। अमरत्वका परिचय उसीमे छुपा है। नही तो जीवनकी धारा ही जडित हो जायगी।—मनसे उस वृथा शका और संतापको दूर कर दो, जीजी।"

"पर गर्भका जीव तेरा वैरी तो नही है, अजन। अपने ऊपर चाहे तुझे करुणा न हो, पर क्या उसके प्रति भी ऐसी निर्दय हो जायगी ?"

"उनके दानपर दया करनेवाली मै होती कौन हूं, बहन ? और उसे इतना बलहीन माननेका भी मुझे क्या अधिकार है ?—प्रहारपर चलकर यदि उसे आना भाया है, तो उसे अमरत्व ही क्यो न मानूं—मृतत्वकी बात क्यों सोचू ? मेरी ही छातीमे लात मारता वह आ रहा है, उसकी रक्षा क्या मेरे बसकी है....?"

तभी सामने उन्हें दीखा कि झोपड़ेका दर्वाजा खुला है। एक सब्जीकी क्यारीकी आड़में दो कृषक-कन्यायें दुबकी बैठी है। हिरनी-सी आयत

आंखोसे वे टुकुर-टुकुर उनकी ओर देख रही हैं। इतने हीमें बागकी तरफ़से, दूधसे सफ़ेद बाल और घनी डाढ़ीवाला, एक आरक्त मुख, विशालकाय वृद्ध आता दीख पड़ा। स्पष्ट ही वह इस भूमिका स्वामी है। लटक आये खुले शरीरमें, अब भी स्वास्थ्यकी ताम्रवर्ण लालिमा दम-दम कर रही है। पास आकर उसने हाथकी डलिया, कदली-पत्र और दो बड़े-बड़े दौने सामने रख दिये। दोनोंमें द्राक्षोंके गुच्छे हैं, और डलियामें ताज़ा तोड़े हुए दो-तीन तरहके दूसरे फल हैं। वृद्धने अजना और वसतसे देश-कुल-जातिका कोई परिचय नही पूछा। केवल अपने अतिथियोको उसने दोनो हाथ जोड़, बहुत ही विनीत और गद्गद् होकर प्रणाम किया। स्नेहकी मौन और स्निग्ध आखोंसे ही, उसने अपनी भेंट की स्वीकृति पाकर कृतार्थ होनेकी याचना की।

दोनों बहनोने सिर नवाकर वृद्धका अभिवादन किया। आनद और विस्मयसे पुलकित होकर अजना बोली—

"बाबा, चोरकी तरह तुम्हारे घरमें हम दोनों घुस बैठी है। हमारी उद्दंडताको क्षमा कर देना।"

वृद्ध फिर हाथ जोड़कर नम्र हो आया। वह बोला—

"बडे भाग्य हैं देवी हमारे! सौभाग्यका सूरज ऊगा है आज, जो सवेरे ही आगनमें आकर अतिथि देवताकी तरह बिराजे हैं। यह भूमि धन्य हुई है तुम्हें पाकर। दीन कृषकका यह तुच्छ फलाहार स्वीकार कर, उसे कृतार्थ करो, भद्रे!"

अजनाके मनमें कोई दुविधा नही थी। उसने वसतकी ओर देखा। वसत सप्रश्न आखोंसे अंजनाकी ओर देख रही थी। स्पष्ट ही उस दृष्टिमें हिचक थी।

"सकोचका कोई कारण नही है, जीजी। इन भूमि-पुत्रोंके दानको लेनेसे इनकार कर सकें, इतने बडे हम नहीं हैं। इससे मुह मोड़कर जीनेका अभिमान मिथ्या है। धरित्री-माताने हमें जन्म दिया है, तो हमें जीवन-

दान देनेवाले जनक और पोषक हैं ये कृषक। ले लो जीजी, दुविधा न करो—"

फिर कृषककी ओर देखकर बोली—

"बिना हमारी पात्रता जाने, हमें भिक्षा ले सकनेकी पात्री तुमने बना दिया है, बाबा—। जीवन कृतकार्य हुआ है तुम्हारे दानसे—।"

"इतना बड़ा भार हम दीनोंपर न डालो आर्ये, हम तो तुम्हारे सेवक मात्र हैं—।"

कहकर प्रसन्न होता हुआ वृद्ध, अतिथि-चर्याके दूसरे प्रबंधों के लिये व्यस्त-सा होकर, झोपड़ेकी ओर चल दिया। झोपड़ेके दूसरी ओरके छायाबानमें, रस निकालनेकी चरखियोंको जोर-जोरसे घुमाकर, वे दोनों कन्यायें द्राक्ष और इक्षुका रस निकाल रही थी।

क्षोभ और रोषके कारण जो भी हिचक और विरक्ति वसतके मनमें ज़रूर थी। पर उसकी अंतरतमकी सबसे बड़ी चिंता इस क्षण यही थी, कि वह किसी तरह अजनाको कुछ खिला-पिला सके। उसने तुरंत केलेके पत्ते बिछाकर, कुछ फल और द्राक्ष-गुच्छ उसपर रख लिये और दोनों बहनें खाने लगी। खाते-खाते बात चल पड़ी तो अजनाने कहा—

"मनुष्यपर अश्रद्धा किये नही बनेगा, जीजी। मनुष्य मात्रसे रुष्ट होकर, विमुख होकर, हम इस राह नही आई है। आई हैं इसलिये कि अपने बाधे विषम कर्मोंके फल भुगतनेमें हम अकेली ही रह सकें। अपने उदयागतसे औरोंके जीवनोंमें व्याघात न डालें। मिथ्याके जिस विरूप विधानने मनुष्यके जीवनको आत्म-पीड़नके दुश्चक्रमे डाल रक्खा है, हो सके तो उससे अलग खड़ी होकर उसे प्रतिषेध दे। और यों किसी दिन उस दुश्चक्रको उलट दें।"

थोड़ी देर चुप रहकर फिर अजना बोली—

"पर कर्म-विधानकी इस कुरूपतामें भी क्या आत्माका धर्म सर्वथा लोप हो गया है? नही - नाना संघर्षों और आघातोंके बीच रह-रहकर

वह ज्योति प्रकट होती है। इसीसे तो मुक्ति-मार्गकी रेख प्रक्षुण्ण चली आ रही है। मनुष्यके भीतरकी उज्ज्वलता जहा झाक रही है, उसीपर श्रद्धाको टिका देना है। वही हमारा निजत्व है। जो कुरूप है वह तो मिथ्या है ही। उसे सत्य मानकर उसके प्रति रुष्ट और प्राग्रही होना, तो अपनेको उसी दुश्चक्रमे डाले रखना है।"

"पर यो परमुखापेक्षी होकर कबतक चला जायगा, अजन ?"

"पर मै कहू, निरपेक्ष क्या है, जीजी ? अपेक्षा तो अस्तित्वके साथ ही लगी है। निरपेक्ष होकर जीनेका अभिमान ही तो मिथ्या-दर्शन है। सम्यक्त्वसे वही हम च्युत हो जाते हैं। असलमें देखना यह है कि वह अपेक्षा स्वार्थसे सीमित न हो। वैसी अपेक्षा तो प्रेमके बजाय लोभको ही अधिक बढायेगी। वह देनेवालेमे अभिमान जगायेगी और लेनेवालेमें हीनता उत्पन्न करेगी। मनुष्य-मनुष्यके बीच प्रेमका जो अविनाभावी और चिरतन सबध है, वह समूल कभी भी नष्ट नही हो सकता। आत्मा-की मौलिक एकतामें हमारी निष्ठा यदि दृढ़ है, तो इस प्रेमका परिचय हम सतत पाते जायेंगे—जीवनके पथमें। उसीका फल यह अयाचित दान है, जीजी। पराधीनताका सकीर्ण भाव मनमे जरा नही लाना है। प्रेमका प्रसाद समझकर ही इस भिक्षाको ग्रहण कर लेना है। आधिपत्यकी काक्षा और अभिमान मनमे न रखकर यदि आकिञ्चन्यका व्रत ग्रहण किया है, तो फिर भिक्षा ग्रहण करनेमे लज्जाका कारण नही है, जीजी। भिक्षा तो उसी शाश्वत प्रेम-परिचयका एक चिह्न मात्र है। परस्पर एक-दूसरेको स्वीकार किये बिना जो हम चल नही सकते हैं !"

इतने हीमें कृषककी दोनो कन्याये कासेके बडे-बडे कटोरोमे रस भर-कर ले आई। अतिथियोके सामने कटोरे धरकर, दोनोने पल्ला बिछाकर भूमिपर माथा टेक प्रणाम किया। अजनाने उनके माथेपर हाथ रखकर आशीर्वचन कहे। लज्जा मिश्रित कौतूहलसे मुस्कराती हुई दोनो बालाए, अपने इन असाधारण अतिथियोको बडे ही विस्मयकी आखोंसे देख रही

थीं। अंजनाने उनके नाम पूछे, आस-पासकी ग्राम-वसतिकाओंका और इस देशका परिचय पूछा। बालाओंने अस्फुट स्वरमें लजा-लजाकर उसके उत्तर दिये। इतने हीमें उधरके कामसे निबटकर वृद्ध कृषक आ पहुंचा। बातचीतमें वृद्धने बताया, कि ये दोनों कन्यायें ही मात्र उसकी संतति हैं। पुत्र कोई नहीं है। पत्नी इन्ही दो बच्चियोंको अबोध शैशवमें छोड़कर परलोक सिधार गई थी। तबसे उसीने पाल-पोसकर बड़े कष्टसे इन्हें बडा किया है, और उन्हींके लिये संसारमें उसका जीवन है। अब कन्यायें सयानी हुई हैं, देखें कौन अतिथि आकर उन्हें सौभाग्यका दान करेगा? लडकियां सकरुण, सरला आंखोंसे एकटक अंजना और वसंत-की ओर निहार रही थी। पिताके करुण कंठ-स्वरने उनके मुखड़ोंपर एक नि:शब्द रुलाई बिखेर दी थी। अपने बारेमें जब अंजना और वसंतने कुछ भी सूचित नही किया, तो वृद्धने भी मर्यादा नहीं लांघी। कुल-शील-का कोई भी प्रश्न उसने अपने मुहपर नही आने दिया। अंजनाने आप ही इतना बता दिया कि वे आदित्यपुरकी रहनेवाली हैं और इस समय यात्रा-पर हैं।

कामका समय होते ही वृद्ध, अपनी दोनो कन्याओंको—अतिथियोकी सेवामें नियुक्तकर, अपना हल उठा, बैलोको हांकता हुआ खेतपर चला गया। बालाओसे अंजनाने उनकी दिन-चर्या और काम-काज जाने। फिर आप भी वसंतको साथ ले उनके साथ फलोके बागमें चली गई। वहां फल-संचय, फलोकी छटनी, पक्षियोसे फलोंकी रक्षाका प्रबंध आदि अनेक कामोमें वे उनकी सहयोगिनी हुईं। पिताकी आज्ञानुसार, समयपर लाकर लड़कियोने भोजन अतिथियोके सामने रक्खा। जो भी सवेरेके फलाहारकी तृप्तिने भोजनकी आवश्यकता नही रहने दी थी, फिर भी लड़कियोका मन रखनेके लिये अंजना और वसंतने उनके साथ ही बैठकर थोड़ा-थोड़ा भोजन किया। थोड़ी ही देरके साहचर्यमें उन्होंने पाया कि वे बालायें उनसे ऐसी अभिन्न हो पडी हैं, जैसे आदिकालकी सहचरियाँ

ही हों। और तभी अजनाका मन मर्त्य मानवकी खड-खडता और अवश विछोहके प्रति एक अंतहीन करुणासे भर उठा। कैसे समझाये वह इन अबोध बालाओंको—वह सासारिक जीवन मात्रके भाग्यकी अनिवार्यता। और एकताका बोध जिस केंद्रीय विंदुपर है, वह क्या सहज अनुभव्य है ?

सांध्य-फलाहारके बाद बावड़ीकी सीढ़ियोंपर बैठी वसत और अजना-के बीच उनके प्रस्थानकी बात चल रही थी। सुनकर वे दोनो लड़कियां उदास हो गईं। सूनी, अवसन्न आखोसे दिशाओंको ताकती हुई, वे एक-दूसरेसे बिछुड़कर इधर-उधर डोलने लगी। एकाएक बड़ी लड़की सहमी-सी पास आकर खड़ी हो गई। उसकी आंखोंमें जैसे जन्म-जन्मकी विछोह-कथा साकार होकर मूक प्रश्न कर उठी। अंजना समझ गई। उसने उसे पास खीचकर छातीसे लगा लिया, और बिना बोले ही उसके गालपर हाथ फेरती हुई उसे पुचकारती रही।

लड़की अनायास पूछ बैठी—

"तुम कहां चली जाओगी कल ?"

सचमुच अंजनाके पास इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं था। तभी एक अव्याहत आत्मीयताके भावसे उसका सारा प्राण जैसे उसमेंसे स्फूर्त होकर दिगतके छोरोंतक व्याप्त हो गया।

"कही नही जाऊंगी, बहन, तुम्हें छोड़कर....। सच मानना, सदा तुम्हारे साथ रहूँगी।....उधर देखो, वह केलेके वनपर सध्या-तारा उगी है न ? बस इसे देखकर रोज़ मेरी याद कर लेना, मैं तुम्हारे पास आ जाया करूंगी....!"

दोनों लड़कियां आश्वस्त और प्रसन्न होकर, सामनेके गोशालेमें दूध दुहने चली गईं। अंजना और वसंत भी हास्य-विनोद करती उनके साथ दूध दुहने बैठीं। लडकियोंके आनंदकी सीमा न थी। सकरुण, स्नेहल कंठसे वे अपनी ग्राम्य भाषामें संध्याके गीत गाने लगीं।—

उसमे उस अनजान प्रवासीको संबोधन है जो ऐसी ही सध्यामें एक बार तारोंकी छायामें, राह किनारेके चपक-वनमें मिल गया था, और फिर लौटकर नहीं आया—नहीं आया रे--नही आया वह अतिथि ! ऐसी ही कुछ अंतहीन थी उस गीतकी टेक। विमुध और निर्लिप्त करुणाके कठसे समझे-बेसमझे वे लड़कियां उस गीतको गाती जा रही हैं। दूरपर ग्रामका कोई एकाकी दीप टिम-टिमाता दीख जाता है। अंजना अपने आंसू न रोक सकी—और अपने बावजूद वह उन लड़कियोंके सुरमें सुर मिलाकर गा उठी।—वृद्ध पास हीके गांवमे किसी कामसे गया था। लौटनेपर उसने झोंपड़ेके आगनमे चारपाइयां डालकर बिछौने बिछा दिये और अतिथियोसे आराम करनेके लिये अनुनय की। अंजनाने कहा कि उनके सौहार्द्रकी वे बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं, पर भूमि-शयन ही उन्हें स्वभावसे प्रिय है। वृद्ध इस बातके लिये वृथा खेद न करें। बागके बाहर खुली चांदनीमें ही अजना और वसत दुपहरके तोडे हुए केलेके पत्ते बिछाकर, हाथके सिरहाने लेट रहीं।

सवेरे ही ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर, नित्य-कर्मसे निवृत्त हो अंजनाने वसंतसे कहा—

"अब एक क्षण भी यहां रुकना इष्ट नही है, बहन। जिन्हें अपना कर, सदा अपने साथ रखनेकी शक्ति मुझमें नही है, उन्हे ममत्वकी मरीचिकामें उलझाकर दुख नही देना चाहूगी। तुरत अभी यहांसे चल देना है। बिछोहका आघात पीछे छोडकर जाना मुझसे न बनेगा। इस ब्राह्म-बेलामे, प्रभुसे मेरी यही विनति है कि, वह मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं सदाके लिये इन सोई हुई निरीह बालाओंकी हो सकूं—मैं सदा इनके साथ रह सकूं!"

चलनेसे पहले पास जाकर दोनों सोई लड़कियोंके सिर अंजनाने दूरसे ही सूघ लिये। फिर चुपचाप एक ओर सोये वृद्धको जगाकर—विदा मांगी। वृद्धके विवश—स्नेहानुरोधका अंजनाने यही उत्तर दिया

कि प्रभु हम सबके सर्वदा साथ हैं, फिर हम अलग-अलग कहां हैं, उसी मंगल-कल्याणमयके प्रेममे अनेक जन्मोमे अनेक बार मिले हे, और फिर मिलेंगे. . . .!

और दोनों बहनें चल दी अपने पथपर।

ज्यो-ज्यों आगे बढ़ती जाती हैं, आंखोके सामने क्षितिजकी रेखा धूधली होती हुई, परे हटती जाती है। यात्राका कही अंत नही है। अनेक देश, पुर-पत्तन, नदी, ग्राम, खेत-खलिहान पार करती, वे योजनोंकी दूरी लाघती जा रही हैं।—आसन्न सध्याकी बेलामें, राहके किसी ग्रामके किनारे, किसी भी खेतके झोंपड़ेमें, मनुष्यके द्वारपर जाकर वे आश्रय ले लेती हैं। भिक्षाकी तरह उनके आतिथ्यका दान सहज ग्रहण कर लेती हैं। रात वहा बिताकर सवेरे फिर चल देती हैं, अपने पथपर। अजना इन दिनो प्राय: मौन रहती है। अपनेको धारण करनेवाली धरती, जल, फल-फूल, अन्नसे भरी दाक्षिण्यमयी प्रकृति और आस-पास बिखरी हुई मानवता, सबके प्रति एक गहरी कृतज्ञताके भारसे वह दबी जा रही है। उन सबसे जीवन लेकर, वह उन्हे क्या दे पा रही है? देने योग्य कुछ भी तो नही है उसके पास। अपनी अक्षमता और अल्प-प्राणताको लेकर उसका मन अपनी लघुतामे नि:शेष हो जाता है। और बाहर फैलनेकी प्राणकी व्यथा उतनी ही अधिक घनी और अपरिसीम हो उठती है। उसके आस-पास अभ्यर्थना लेकर जो ये निरीह ग्राम-जन घिर आते हैं, उनकी आंखोमें वह एक निस्पृह अपेक्षाका भाव देखती है। जाननेकी——परि-चयकी वही सहज सनातन उत्कठा तो है उन आखोमे। उस निर्दोष दृष्टिमे छिद्र खोजनेकी कुटिलता कहां है? है केवल बदिनी आत्माकी अपनी सीमाकी वह अतिम विवशता। वह तो है वही अनत प्रश्न। मनुष्यकी नीरव दृष्टिमें जब उसकी पुकार सुनाई पड़ती है, तो जैसे उत्तर दिये बिना निस्तार नही है। उसके बिना अपने पथपर आगे बढ़ना संभव नहीं है। यात्राका मार्ग धरती और आकाशके शून्यमें होकर नहीं है।

उन प्रश्नसे व्यग्र आंखोंकी अनिवार्य लगनेवाली रुद्धतामें होकर ही वह मार्ग गया है।

तब अंजनाका मौन अनायास वाणीमें मुखर हो उठता। वह अपना परिचय देती। व्यक्ति-सीमाओंसे ऊपर होकर वह परिचय, सर्वगत और सर्व-स्पर्शी हो पडता! भोलेभाले जिज्ञासु ग्राम-जनोंकी उत्सुकता विशालतर हो उठती। क्षुद्र व्यक्ति मानो अणु बनकर उस विस्तारमे खो जाता। अंजना गौण हो जाती, स्वयं वे ग्राम-जन गौण हो जाते। केवल एक समग्रके बोधमें, वे अपने ही आत्म-प्रकाशके आनंदसे आप्लावित हो उठते। तब व्यवहारकी रोक-टोंक, पूछ-परछ वहा आते-आते निःशब्द होकर बिखर जाती। पर एक रातसे अधिक वे कही भी न ठहरती। इसी क्रमसे आगे बढते, जाने कितने दिन बीत गये।

वसंतने सोचा कि उसका रास्ता अब सुगम हो गया है। उसने पाया कि अजना अब ज़रा भी उदासीन या विरक्त नही है। बाहरके प्रति, लोकके प्रति, जीवनके प्रति वह खुली है, प्रेममय है। वह अपने आस पास घिर आये मनुष्योमें घुलती-मिलती है, हास-परिहास करती है। उनके प्रति वह आश्वस्त है, और असंदिग्ध आत्मीयता और एकताके भावसे बरतती है। तब उसने सोचा कि अब किसी ग्राम-वसतिकामें अंजनाको लेकर वह ठहर जायगी, और कुछ दिनके लिये घर बसा लेगी। बाधाका अब कोई कारण नही दीखता। केवल अवसर और निमित्तकी प्रतीक्षामें वह थी।

एक गावके बाहर जब इसी तरह, ग्राम-पथकी एक पांथ-शालामें वे ठहरी हुई थी, तभी अंजनाकी पीड़ा उसके वशके बाहर हो गई। ग्राम-जनोके सहाय्य और सेवा-सुश्रुषासे एक-दो दिनमें वह स्वस्थ हो चली। अपनी यात्रामें पहली ही बार वे यहा लगातार तीन दिन ठहर गई थी। अपने अस्वास्थ्य और मूर्छाकी अवस्थामें अंजनाको भान हुआ कि उसके

आस-पास के जनोंमें कुछ काना-फूसी है। कुछ लोक-सुलभ पहेलियां, संकेतोंकी भाषामें लोगोंकी जबानपर आ गई हैं।—अंजनाने पाया कि इन प्रश्नोंका उत्तर देना ही होगा!—वह किसकी पुत्री है, किसका पुत्र-वधू है, गर्भावस्थामें क्यों वह, राह-राह भटकती विदेश-गमनको निकल पडी है? क्या अपने कुल, शील, लज्जा का उसे कुछ भी भय नहीं है? गर्भवती माता होकर वह निश्चय ही गृहिणि है—भिक्षुणी वह नही है। यदि वह गृहिणी है तो लोकको भिक्षापर जीनेका उसे क्या अधिकार है? इन सबका अन्न खाकर, यदि उसे इन सबके बीच रहना है—तो उसे इन-इन लोक-सगत प्रश्नोका उत्तर देना ही होगा। नही तो अनजाने ही शायद इन्हें धोखा देनेका अपराध उससे हो रहा है। पर इन सारे प्रश्नोके स्थूल उत्तर क्या वह दे सकती है? नही अपने ही उदयागत पापोका भार, इन सारे दुखोके निमित्त मात्र होनेवाले—अपने आत्मीयोपर डालनेका गुरुतर अपराध उससे न हो सकेगा। और 'वे'—? मौतके मुंहमें उन्हें ढकेलकर उनके नामको कलंकित करती फिरूंगी—? भीतर ही भीतर अंजनाके आत्म-परितापकी सीमा न थी। जो भी बाहरसे वह प्रसन्न और स्वस्थ ही दीखती।

एक दिन सुयोग पाकर बहुत ही डरते-डरते वसंतने अंजनासे अनुरोध किया कि अब यों निर्लक्ष्य आगे बढ़नेमें सार नही है; यात्राका श्रम अब अंजनाके लिये उचित नही। जाने कब किस आपदासे वे घिर बैठें, सो क्या ठीक है। अब इसी ग्राममें दो-तीन महीनोंके लिये उन्हें टिक जाना चाहिये। यही सुख-पूर्वक प्रसव-कार्य सपन्न हो जायगा। तब आगेकी आगे देखी जायेगी। वसंत स्वयं श्रम करके कुछ अर्जन कर लेगी, और यों स्वावलंबी होकर वे चला लेंगी। पर अजना पहले ही अपने मनमें निश्चय कर चुकी थी। अविचलित, परतु अथाह वेदनाके स्वरमें उसने उत्तर दिया—

"नही जीजी, भूल रही हो तुम—। अब एक क्षण भी यहां ठहरना

संभव नहीं है। सवेरे ही यहासे चल देना होगा। जन-पथ और ग्राम-पथ छोड़ अब तुरत वनकी राह पकड़नी होगी। भोले-भाले ग्राम-जनोंको आज-कलसे नहीं, बहुत दिनोंसे जानती हूं। आदित्यपुरकी वसतिकाओंमें उन्हें पाकर एक दिन मैंने अपने जीवनको कृतार्थ किया था। उनके प्रति किंचित भी अविश्वास या अश्रद्धा मनमें ला सकू, ऐसी कृतघ्न मैं नहीं हो सकूगी। इसीसे तो अबतककी यात्रामें, निधड़क उनके द्वार जाकर विश्राम खोजा है। पर देखती हूं कि उनके बीच रहनेकी पात्रता भी अब मेरी नहीं है। वे भी तो एक लोकालयके और लोक-समाजके अंग हैं। उनके भी अपने कुल-शील मर्यादाके नीति-नियम हैं। मेरा उनके बीच यों जाकर बस जाना, उनके भी तो लोकाचार-की मर्यादाको चोट ही पहुंचायेगा। एक पूरे समाजकी शांतिको भंगकर, यदि उन्हे देनेको समाधानका कोई उत्तर मेरे पास नही है, तो वहां मैं एक बहुत बडे असत्य और लोक-घातकी अपराधिनी बनूगी—। तुम्हीं बताओ जीजी, यह सब मैं कैसे कर सकूगी? देख नहीं रही हो, जिस तरहके प्रश्न और चर्चाएं ग्राम-जनोंके बीच चल पड़ी हैं—? चलनेके दिन ही तुमसे कह चुकी थी कि, वनके सिवाय और वास मेरे लिये इस समय कहीं भी नहीं है। राहके ये विश्राम तो सहज आनुषंगिक ही थे। मनुष्यके प्रेमका पाथेय विपदकी राहके लिये जुटा लेनेकी इच्छा थी। वह प्रसाद पा गई हूं—अब चल देना होगा जीजी....."

वसंतने बार-बार अनुभव किया है कि अजना तर्ककी वाणी नहीं बोलती है। आत्म-वेदनाका यह सहज निवेदन, सुननेवाले के मनपर अग्नि के अक्षरोंमे ज्वलित हो उठता है। उसपर क्या वितर्क हो सकता है? वसंत चुप हो गई। अगले सवेरेके आलोकसे भर आते अंधेरेमें, उन्होंने पग-डंडियां छोड़कर वनकी राह पकड़ी—अनिश्चित और रेखाहीन....!

[२६]

दिनका उजाला जब झांकने लगा था तब उन्होने पाया कि पलाश, बबूल और खजूरोके एक घने वनमें वे घुसी जा रही हैं। जहांतक दृष्टि जाती है, खजूरोके कटीली छालवाले तने घने होते दीख पडते हैं। वनकी इस अखड गभीर निस्तब्धतामें मानो प्रेतोकी छाया-सभा अविराम चल रही है। बीच-बीचमें सागी और शीशमके बडे-बडे पत्तोवाले वृक्षोंकी घनी झाडियोंके प्रतान फैलते ही चले गये हैं। मर्त्य मानवकी असंख्य निपीडित इच्छाएं विकराल भूतो-सी एक साथ जैसे भूमिसे निकल पडी हैं, और अपने ही ऊपर दिन-रात एक मूक व्यंगका अट्टहास कर रही हैं।—और लगता है कि ये खजूरोके तने अभी-अभी कुछ बोल उठेगे, पर वे बोलते कुछ नही हैं। निस्तब्धता और भी घनी हो उठती है। और वही मूक आक्रंदन भरा हास्य दूर-दूरतक और भी तीखा होता सुनाई पडता है। मलय और सल्लकीकी गधसे भरा प्रभातका शीतल पवन डोल-डोल उठता है। पलाश, सागी और शीशमके प्रतान हहरा उठते हैं। बनानीके प्राणमे सुदीर्घ व्यथाका एक उच्छ्वास सरसरा जाता है। सृष्टिके हृदयका करुण सगीत नाना सुरोमे रह-रहकर बज उठता है। और चिरौंजी-वृक्षकी शाखामे दो-तीन नीली और पीली चिड़ियाये 'कीर-कीर'-'टीर-टीर' प्रभाती गा उठी है।

अजना जैसे अवचेतनके अंधेरे द्वारोंको पार करती चल रही थी। पंखियोंका प्रभात-गान सुन उसकी तंद्रा टूटी। ऊपर हिलते हुए पत्रोमें आकाशकी शुचि नीलिमा रह-रहकर झाक उठती है। मुस्कराकर कौन अनिद्य, कात, युवा मुख आंख-मिचौनी खेल रहा है? उसे पकड पानेको उसके मन प्राण एक-बारगी ही उतावले हो उठे।. . . .पर चारो ओर रच दी है उसने यह भूल-भुलैयाकी माया! जिधर जाती है उधर ही संकुल और भयावह झाड-झखाड़ोंसे राह रुंधी है। पैरों तलेकी धरती बहुत विषम और ऊबड-खाबड है। ढेर-ढेर जीर्ण पत्तोंसे भरे तल-देशमें

पैर धंस-धस जाते हैं। भूशायी कटीली शाखाओंके जालोंमें पैर उलझ जाते हैं। सैकड़ो सूक्ष्म कांटे एक साथ पगतलियोंमें बिंध जाते हैं। लड़खड़ाती, पेड़ोंके तनोंसे धक्के खाती, एक-दूसरीको थामती दोनों बहनें चल रही हैं। पैर कहा पड़ रहे हैं इसका भान ही भूल गया है।—अरे इस मायावीकी भूल-भुलैयाका तो अंत ही नहीं है!—हाथपर ताली बजाकर वह भाग जाता है।—अंजना शून्यमें हाथ फैला देती है। पर वहा कोई नही दिखाई पड़ता। चारों ओर उगी घास और संकुल झाडियोमें डूबती-उतराती वह बढ़ती ही जाती है। चलते-चलते गतिका वेग अदम्य हो उठा है। अंजनाके पीछे उसके कधो और कमरको हाथसे थामे वसत चल रही है। पर गतिके इस वेगको थामनेकी शक्ति उसमें नहीं है। इस वात्या-चक्रमे एक धूलि-कण या तिनकेकी तरह वह भी उड़ी जा रही है।

....पत्तोके हरियाले वितानमें अजनाको उस युवाके उडते हुए वसनका आभास होता है. । आस-पाससे शरीरको छूता हुआ वह प्राणोंको एक मोहकी उन्मादक गंधसे आकुल-व्याकुल कर जाता है।.... मुदी आखो, वे शून्यमें फैली हुई भुजाए उसे बांध लेना चाहती है। वह हरियाला कोमल पट हाथ नहीं आता। केवल कटीली शाखाओके कांटे वक्षमें बिध जाते हैं। खजूरोके उन असख्य, काले, कुरूप तनोंकी सरणिमें, वह मुस्कराहट और वह किरीटकी आभा झांककर ओझल हो जाती है। अजना झपटती है। किसी एक खजूरके तनेसे जाकर टकरा जाती है। शून्यकी थकी भुजाए विह्वल होकर उस तनेको आलिंगन-पाशमें बांध लेती हैं। प्यारके उन्मेषमे उस कटीली छालपर वह लिलार और कपोलोंसे रभस करती हुई बेसुध हो जाती हैं। मानो उस समूची परुषता और प्रहारकताको अपनी कोमलतामें समाकर वह निःशेष कर देना चाहती है। वसंत उसे पीछेसे खींचकर, उसकी पीठको अपनी छातीसे लगाये रखनेके सिवा और कुछ भी नही कर पाती है। भीतर रुदन और

चीत्कारें गुंगला रही हैं। चारों ओरसे चौटपर चोट, आघातपर आघात लग रहा है। एक आघातकी वेदना अनुभव हो, उसके पहले ही दूसरा प्रहार कहींसे होता है। पैर किसी गड्ढेमें धस रहा है, निकल पाना मुश्किल हो गया है, कि उधर माथा किसी कटीली शाखा या तनेसे जा टकराया है। रास्ता चारो ओरसे भूल गया है। इधरसे उधर और उधरसे इधर वे टकराती, चक्कर खाती फिर रही है। चेहरेपर और देहमें रक्त और पसीना एकमेक होकर बह रहा है। शरीरके रोएं-रोएंसे पीडा और प्रहारका वेदन बह उठा है—और उसी प्रश्रवणमें आकर, अंतरके गभीर आसू भी खो जाते है। जैसे उनकी कुछ गिनती ही नही है। अपनी ही करुणाके प्रति भीतर वे अत्यत निर्दय और कठोर हो गयी है। अरे, इस पापिन देहपर और करुणा, जिसके कारण ही यह सब झेलना पड रहा है—! छिल-छिलकर, बिध-बिधकर इसका तो निःशेष हो जाना ही अच्छा है। और भीतर प्रहार लेनेके लिये भी एक अदम्य आकर्षण और वासना जाग उठी है। उसीसे खिंची हुई बेतहाशा और अनजाने वे अपनेको उस अदृश्य और अमोघ धारपर फेंक रही है। वह धार जो चेतनको अचेतनके आवेष्ठनसे मोह-मुक्त कर देगी। कि फिर नग्न और अघात्य चेतन इस सारी प्रहार-लीला और अवरुद्धतामेंसे अतर्गामी होकर अनाहत पार होता चले।

....फिर एक सुदीर्घ वेदनाके आक्रंदन-उच्छ्वाससे वन-देश मर्मरा उठा। अंजनाको हलका-सा चेत आया। सर-सर करते हुए दो-चार पीले पत्ते ऊपरसे झर पड़े। उसने पाया, उस निबिड़, निर्जन अटवीमें, पुरातन पत्रोकी शय्यापर वह लेटी है। पास बैठी वसत मूक-मूक आंसू टपका रही है। उसने देखा कि उसकी जीजीकी सारी देह और चेहरा, जहा-तहां कांटोंसे बिधकर क्षत-विक्षत हो गया है। क्षतोंमेंसे रह-रहकर रक्त बह रहा है। अश्रु-निबिड़ आखोसे, एक विवश पशुकी तरह, पुतलियोंमें तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसत उस अजनाकी ओर ताक रही

है।—उस वेदनाके दर्पणमें अंजनाने अपना प्रतिबिंब देख लिया।—लगा कि लोहित अनुरागसे झरते हुए पद्म-संपुट-से वे ओंठ फिर मुस्करा उठे हैं....! कैसा दुर्दाम और भयावह है यह संमोहन, यह आवाहन।—उसने पाया कि रक्तांबर ओढ़े वह अभिसारके पथपर चल रही है।....

....और सुदूर क्षितिजकी धुंधली रेखापर उसे दीखा : आकाशकी अनंत नीलिमाको चीरता वह युवा चला आ रहा है। शिशु-सी अबोध है उसकी मुस्कराहट। शुभ्र हिम-पर्वतोंका वह मुकुट धारण किये है। वक्षपर पड़ी है वनोंकी मालाएं। और कटिके नीचे सात समुद्रोंके जल वसन बनकर लहरा रहे हैं। भुजमूलोंमें अतल खाइयोंकी अंधकार-राशि झांक रही हैं। उसका लाल फूलोका धनुष तनता ही जा रहा है, और उसकी मोहिनी पथ बनकर पैरोंको खींच रही है....!

वसंत अपने आंचलसे, अंजनाके शरीरमें, जहां-तहां निकल आये रक्तको पोंछ रही थी। कि अजनाने एकाएक उसका हाथ पकड़कर थाम लिया और हसती हुई बोली—

"इस छबिको मिटाओ नही जीजी, राहकी रेखा यही तो है।—लो चलो, रुकनेका धीरज अब नही है। पुकार प्राणोंको खींच रही है। विलंब न करो, मिलनकी लग्न-बेला टल जायेगी....!"

"पर अजन, कहां चल रही हो ? यहां रास्ता जो नहीं दीख रहा है....?"

बिना उत्तर दिये ही अजना उठ बैठी और वसंतका हाथ पकड़ उसे खींचती हुई फिर बढ़ गई—उसी झंखाड़ोसे घिरी बनकी विजन बाटमें।

दोपहरीका प्रखर सूर्य जब ठीक माथेपर तप रहा था, तब वे उस खर्जूर-वनको पारकर खुले आकाशके नीचे आ गईं। सामनेसे चली गई है वन्य-नदीकी रेखा। रुपहली बालूकी स्निग्ध उपल-सेजमें, जलकी धारा लीन होती-सी लोट रही है। दूर-दूरतक सुषम वन-श्रीको चीरती

हुई, नाना भंग बनाती, कहीं बनके गहन अंकमें जाकर वह खो जाती है। आगे जाकर धारा पृथुल हो गई है, और वनच्छायासे कहीं श्याम, कहीं जामनी और कही पीली होती दीख पडती है। पुलिनोंमें लह-लहाती कासमे शरदकी श्री खिल-खिला रही है।

रुक कर अजना बड़ी देर तक, दूर जहां नदी के अन्तिम भंग की रेखा खो गई है, दृष्टि गड़ाये रही। फिर वसतके गलेमे हाथ डालकर बोली—

"कैसी कोमल, उजली और स्निग्ध है यह पथकी रेखा, जीजी! बनके इस आचलमें यह छुपी है, पर कितने लोग इसे जानते हैं? किस अज्ञात पर्वतकी बालिका है यह नदी? अनेक बिजनोकी जड़ीभूत रुद्धता-मेंसे, जलकी इस धाराने अपना पथ बनाया है।—और पीछे छोड गई है पथिकोंके लिये विश्रामकी मृदुल शय्या। अवरोध है, इसीसे तो मार्गका अनुरोध है। अवरोधोको भेदकर ही वह खुलेगा। मार्गकी रेखाए पृथ्वीमें पहले हीसे खिंची हुई नही है। जीवनी-शक्ति सतत गतिमान है—मनुष्य चल रहा है कि मार्ग बनता गया है! पहले कोई चला है, तभी वह बना है। आदि दिनसे वह नही था...."

नदीकी धाराको पार कर, आगे जानेपर उन्हे सल्लकी लताके मडपोसे घिरी एक वन्य-सरसी दीख पडी। उसके बीचके ऊर्मिल जलमे शरदके उजले बादलोका प्रतिबिब पड रहा है, और तटोमें घनी शीतल छाया है। लता-मंडपमें हथनियोका एक यूथ, सल्लकीकी गधमे मस्त होकर झूम रहा है। पास आनेपर दीखा, सामनेके तटकी एक शिलापर एक जरठ-जीर्ण भीलनी नहा रही है। सारे बाल उसके सफेद हो गये हैं। अपने काले शरीरपर दोनो हाथोसे मिट्टी मल-मलकर वह उसे स्वच्छ कर रही है।

अजनाने कौतूहलसे उसे देखा, फिर हस आई और दोनों हाथ जोड़ उसे प्रणाम किया। भीलनीके मिट्टीमे भरे हाथ अधरमें उठे रह गये। वह नहाना भूलकर उस पार आश्चर्यसे देखती रह गई। उसकी पुरातन

गर्दन अर्णद-सी हिल उठी। इस जगलमें युग-युग उसने बिता दिये हैं, कई चमत्कार उसने देखे सुने हैं, पर रूपकी ऐसी माया कभी न देखी!

अजना हाथका सिरहाना बनाकर तटकी शाद्वल हरियालीपर लेट गई, और तुरत उसकी आख लग गई। वसंतको न सोये चैन है न बैठे। अपने अपनत्वको रख सकनेका बल उसमें नही है। बालककी तरह क्षण मात्रमें ही अभय होकर सो गई, इस विपदा-ग्रस्त, पागल लडकीके चेहरेमें, घूम-फिरकर उसकी दृष्टि आ अटकती है। उसकी मन, वचन, कर्मकी शक्तिया इस लड़कीसे भिन्न होकर नही चल पा रही है। उसकी संज्ञाके केंद्रमें है अजना। एक मौन रुदनका झरना उसकी आखोसे रह-रहकर झर रहा है। अजनाकी सारी वेदना आकर उसकी आत्मामें पुंजीभूत और सघन हो रही है। भीलनीको पाकर वसतकी जिज्ञासा तीव्र हो उठी, जो भी उसे देखकर भयसे वह काप-काप आई। पर वनकी इस भयानक निर्जनतामें यह पहली ही मानवी उसे दीखी है, सो बरबस उसकी ओर एक आदिम आत्मीयताके भावसे वह खिची चली गई। पास पहुँचकर उसने भीलनीको ध्यानसे देखा। बुढ़ियाके सैकडो झुरियोवाले मुखपर गुफ़ा-सी ऊंडी कोटरोमें, मशालो-सी दो आखें जल रही थीं। चट्टान-से उसके शरीरमें जहा-तहा झखाडोसे सफ़ेद बाल उगे थे। वसतने हिम्मत करके उससे पूछा कि आगे जानेको सुगम रास्ता कहासे गया है?

भीलनी पहले तो बड़ी देरतक, सिरसे पैरतक वसतको बड़े ग़ौरसे देखती रही। फिर रहस्यके गुरु-गंभीर स्वरमें बोली—

"इधर आगे कोई रास्ता नही है। क्या इधर मौतके मुहमें जाना चाहती हो? आगे मातंग-मालिनी नामकी बिकट बनी है। महाभयानक दैत्यों और क्रूर जंतुओका यह आवास है। मनुष्य इसमे जाकर कोई नहीं लौटा। पुरातनके दिनोंमे, सुना है, कई शूर नर निधियोंकी खोजमें इस बनीमें गये, पर लौटकर फिर वे कभी नहीं आये। भूलकर भी इस

राह मत जाना ! रास्ता नदीके उस तीरपर होकर है। अपनी कुशल चाहो तो उधर ही लौट आना।"

इतना कहकर, वसंत और कुछ पूछे, इसके पहले ही भीलनी वहांसे चल दी। द्रुत पगसे चलती हुई सल्लकीके प्रतानोमे वह तिरोहित हो गई।

थोडी ही देरमे अजनाकी जब नीद खुली, तो वह तुरत उठ बैठी। गतिकी एक अनिबंध हिल्लोलसे जैसे वह उछल पड़ी। बिना कुछ बोले ही वसतका हाथ खीचकर सामनेकी उस अरण्यबालाकी ओर बढ़ी। तब वसंतसे रहा न गया, झपटकर उसने अंजनाको पीछे खीचा—

"नही अजनी... नही....नही....नही जाने दूगी इस बनीमें।—आह मेरी छौना-सी अजन, यह क्या हो गया है" तुझे? अबतक तेरी राह नही रोकी है—पर इस बनमे नहीं जाने दूगी। मनुष्यके लिये यह प्रदेश अगम्य और वर्जित है। इसमें जाकर जीवित फिर कोई नहीं आया। अभी तेरे सो जानेपर उस बूढ़ी भीलनीसे मुझे सब मालूम हुआ है।"

कहकर उसने भीलनीसे जो कुछ जाना था वह सब बता दिया। अजना खिल-खिलाकर ज़ोरसे अट्टहास कर उठी—बोली—

"मनुष्यके लिये अगम्य और वर्जित कहीं कुछ नहीं है, जीजी! इन्ही मिथ्यात्वोके जालोको तो तोड़ना है। अभी-अभी मैंने सपना देखा है, जीजी, इसी अरण्यको पारकर हमें अपना आवास मिलेगा। इसी अटवीके अधकार में पथकी रेखा मैंने स्पष्ट प्रकाशित देखी है—। राह निश्चित वही है, इसमें राइ-रत्ती संदेह नही है।—देर हो जायगी जीजी, मुझे मत रोको...."

कहकर अजनाने एक प्रबल वेगके झटकेसे अपनेको वसतसे छुड़ा लिया और आगे बढ़ गई। झपटकर वसंतने आगे जा, अंजनाकी राह रोक ली, और भूमिपर गिर पड़ी। उसके पैरोंसे लिपटकर चारों

ओरसे उन्हें अपनी भुजाओंमें दृढ़तासे कस लिया और फफक-फफककर रोने लगी। रुदन के ही उद्विग्न स्वर में बोली—

"नहीं जाने दूँगी....हर्गिज नहीं जाने दूंगी....ओह अंजनी.... मेरी फूल-सी बच्ची—तुझे क्या हो गया है यह ? ऐसी भयानक—ऐसी प्रचंड हो उठी है तू....? तेरी सारी हठोंके साथ चली हूं, पर यह नहीं होने दूंगी। देखती आखों कालकी डाढ़ोंमें तुझे नहीं जाने दूंगी। और फिर भी तू नहीं मानेगी तो प्राण दे दूंगी। फिर अपनी जीजीके शवपर पैर रखकर जहां चाहे चली जाना।"

अंजनाके रोम-रोममें वेगकी एक बिजली-सी खेल रही है।—पर वसंतकी बात सुनकर वह दुर्दाम लड़की जैसे एक बारगी ही हत-शस्त्र-सी हो गई। धप्‌से वह नीचे बैठ गई और अपनी जीजीको उठाया। फिर आप उसकी गोदमें सिर रखकर रो आई और आसुओंसे उमड़ती आंखोसे वसंतके मुखको मौन-मौन ही बहुत देरतक ताकती रही। फिर अनुरोध कर उठी—

"क्षमा करना जीजी, अपने पापोंके इस अतलांत नरकमें घसीट लाई हू मैं तुम्हें—! बराबर तुमपर अत्याचार ही करती जा रही हूं। घोर स्वार्थिनी हू, अपने ही मोहमें अंधी होकर मैं तुम्हें रसातलमें खींच रही हू, जीजी।....पर आह जीजी, मेरे प्राण मेरे वशमें नहीं हैं....यह कौन है मेरे भीतर जो करोड़ो सूर्योंके रथपर चढ़कर विद्युत्‌के वेगसे चला आ रहा है....प्राणोको यह दिन-रात खींच रहा है.... इसी अरण्य-मालामें होकर जायेगा इसका रथ !....तुम कुछ करके मुझे रोक सको तो रोक लो. ..पर रुकना मेरे बसका नहीं है !.... रुककर जैसे रह नहीं सकूंगी....! तुम जानो, जीजी...."

कहकर अंजना चुप हो गई। उसकी मुंदी आखोंसे आंसू अविराम झर रहे थे। देखते-देखते अंजनाके उस मुखपर एक विषम वेदना झलक उठी। वक्ष और पेट तीव्र श्वासके वेगसे हिलने लगे। वसंतने देखा

और भीतर ही भीतर गुन लिया : अंजनाको बड़ा ही कठिन दोहेला (गर्भिणी स्त्रीकी वह विचित्र साध, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो जाती है) पड़ा है। निश्चय ही इस साधकी पूर्तिके बिना इसके जीवनकी रक्षा संभव नही है। नही जाने दूंगी तब भी यह प्राण त्याग देगी, और जाने दूगी तो जो भाग्यका लिखा है, वही हो रहेगा। जाने कौन महाहतभागी जीव इसके गर्भमे आया है, जो आप भी ऐसे दारुण कष्ट झेल रहा है, और अपनी जनेताके भी प्राण लेकर ही जो मानो जन्म धारण करेगा। और अजनासे अलग हटाकर, अपने ही लिये अपने जीवनकी रक्षाका विचार करनेकी स्थिति तो अब बहुत पीछे छूट गई थी। नये सिरेसे आज उसे अपने बारेमे कुछ भी सोचना नहीं है। भीतर उसे लगा कि जैसे वह सारा घुमडता रुदन एकबारगी ही शात हो गया है। आप स्वस्थ होकर थोड़े जल और मिट्टीके उपचारसे उसने अजनाको भी स्वस्थ कर लिया। फिर हसती हुई बोली—

"जहा तेरी इच्छा हो वही चल, अजन ! भगवान मगलमय है। उनकी शरणमे रक्षा अवश्य होगी।"

× × × यह मातग-मालिनी नामकी अटवी, पृथ्वीके पुरातन महावनोमेसे एक है, जो अपनी अगमताके लिये—आदिकालसे प्रसिद्ध है। आस-पासके प्रदेशोमें इस बनीके बारेमें परपरासे चली आई अनेक दंत-कथाए प्रचलित है। कहते हैं इसकी तहोंमें अनेक अकल्पनीय ऋद्धि-सिद्धि देनेवाले रत्नोके कोष, महामृत्युकी आतक-छाया तले दिवा-रात्रि दीपित है। इसमे पाताल-स्पर्शिनी वापिकाए है, जिनसे निकलकर पृथ्वीके आदिम अजगर, वनस्पतियोकी निबिड़ गंधमें मत्त होकर लोटते रहते हैं। अनेक विजेता, विद्याधर, किन्नर-गंधर्व, अपने बल-वीर्य और विद्याओपर गर्वित हो, निधिया पानेकी कामना लेकर इस बनमें घुसे और लौटकर नही आये !

अजना और वसंतने अपने नामशेष, रक्तभरे आंचलको भूमिपर

बिछाकर, मृत्युजयी जिनको—साष्टांग प्रणाम किया। उठते हुए अंजनाने पाया कि टूटकर आये हुए नक्षत्र-सा एक पक्षी उसके दायें कंधेपर आ बैठा है। स्थिर ज्वालाओं-सा वह जगमगा रहा है—देखकर आखें चुधियाती हैं। अजना सिरसे पैरतक थर-थरा आई और सहमकर मुंह फेर लिया। पक्षी उड़कर उसी अरण्य-वीथिके भीतर, एक ऊंची शाखापर जा बैठा। अजनामें कप और उल्लासकी हिलोरें दौड़ने लगी। उसका सारा शरीर एक अपूर्व रोमाचसे सिहर उठा। अनायास अजना, उस अनल-पंछीको पकड़नेके लिये उस बन-वीथीमें लपक पड़ी, और उसके ठीक पीछे ही दौड पड़ी वसत। उनके देखते-देखते दूर-दूर उडता हुआ वह पंछी, उस बनके अतरालमें जाने कहा अलोप हो गया।—और उस महाकातारमें बेतहाशा दौडती हुई वे उसे खोजने लगी।—

. . . .ज्यों-ज्यो वे दोनो आगे बढ रही हैं, अधेरा निबिड़तर होता जाता है।—देखते-देखते आकाश खो गया है, तल असूझ हो रहा है। पग-पगपर भूमि विषम-तर हो रही है। झाड-झखाड़ोंमें भालोंके फलोसे तीक्ष्ण पत्ते और काटे चारो ओरसे देहमें बिंध रहे हैं। पाताल-जलोंसे सिंचित सहस्रावधि वर्षोंके पृथ्वीके आदिम वृक्ष, वृहदाकार और उत्तुग होकर आकाशतक चले गये हैं। उनके विपुल पल्लव-परिच्छदमें सूर्यकी किरणका प्रवेश नही है। तमसाके इस साम्राज्यमें दिन और रातका भेद लुप्त हो गया है। समयका यहा कोई परिमाण नही, अनुभव भी नही। प्रकाड तमिस्राकी गुफाएं दोनो ओर खुलती जाती हैं। पृथ्वी और वनस्पतियोंकी अननुभूत शीतल गधमें अजना और वसंतकी बहिश्चेतना खो गई है। केवल अतश्चेतनकी धाराएं अपने आपमें ही प्रकाशित, इस अभेद्यतामें बही जा रही हैं। आदिकालके पुजीभूत अधकारकी राशियां चारो ओर विचित्र आकृतिया धारणकर नाच रही हैं। अंजनाको दीखा, आत्माके अनत स्तरोंमें छुपे नाना अप्रकट पाप और तृष्णाएं यहा नग्न होकर अपनी लीला दिखा रहे हैं। पर्वताकार तमकी अब लहरें बनकर

वे आते हैं, और आत्मापर रह-रहकर आक्रमण कर रहे हैं।....और तब भीतर अंजनाको एक झलक-सी दीख जाती : दीखता कि वह करोड़ो सूर्योंके रथपर बैठा युवा एक कोमल भ्रूभंग मात्रमें उन्हें विदीर्णकर, अपना रथ अरोक दौड़ाये जा रहा है। उसकी मुस्कराहट पथपर, पैरोंके संमुख प्रकाशकी एक रेखा-सी खींच देती है।

. . .चलते-चलते अंजना और वसंतको अकस्मात् अनुभव हुआ, कि पैरोंके नीचेसे तीक्ष्ण पत्थरों और कांटोसे भरी विषम भूमि गायब हो गई है। एक अगाध और सुचिक्कण कोमलतामें पैर फिसल रहे हैं। त्वचाकी एक ऊष्म मांसलतामें जैसे वे धसी जा रही हैं। रलमलाकर वह रेशमीन स्निग्धता शरीरमें लहरा जाती है। भीतर जैसे एक उल्का-सी कौंध उठी और उसके प्रकाशमे अजना और वसतको दीखा—प्रचड अजगरोकी मंडलाकार राशिया उनके पैरों के नीचे सरसरा रही हैं। चारो ओर उडते हुए नाग-नागिनोंके जोडे, रह-रहकर देहमें लिपटजाते हैं और फिर उड़ जाते हैं। आस-पास दृष्टि जाती है—उन तमिस्रकी गुफाओंमें विचित्र जंतुओं और भयावने पशुओंके झुंड चीत्कारें करते हुए संघर्ष मचा रहे हैं। उन्हींके बीच उन्हें ऐसी मनुष्याकृतियां भी दीखी जिनके बड़े-बड़े विकराल दांत मुहसे बाहर निकले हुए हैं, माथेपर उनके त्रिशूलसे तीखे सीग हैं और अतहीन कषायमें प्रमत्त वे दिन-रात एक दूसरेसे भिड़िया लड रहे हैं।

कि अचानक पृथ्वी मे से एक सनसनाती हुई फुंकार-सी उठी, और अगले ही क्षण स्फूर्त विषकी नीली लहरोंका लोक चारो ओर फैल गया। सहस्रों फणोंवाले मणिधर भुजग भूगर्भसे निकलकर चारो ओर नृत्य कर उठे। उनके मस्तकपर और उनकी कुंडलियोंमें, अद्भुत नीली, पीली और हरी ज्वालाओंसे झगर-झगर करते मणियोंके पुंज झलमला रहे हैं। उनकी लौमेंसे निकलकर नाना इच्छाओंकी पूरक विभूतियां, अप्रतिम रूपसी परियोंके रूप धारणकर एकमें अनंत होती हुईं, अंजना और वसंतके

पैरोंमें आकर लोट रही हैं; नाना भंगोंमें अनुनय-अनुरोधका नृत्य रचती वे अपनेको निवेदन कर रही है। पर उन दोनों बहनोंमें नहीं जाग रही है कोई कामना, कोई उत्कंठा। बस वे तो विस्मय और जिज्ञासासे भरी मुग्ध और विभोर ताकती रह गई हैं।

....तभी एक तीव्र सुगंधसे भरी वाष्पका कोहरा चारों ओर छा गया। अंजना और वसंतके श्वास अवरुद्ध होने लगे, एक-दूसरेसे चिपटकर बिल-बिलाती हुई वे आगे भाग चलीं। चलते-चलते कुछ ही दूर जाकर उन्होंने पाया कि आगे का वन-प्रदेश अभेद्य हो पडा है। जिस ओर भी वे जाती है वृक्षोके तनोसे सिर उनके टकरा जाते हैं—और कटीले झाड-झंवाड़ोंकी अवरुद्धतामें देह छिल-छिल जाती है। थोड़ी ही देरमें सारे वन-प्रदेशकी स्तब्धता एक सरसराहटसे भर गई। चारों ओरसे भूकंपी पद-संचारके धमाके सुनाई पडने लगे। दोनों बहनोंकी आंखोमें फिर एक बिजली-सी कौंध गई। उसके प्रकाशमें दीखा कि जहांतक दृष्टि जाती है सूचीभेद्य शाखा और पल्लव-जालोंका प्राचीर-सा खडा है। *इस क्षण वह सारी अटवी जैसे एक बवडरके वेगसे हहरा उठी है।* और इतने हीमें आस-पाससे गुर्राते हुए और लोमहर्षी गर्जन करते हुए कुछ बड़े ही भीषण और पृथुलकाय हिंस्र पशु चारों ओरसे झपट पड़े। उनके प्रचंड शरीरोकी कशम-कशममें दबकर दोनो बहने एक-दूसरेसे चिपटकर चिल्ला उठीं। तभी लप-लप करती उनकी विकराल जबानें और उनकी डाढ़ें फैलकर उन्हे लीलनेको आती-सी दीख पडी। उनकी आंखे अंगारो-सी दहकती हुई अधिकाधिक प्रखर हो उठती हैं।

कि एकाएक दूरतक फैले इन पशुओंके विशाल झुंडके बीच अंजनाको दीख पड़ा वही युवा रथी, जो कौतुककी हंसी हसता हुआ पास बुला रहा है। एक मधुर मार्मिक लज्जासे पसीजकर अंजना निगड़ित हो रही। जानें *क्या लीलाकी तरग उसे आई कि बड़ी ही स्नेह-स्निग्ध और तरल* वात्सल्यकी आंखोंसे अजना उन पशुओंको देख उठी। लीलनेको आती

हुई उन डाढ़ोके समुख उसने बडे ही विनीत आत्म-दानके भंगमें अपनेको अर्पित कर दिया, कि चाहो तो लील जाओ, तुम्हारी ही हूं....! क्षण मात्रमें वे ज्वलित आंखें, वे डाढ़ें वह गर्जन सभी कुछ अलोप हो गया। अजना और वसतको अनुभव हुआ कि केवल बहुतसी जिह्वाओके ऊष्म और गीले चुबन उनके पैरोंको दुलरा रहे है।

... सब कुछ शात हो गया है, फिर वे अपने मार्गपर आगे बढ़ चली है। आस-पास कही वनस्पतियोके घने और जटिल जालोमें दिव्य ओषधियोका शीतल, मधुर प्रकाश झल-झलाता-सा दीख जाता है। तो कहीं पैरो तले पृथ्वीके निगूढ़ विवरोमें स्वर्ण और चादीकी रज बिछी दोखती है, और उनपर पडे दीखते है वर्ण-वर्ण विचित्र रत्न, जिनमें सतरगी प्रभाकी तरगे निरतर उठ-उठकर लीन हो रही है। अजना और वसतको प्रतीत हुआ कि आत्मामें सोई जन्म-जन्मकी कामनाए अगडाई भरकर जाग उठी है। और कुछ ही क्षणोमे उन्होंने पाया कि अपनी विविध रूपिणी इच्छाओके सारे फल एकबारगी ही पाकर वे निहाल हो गई है। क्षणैक उन्होने अनुभव किया जैसे सारे भय, पीडा और चिंताए आत्मासे पीले पत्तोकी तरह झरकर उन रत्नोकी शीतल तरगोमे डूब गये है। एक अपूर्व अतीद्रिय आनदकी गभीरतामे डूबी दोनों बहने आगे बढती गईं।

× × × एकाएक उन्हे धुधलासा उजाला दीखा। बनके शाखा-जाल प्रत्यक्ष होने लगे। थोडी दूर और चलनेपर सामने मानो पृथ्वीका तट दीख पडा, और उसके आगे फैला है आकाशका नील और निश्चिह्न शून्य। उस शून्यमे दूरसे आता हुआ एक महाघोष सुनाई पडा। ज्यो-ज्या वे आगे बढ़ रही है वह महारव अपने प्रवाहमें टूटकर अनेक ध्वनियो मे बिखरता जा रहा है। पैर त्वरासे उस ओर खिचते जा रहे है—

चलकर उस छोरपर जब वे दोनो पहुंची, तो उन्होने अपनेको एक अतलांत खाईके किनारेपर खड़ा पाया। उत्तुंग पर्वत-मालाओके बीच

महाकालकी डाढ़-सी यह खाई योजनों के विस्तारमें फैली है। सामने पर्वतके सर्वोच्च शिखर-देशकी वनालीमेंसे घहराकर आता हुआ एक झरना, सहस्रों धाराओंमें बिखरकर, गगन-भेदी घोष करता हुआ खाईमें गिर रहा है। उसपरसे उड़ते हुए जल-सीकरोंके कुहासेमें उड़-उड़कर फेन, वातावरणको आर्द्र और धवल कर रहे हैं। अस्तगामी सूर्यकी लाल किरणें, दूर-दूरतक चली गई हरित-श्याम शैलमालाओंके शिखरोंमें शेष रह गई हैं। घाटियोंमें सायाह्नकी नीली छायाएं घनी हो रही हैं। दूर खाईके आर-पार उडे जाते पछियोंके पखोंपर दिनने अपनी बिदाकी स्वर्ण-लिपि आक दी है।

उस अपरिमेय विराटताके महाद्वारके समुख अंजना अपनी लघुतामें सिमट कर मानो एक बिंदु मात्र शेष रह गई! . . . पर अपने भीतर एक संपूर्ण महानतामें वह उद्भासित हो उठी। उसने पाया कि प्रकृतिके इस अखंड चराचर साम्राज्यकी वही अकेली साम्राज्ञी है। उसकी इच्छाके एक इंगितपर ये उत्स फूट पड़े है, उसकी उमंगोपर ये निर्झर और नदियां ताल दे रही हैं। उसके भ्रू-सचालनपर ये तुग पर्वत उठ खडे हुए है और आकाश-की थाह ले रहे हैं। एक अदम्य आत्म-विश्वाससे भरकर उसने पास खडी वसतको देखा। भयसे थर्राती हुई वसत मानो सफेद हो उठी थी। मृत्युके मुंहसे निकलकर अभी आई थी कि फिर यह दूसरा काल सामने फैला है। यहांसे लौटकर जानेको और कोई दूसरा रास्ता नही है, और न यहीं विरामकी सुरक्षा और सुगमताका आश्वासन है। हाय रे दुर्दैव. . . .!

एक लीलायित भगसे भौहें नचाकर हंसती हुई अंजना बोली—

"घबराओ नही जीजी, वे देखो नीचे जो गुफाएं दीख रही हैं, वही होगा हमारा आवास। आओ, रास्ता बहुत सुगम है, तुम आखें मींच लो!"

कहते हुए अंजनाने वसंतको छातीसे चिपका लिया। वह स्वयं नहीं जान रही है कि नीचे उतरनेका रास्ता कहां है और कैसा है। उस बीहड़

विभीषिकामे कही कोई रास्तेका चिह्न नही है। अंजना तो बस इतना भर जानती है कि उन नीचेकी गुफाओमें होगा उनका आवास, और वहा पहुंचना उनका अनिवार्य है। भयसे थर-थराती वसतको सीनेसे चिपकाये, उस कगारके ठीक किनारेसे एक बहुत ही सकीर्ण और खतरनाक राहपर वह चल पडी। कुछ दूर चलकर, झाडियोमें घुस उसने चट्टानोका एक रास्ता पकडा। और एकाएक वृक्षोकी वीथियोंमेंसे उसे दीखा—जैसे किसीने खाईके तलतक बड़ी ही सुगम, प्रकृत सीढ़िया-सी बना दी है, जिन-पर ऊपर से झर-झर कर नाग और तिलक वृक्षों की मजरिया बिछ गई है और लवग-लताओकी कुसुम-केसर फैली है। चकित होकर अंजना ने वसतसे कहा—

"देखो न जीजी, हमारे पथमे फूलोंकी सीढिया बिछ गई है!"

चौंककर वसतने देखा तो पलक मारतेमे पाया, जैसे स्वर्गके पटल सामने फैले है। सुख और आश्चर्यसे भरकर वह पुलक उठी, जैसे एक नये ही लोकमे जन्म पा गई है। गलबाही डालकर दोनो बहने बडे सुखसे नीचे उतर आई।

निर्झरके फेनच्छाय कुडमेंसे गुरु-गभीर नाद करती हुई पार्वत्य सरिता उफन रही है। तट-वर्ती काननकी गुफित निबिड़तामे होकर दूरतक नदीका प्रवाह चला गया है। राहमे पडनेवाले सैकडो ऊचे-नीचे पाषाण गह्वरोमे वह महा-घोष खड-खड होता सुन पडता है।

चट्टानोकी विषम भूमि कटितक ऊचे गुल्मोसे पटी हुई है। उन्हीमे होकर जल-सीकरोके कुहासेको चीरती हुई दोनो बहने आगे बढी। कुछ दूर चलनेपर झरनेके दक्षिण ओर वह गुफा दीखी, जिसे ऊपरसे अजनाने चीन्हा था। गुहाके द्वारमें जो दृष्टि पडी तो पलक थमे ही रह गये....

....एक शिलातलपर पल्यकासन धारण किये, एक दिगबर योगी समाधिमे मेरु-अचल हैं। बालक-सी निर्दोष मुख-मुद्रा परम शात है। ओठोंपर निरवछिन्न आनदकी मुस्कान दीपित है। श्वासोच्छ्वास निश्चल

हैं। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर है। मस्तकके पीछे उद्भासित प्रभा-मडलमें, गुफाके पाषाणोमें छुपे रत्न प्रकाशित हो उठे हैं। कुछ ऐसा आभास होता है जैसे ऋद्धियोके ज्योति-पुज, रह-रहकर मुनि के बाल-शरीरमेंसे तरंगोकी तरह उठ रहे हैं।

अजना और वसंतको प्रतीत हुआ कि जैसे उस दर्शन मात्रमे भव-भवके दु.ख विस्मरण हो गये हैं। दोनो बालाओके अग-अगमें सैकड़ो क्षतोसे रक्त बह रहे हैं। उन शिरीष-कोमल देहोपर लज्जा ढाकनेको मात्र एक तार-तार वसन शेष रह गया है। जटा-जूट बिखरे केश पत्तो, काटों और वन्य-फूलोसे भरे हैं। साश्रुनयन, विनत मस्तक कुछ क्षण वे खडी रह गई। फिर वे मानो असज्ञ होकर उस शिला-तलपर मुनिके चरणोमें आ पड़ी—और फूट-फूटकर रोने लगी।

सतप्त मानवियोकी आर्त्त पुकारसे मुनिकी समाधि भग हुई। ब्रह्म-तेज केंद्रसे बिखरकर—सर्वोन्मुख हो गया। निखिल लोकको वेदनासे मुनिका आत्मा सवेदित हो उठा। श्वासोच्छ्वास मुक्त हो गया। समताकी वह ध्रुव दृष्टि, एक प्रोज्ज्वल, प्रवाही शातिसे भरकर खुल उठी। मुनिने प्रबोधनका हाथ उठाकर मेघ-मद्र स्वरमे कहा—

"शात पुत्रियो, शात, धर्म-लाभ, कल्याणमस्तु!" दोनों बहनोंने अनुभव किया कि जैसे अमृतकी एक धारा-सी उनपर बरस पड़ी है। सारे ताप-क्लेश, पीडाए, आघात एकबारगी ही इन चरणोमें निर्वा-पित हो गये हैं।

तब वसत उठी और दोनो हाथ जोड सकरुण कठसे आवेदन किया—

"हे योगीश्वर, हे कल्याण-रूप, हे प्राणिमात्र मात्रके अकारण बधु, हम तुम्हारी शरण हैं। रक्षा करो, त्राण करो नाथ! मनुष्यकी जगतीमें हमारे लिये स्थान नही है। मेरी यह बहन गर्भिणी है। मिथ्या कलक लगाकर श्वसुर-गृह और पितृ-गृहसे ठुकरा दी गई है। इसके सकटोका पार नहीं है। इसका त्रास अब मुझसे नहीं सहा जाता है, प्रभो! मौतके

मुंहमें भी हम अभागिनोंको स्थान नही मिला। इस आत्मघातक यंत्रणासे हमें मुक्त करो, देव !—और यह भी बताओ भगवन् कि इसके गर्भमें ऐसा कौन पापी जीव आया है, जिसके कारण इसे ऐसे घोर उपसर्ग हो रहे है ?'

मुनि अवधि-ज्ञानी थे और चारण-ऋद्धिके स्वामी थे। अर्ध निर्मीलित दृष्टिमें मुनिने अवधि बांधी और मुस्कराकर वत्सल कठसे बोले—

"कल्याणी, शोक न करो। महेंद्रपुरकी—राजकुमारी अंजना लोककी सतियोमे शिरोमणि है ! विश्वकी किसी भी शक्तिके समुख, अजना त्राण और दयाकी भिखारिणी नही हो सकती। पूर्व सचित पापोंकी तीव्र ज्वालाओंने चारो ओरसे उसे आक्रात कर लिया है। पर उनके बीच भी निर्वेद और अजर शाति धरकर वह चल रही है। और इसके गर्भका जीव पापी नही, वह अप्रतिम पुण्यका स्वामी, लोकका शलाका—पुरुष होगा ! वह ब्रह्म-तेजका अधिकारी होगा। काम-कुमारका भुवन-मोहन रूप लेकर वह पृथ्वीपर जन्म धारण करेगा। वह अखड-वीर्य बाहु-बलि होकर समस्त लोकका हृदय जीतेगा। देवो, इद्रो और अहमींद्रोसे भी वह अजेय होगा। विश्वकी सारी विभूतियोका प्रभोक्ता होकर भी, एक दिन उन्हें ठुकराकर वह वनकी राह पकडेगा। इस जन्मके बाद वह जन्म धारण नही करेगा—इसी देहको त्यागकर वह अविनाशी पदका प्रभु होगा—अस्तु !"

वसतने फिर जिज्ञासा की—

"ऐसे प्रबल पुण्यका अधिकारी होकर वह जीव अपने गर्भ-कालमें अपनी माको ऐसे दारुण कष्ट देकर, आप भी ऐसी यातना क्यो झेल रहा है, भगवन् ?"

"कर्मोंकी लीला विचित्र है, देवि ! अपने विगतकी दुर्धर्ष कर्म-शृखलाओसे वह जीव भी तो बधा है। पर इस बार वह उन्हें छिन्न करनेका बल लेकर आया है। इसीसे उपसर्गोंसे खेलते चलना उसका स्वभाव

हो गया है। महानाशकी छायामें चलकर अपनी अविनश्वरताको वह सिद्ध कर रहा है, वत्से!—कल्याणमस्तु!"

कहकर योगीने फिर प्रबोधनका हाथ उठा दिया, और अपने आसनसे चलायमान हुए। अंजना बाहरसे नितांत अचेत-सी होकर भूमिपर प्रणत थी। पर अपनी भीतरी चिन्मयतामें इस क्षण वह योगीकी आत्माके साथ तदाकार हो गई थी। योगी जब गमनको उद्यत हुए तो अंजनाको एक आघात-सा लगा। आगे बढ़कर उसने गमनोद्यत योगीके चरण पकड़ लिये और आंसूभरे कंठसे विनती कर उठी—

"देव, शरणागता अनाथिनीको—इस विजनमें यों अकेली न छोड़ जाओ।....अब धीरज टूट रहा है, प्रभो!....मैं बहुत एकाकिनी हुई जा रही हूं....मुझे बल दो, प्रभो, मुझे शरण दो, मुझे अभय दो!"

योगी फिर मुस्करा आये और उसी अप्रतिम वात्सल्यके स्वरमें बोले—

"अंजनी, समर्थ होकर कातर होना तुझे नहीं शोभता। सब कुछ जानकर, तू मोहके वश हो रही है? शरण, लोकमें किसीको किसीकी नहीं है। आत्मामें लोक समाया है, फिर एकाकीपनकी वेदना क्यों? इसलिये कि लोकके साथ हम पूर्ण एकात्म्य नहीं पा सके हैं। उसीको पानेके लिये आत्मामें यह जिज्ञासा, मुमुक्षा और व्यथा है। उसी प्राप्तिका विराट द्वार है यह विजन। एकाकीपनकी इसी उत्कृष्ट वेदनामेंसे मिलेगी, वह परम एकाकारकी चिर शांति। उपसर्ग, कष्ट, बाधाएं जो भी आयें, अविचल उनमें चली चलो। यह तुम्हारी जय-यात्रा है—अंतिम विजय निश्चित तुम्हारी ही है। पर द्वार तो पार करने ही होंगे, परीक्षा तो देनी ही होगी। रक्षा और त्राण अपनेसे बाहर मत खोजो, वह अपने ही भीतर मिलेगा!—कल्याणमस्तु!"

कहकर मुनि निमिष-मात्रमें आकाश-मार्गसे गमन कर गये। आसन्न

रात्रिके घिरते अंधेरेको चीरती हुई प्रकाशकी एक रेखा वनातरको उजाला कर गई। दोनो बहनोने भीतर अपनेको प्रकृतिस्थ और स्वस्थ पाया। मुनिकी समाधिसे पावन उस भूमिकी धूलि लेकर उन्होने माथेपर चढ़ाई और उस गुफाको अपना आवास बनाया। उन्होंने पाया कि अपनी मोर-पिच्छिका और कमडलु मुनि वही छोड गये है, मानो बिना कहे रक्षाका कवच छोड गये है। दोनो बहनें अपने आपमे मौन सुख और आश्वासनसे मुग्ध हो रही। वसतने पिच्छिकासे गुहाकी कुछ भूमि बुहारकर स्वच्छ कर ली। फिर आस-पाससे कुछ तृण-पात तोडकर उसने अजनाके और अपने लिये शय्या बिछा ली। तदनतर कमडलु ले नदीके प्रवाहपर चली गई। स्वय मुह-हाथ धो जल पिया और अजनाके लिये कमडलुमे जल भर लाई।

दोनो बहनें निवृत्त होकर जब थकी-हारी अपनी तृण-शय्यापर लेट गई, तब रात्रिका अंधेरा चारो ओर घना हो गया था। शून्यमे साय-साय करता पवन रह-रहकर बह जाता है। जलकाही एक प्रच्छन्न अविराम-रव उस निर्जनतामे व्याप्त है, अन्य सारी ध्वनिया उसीमे समाहित हो गई है। रह-रहकर कभी कोई जल-चर विचित्र तीखा स्वर कर उठता है। दूर-दूरसे आती स्यालोकी पुकारें उस विजनको और भी भयानक कर देती है। अनागत उपसर्गोंकी अशुभ आशका पल-पल मनको थर्रा देती है। साय-साय करते ध्वातमे अनेक विकराल आकृतिया उठ-उठकर मनमे नाना विकल्प जगाती है। किसी अपूर्व आविर्भावका भाव चारों ओरके सघन शून्यमे रह-रहकर भर उठता है।

पचमीका चद्रमा दूर पर्वत-शिखरके गुल्मोंमेसे उग रहा है। अजनाको जैसे उसने मुस्कराकर टोक दिया—मानो कह रहा हो—क्या मुझे भूल गई ? अच्छी तो हो न ? बडा वक्र और खतर-नाक रास्ता चुना है तुमने—और उसीपर मुझे भी भेजा है—! विश्वास रखना उस राहसे च्युत नही हुआ हूं—जब तुम्हारी कामना-

की जय पा लूगा, तभी लौटूगा तुम्हारे पास—अभी ठहरना नही है . . . ।' फिर अंजनाने आकाशपर दृष्टि डाली : आगे-आगे योग-तारा ऊर्जस्व गतिसे ऊपर भागी जा रही थी, और पीछे उसे पकड पानेको बकिम चद्र दौड रहा था !—विरहकी शूल-शय्या फूलोंसे भर उठी। अजनाने सुखसे विह्वल हो, वसतको पास खीच, छातीसे दाब-दाब लिया। उस परम मिलनके सुखमें वह तल्लीन हो गई, जिसमे विच्छेद कभी होता ही नही है। और जाने कब दोनो बहनें गहरी नीदमे अचेत हो गईं।

× × × सवेरेकी ब्राह्म-बेलामे अजना फिर प्रभात-पछीका पहला गान सुनकर जाग उठी। कमडलुमेसे थोडा जल लेकर स्वच्छ हो ली और आत्म-ध्यानमे निमग्न हो गई। झरनेका अखड घोष भीतरकी प्राण-धाराका अनहद नाद हो गया। चिर दिनकी पाषाण-शृखलाओको तोडकर चला आ रहा है वह आलोक-पुरुष,—अरोक और अनिरुद्ध। इस जल-प्रवाहका निर्मल चीर वह पहने है, फेनिल, हलका और उज्ज्वल. . . .।

ऊषाकी पहली स्वर्णाभामे नहाकर प्रकृति मधुर हो उठी। शैल-घाटिया पछियोके कल-गानसे मुखरित हो गईं। झरनेकी चूडापर स्वर्ण-किरीट और मणियोकी राशिया लुटने लगी।

अजनाने भूमिपर आनत हो चारो दिशाओमें नमस्कार किया और धीर गतिसे चलकर, प्रवाहकी एक ऊची शिलापर जा बैठी। मन ही मन मुदित हो वह कह रही थी—' . . .यही है तुम्हारा राज-पथ ? इस अगम निर्जनमे, जहा मनुष्यके पद-सचारका कोई चिह्न नही, फैली है तुम्हारी लीला-भूमि ?—ओ कौतुकी, विचित्र है तुम्हारा इद्र-जाल ! ऊपरके शून्यमे महाकालका आतक अपनी बाहें पसारे है; वहां से इन खाइयोमे झाकते प्राण काप उठते है। और भीतर है यह देव-रम्य कल्प-काननकी मोहन-माया ! चारो ओर चल रहा है दिन-रात कुसु-मोत्सव। पहली ही बार आज तुम्हारे असली रूपको जान सकी

हूं, श्रो मायावी !—दु.खोंकी विभीषिकाश्रोंमें तुम पुकार रहे हो, मेरे सुदर !—और हम तुम्हें क्षणिक सुखोके छद्मावरणोंमें खोज रहे हैं. . . . ?'

. . . .वसंतको चिंता थी घर बसानेकी। सबसे पहले वह अजनाके लिये पान-भोजनका आयोजन किया चाहती है। अपार फैली है यहा प्रकृतिकी दाक्षिण्यमयी गोद। रसाने अपने भीतरके रसको यहां अक्षत धारासे दान किया है। पर्वतके ढालो और तटियोमे अनेक वन्य-फलोके भारसे वृक्ष लदे हैं। चारों ओर वहा रसवंती चू रही है। घूमती हुई वसंत वही पहुच गई। ताड और भोज-वृक्षके बड़े-बडे पत्तोमें वह यथा-वश्यक फल भर लाई। अशोककी एक-दो डाले लाकर उसने गुहा-द्वारके आस-पास मगल-चिह्नके रूपमे सजा दी। वन-लताओ और फूलोंसे अजनाकी शय्याको और भी सुखद और सुकोमल बना दिया। दूर-दूरकी घाटियोमे खोज-ढूढकर, विशद तनोंवाले वृक्षोंकी चिकनी और अपेक्षाकृत मुलायम छाले वह उतार लाई। आजसे यही होगे उनके वस्त्र। गुफामे लौटकर जब भीतरकी सारी व्यवस्था उसने कर ली, तब छाले लेकर वह प्रवाहपर जा पहुची और अंजनाको पुकारा। एक स्थलपर जहा धारा जरा सम थी, एक स्निग्ध शिलापर अंजनाको बिठाकर वह उसे स्नान कराने लगी। शीत-ऋतुका सवेरा काफ़ी ठडा था, पर धाराका जल ऊष्म और सुगधित था। बहुत-सा जल एक बार अजनाके शरीरपर डालकर, वसत बहुत ही सावधानीसे क्षतोपर लगे गाढ़े और रूखे रक्तको, डर-डरकर, रुक-रुककर, धोने लगी। हसकर अजना बोली—

"डरती हो जीजी, हैं. . . .ऐसे कहीं स्नान होगा। यह राज-मन्दिर का स्नानगृह नही है, जीजी, जहा सयत्न और सायास शरीरका मार्जन किया जाता है। यह तो प्रवाहकी—सर्व कलुष-हारिणी मुक्त धारा है, जो अनायास देह और देहीको निर्मल कर देती है। . . . .हा, जान रही हूं, तुम क्षतोके छिल जानेके भयसे डर-डरकर उगलिया चला रही

हो; पर किस कठोरतासे यह शरीर छिलना बाक़ी रहा है, जो तुम्हारी अगुलियोसे इसके क्षत दुख जायेंगे !"

कहकर अजना, वसतका हाथ खीच धारामें उतर गई। वक्षतक गहरे पानीमें जाकर अपने ही हाथोसे शरीरको खूब मल-मलकर वह नहाने लगी और वसंतको भी नहलाने लगी। जलकी उस ऊष्म-शीतल धारामें वे ऐसी क्रीड़ा-रत हो गई कि जैसे कल्प-सरोवरमे नहाकर अपने सारे घाव, क्लाति और श्रातिको भूल गई हो। मन भर नहा चुकनेपर, उन्होने कटिपर के जर्जर मलिन, वसन दूरके गुल्म-जालोमे फेंक दिये। निर्वसन, नग्न, प्रकृतिकी वे पुत्रिया, मुखपरसे केश हटाती हुई, अपने तरु-छालोके नवीन वसनोको खोजने लगी। मनमे कोई लज्जा, मर्यादा, कोई रोक-सकोच का भान ही मानों नही है। वल्कलोको शरीरपर लपेट, जब धूपमे वे अपना तन और केश-भार फैलाकर सुखा रही थी, तभी एकाएक उन्होने शरीरमें एक ऐसी अद्भुत शाति और आरोग्य अनुभव किया, कि अचरजसे भरकर वे एक दूसरेको देखती रह गई।

"ओ जीजी, यह क्या चमत्कार घटा है, ज़रा तुम्ही बताओ न! कहा गये है वे सारे घाव जिनसे काया कसक रही थी ?"

बालिका-सी कौतूहलकी चचल दृष्टिसे अजना पूछ उठी।

"सचमुच, अजन, लगता है कभी कोई क्षत मानो लगा ही नही है। झरनेके पानीमे अनेक वनौषधियो और धातुओका योग जो हो जाता है, उसीसे जाने कितने न गुण इस जलमे आ गये है, सो क्या ठीक है।"

गुफ़ापर आकर वन-कदलीके पत्तोसे दोनोने अपने वक्ष-देश बांध लिये। वसतने उगलियोसे सुलझाकर अंजनाकी उस अबध्य केशराशिको फिर एक बड़ेसे जूड़ेमें बाधनेका एक सफल-विफल यत्न किया। उसके दोनो कानोंमें एक-एक कुसुमकी मजरी उरस दी। फिर दोनों बहनें अपूर्व सुखका अनुभव करती हुई, फलाहार करने बैठ गई।

[२७]

उस दिन बनके गहनमें यो नया जीवन आरंभ हो गया। अंजना बन-भ्रमणको चली जाती और वसन्त जीवनकी आवश्यकताए जुटानेमे रत रहती। आविष्कारकी बुद्धि उसकी पैनी हो चली है। जीवनके एक सुघर शिल्पीकी तरह उस गुहामे उसने धीरे-धीरे एक घरका निर्माण कर लिया। मोटी छालोके टुकडोको खोदकर दो-चार पात्र भी बना लिये गये हैं। नारियलकी छालोसे उसने अजनाके और अपने लिये पादुकाएँ बना ली है। कासकी सीकोको आपसमे बुन-बुनकर अजनाके लिये उसने एक मसृण और सुख-स्पर्श शय्या बना दी है। सांझके झरे हुए फूल अथवा केसर, फूल-बनोसे लाकर वह उसकी शय्यामें डाल देती। धीरे-धीरे उसने कासके फूल, कमल-नालोके ततु और तरु-छालोके कोमल रेशोसे बुनकर अजनाके लिये कुछ वसन भी बना दिये हैं। चवरी गायोंके चवर जगलमेसे बीन लाकर उन्हें पानीसे जमा-जमाकर कुछ ओढनेके आस्तरण बन गये हैं। पर ऋतुके आघातसे बचनेके ये साधन अजनाको कुछ बहुत रुचिकर नही हैं, इसीसे वे एक ओर पड़े हैं। प्रसवके दिन ज्यो-ज्यो निकट आ रहे हैं, वसतके मनमे उत्सव और मगलके अनेक आयोजन चल रहे हैं। सवेरेके भोजन-पानसे निवृत्त हो, वनके दूर-सुदूर प्रदेशोंमे वह खोज-बीन करती चली जाती है। वन्य-सरोवरोसे कमलोका पराग और केसर पा जाती है तो कभी अजनाको उसीमे स्नान कराती है। फूलोकी रेणुसे वह उसका अग-प्रसाधन कर देती है। पहाडोमे झरते सिंदूरसे उसकी माग भर देती और लिलारमे पत्र-लेखा रच देती है। मृग-काननसे कस्तूरी और कदली-वनसे कर्पूर पा जाती है तो उससे अजनाके केश बसा देती है। कानोमे उसके नीप-कुसुम और सिंधुवारकी मजरियां उरस देती। केशोंपर, हस्ति-वनोसे मिलनेवाले गज-मोतीकी एकाध माला अथवा फूलोका मुकुट बनाकर बाध देती है। सारा सिंगार हो जानेपर वह अजनाकी लिलार सूघकर दुलार-के आवेगमें उसे चूम लेती।

तब चाहकर भी उससे बोला न जाता, मन उसका भर आता। केवल अजनाकी ओर देख अतरके घने और प्रच्छन्न स्नेहसे मुस्करा भर देती।

... और सुहागिनी अंजना भावी मातृत्वके गभीर आविर्भावसे नम्रीभूत हो जाती। सिंगार-प्रसाधन अजनाकी प्रकृतिमें कभी नही था, और आज तो वह उसे सर्वथा असह्य था। पर भीतर ही भीतर वह समझ रही थी कि यह सिंगार अंजनासे अधिक, उस अनागत अतिथिके स्वागतमें उसकी माताका है। तब उसको सदाकी निरी बालिका प्रकृति उस मातृत्वके बोधसे आच्छन्न होकर जैसे क्षण भरमे तिरोहित हो जाती। वह नीचा माथा किये ससकोच सब-कुछ करा लेती। और तब चली जाती वह अकेली ही अपने भ्रमणके पथपर—वनके अत पुरोमे। किसी वन्य-सरसीके निस्तब्ध तीरपर, किसी शिलातलपर जा बैठती। उसके स्थिर जलमे अनायास अपना प्रतिबिंब देख, वह अपनेसे ही लजा जाती।—वनकी शाख-शाख और पत्ते-पत्तेसे वह कौन झाक उठा है ? अपनी ही छबि नव-नवीन रूप धरकर अपने ही भीतरके रमणमे लीलायित है। समर्पणकी विह्वलता जितनी ही अधिक बढती जाती है, रूपकी सीमा लय होती जाती है। और तब आ पहुचता है अनत विस्मृतका क्षण . .

... दूर-दूरकी कदराओ, घाटियो और गिरि-कूटोसे मुनिकी भविष्य-वाणी गूजती सुनाई पड़ती है। और नदी-प्रवाहके किनारे-किनारे चलती अजना, दूर-दूरके अज्ञात प्रदेशोमे भटक जाती है।

ज्यों-ज्यो यह पहाडी नदी आगे बढती गई है, तलहटीका प्रदेश अधिकाधिक विस्तृत और रम्य होता गया है। आगे जाकर नदी वृक्षोकी सकुलता और पाषाणोकी बीहडतासे निकलकर, खुले आकाशके नीचे खूब फैलकर बहती है। उसके प्रशस्त ऊर्मिल वक्षपर गिरि-मालाए अपनी छाया डालती है। किनारे उसके विपुल हरियाली और स्निग्ध वन-राजिया दूरतक चली गई है।

मध्याह्नका सूर्य जब माथेपर तप रहा होता, तब अजना वन-श्रीके बीच किसी उन्नत शिलापर आकर लेट जाती। राशि-राशि सौंदर्य और यौवनसे भरी धरणी सुनील महाकाशके आलिंगनमें बँधी, एक-बारगी ही अंजनाकी आखोमे झलक उठती। अनेक रगोका लहरिया पहने पृथ्वीके चित्र-विचित्र पटल दूर-दूरतक फैले हैं, और उनमें धुघली होती वृक्षावलिया दीख पडती हैं। दोनो ओर दिगतके छोरोतक चली गई हैं ये शृग-लेखाए। और इस सबके बीच नाना अंगोंमें अग तोडती अजस्र चली गई है यह नदी सुनील धारा। अंजनाका सारा अन:करण इस नदीकी लहरोमे नाचता चला जाता है : वहा—जहा एक गहरी नीली धुधके रहस्यावरणमे पृथ्वीकी विचित्र रूपमयता, आकाशकी एक-रूपतामे डूब गई है ! क्षितिजकी रेखा भी वहा नही दिखाई पड़ती....

प्रकृतिकी अपार रमणीयता एक साथ अजनाकी शिरा-शिरामें खेलने लगती। अगड़ाइया भरती हुई वह उठ बैठती। अपराजित यौवनसे वक्ष उभरने लगता। दिशाओकी बादल-वाहिनी दूरी उसकी आखोमे सपने भर देती। चचल दुरत बालिका-सी वह चल पडती। नाना लीला-विभ्रमोमे देहको तोड़ती-मरोडती, शिलाओ और गुल्मोके बीच नाचती-कूदती, वह नदीके पिंगल बालुकामय तटपर आ जाती। कासके अतरालमे लहरे बिछल रही हैं और किरणे नदीकी मागमे सोना भर रही हैं। कुछ दूर चलकर नदीके पुलिनमे लवली-लताओके कुज छाये हैं। किसी तटवर्ती वृक्षके सहारे, दो-चार विरल वल्लरिया नदीकी लहरोको चूमती हुई झूल रही हैं। उनमे बैठी कोई एकाकी चिडिया दुपहरीका अलस गान गा रही है। और भीतर लवली-कुजकी गध-विधुर, मदालस छायामे, सारसोका युगल, कुसुमकी शय्यापर केलि-सुखमें मूर्छित है। ऊपरसे निरतर झरती परागकी चादरमे वे एकाकार हो गये हैं।.. अजना जैसे उनके रति-सुखके गहन मौनमे होकर चुप-चाप

छाया-सी निकल जाती। वह नही होती उनके सुखकी बाधा, वह तो उसीकी एक हिलोर बनकर उसमे समा जाती।

अमित उल्लाससे भरकर वह आगे चल पड़ती। कही तटवर्ती तमालोंकी घटामें मेघोके भ्रमसे विकल और मुग्ध होकर चातक कोलाहल मचा रहे हैं। कही हरित मरकतसे रमणीय वृक्ष-मडप हारीत पक्षियोके गुजारसे आकुल हैं। चपक-कुजोकी शीतल छायामे भृग-राज पक्षी, ऊपरसे झरती परागके पीले आस्तरणमे उन्मत्त पडे हैं। घने अनारोके पेडोकी कोटरोमे चिड़ियाएँ अपने सद्य-जात शिशुओंको पखोंसे ढाककर सहलाती और प्यार करती हैं।....अजनाको लगता कि वक्षपर बधे वल्कलके भीतर एक लौ-सी जल उठी है। भीतरसे निकलकर अनरकी एक ऊष्मा मानो आस-पासकी इन सारी चेष्टाओको अपने भीतर ढाक लेना चाहती हैं। कही कबूतरोके पखोकी फड-फडाहटसे सुर-पुन्नाग-की कुसुम-राशिया झर पडती हैं। अजना चौकन्नी होकर अपने शरीरको देखती रह जाती है। पराग और अनेक वर्णी फूलोकी केसरसे देह चित्रित हो गई हैं। वह तलमे बैठ जाती हैं, और ऊपरसे झरते फूलोकी राशियोको अपनी बाहोमे झेल-झेलकर उछाल देती हैं। कबूतरोंमे लीलाका उल्लास बढ जाता हैं, वे और भी ज़ोर-ज़ोरसे शाखाएँ हिलाकर ऊधम मचाते हैं। नीचे फूलोकी वर्षा-सी होने लगती हैं। अजना उस कुसुम-चित्रा भूमिमे लोट जाती हैं। उसकी सारी देह फूलोकी राशिमे डूब जाती है। फिर कबूतर नीचे उतरकर उसकी निश्चल देहपर, कूद-कूदकर खेल मचातेहै धीरे-धीरे वे कबूतर उससे हिल चले थे। उसके केशो और कधोपर वे जहा-तहासे उडकर आ बैठते। कथ्थई, नीले, भूरे, जामनी कबूतरोके अलग-अलग नाम अंजनाने रख दिये थे। कहीं भी दूरकी डालपर कोई कबूतर दीख जाता तो अंजना नाम लेकर पुकार उठती। कबूतर उड़कर उसकी फैली हुई भुजापर आ बैठता और उसके कठमें चोंच गड़ा-गड़ाकर, परिष्वंग करता हुआ गुटुर-गुटुर करने लगता।

सिंधु-वार और वासती वृक्षोके शिखरोमें चित्र-विचित्र मैनाएँ ग्राती; और सामनेके शिशपा और मधूक वृक्षोकी डालोपर तोतोका जमघट हो जाता। जाने कितनी जल्पनाम्रो और गानोमे उनका वार्तालाप होता। सारी वन-भूमि नाना ध्वनियोसे मुखरित हो उठती। दोपहरीकी अलस स्तब्धता भंग हो जाती। अजनाका मन अर्थ-हारा और नि.शब्द होकर इस अखड भाषाकी एकताके बोधमे तल्लीन हो जाता।

पर्वतके पाद-मूलोमे ऊपरसे ग्राती पानीकी झरियोसे सिंचकर फलोंके नैसर्गिक बाग झुक आये हैं। फलोंके भारसे नम्र वहांकी भूमि-शायिनी डालोंको देख अजनाको अपना चाचल्य और उच्छ्लता भूल जाती। उसका अग-अग उमड ग्राते रस-सभारसे शिथिल और ग्रानत हो जाता। शिरा-शिरामे ग्रात्मदानकी विवश ग्राकुलता घनी होती जाती। एक अनिवारित ज्वारके हिलोरोसे स्तन उफना ग्राते। बन-कदलीका कंचुकि-बध छिन्न होकर अनजाने ही खिसक पडता। उवासिया भरती हुई अलस और विसुध होकर वह उस फल-विचुबित भूमिपर अपनी देहको बिछा देती। विपुल फलोंके झुमकोसे झुक ग्राई डालोको अपने स्तन और भुजाग्रोके बीच वह दाब-दाब लेती, ग्रोठो और गालोंसे सटाकर उन्हें चूम-चूम लेती, पलक और लिलारसे उन्हें रभस करती। उसे लगता कि पृथ्वी अपने सपूर्ण ग्राकर्षणसे उसे अपने भीतर खीच रही है, और उतने ही अधिक गभीर सवेगसे दानका अनिवारित स्रोत उसके वक्षमेसे फूट पडनेको विकल हो उठता। एक-बारगी ही फलोका समूचा बाग इस रस-सधानसे सिहर उठता। ऊपरकी शाखाग्रोमे अलस भावसे फला-हार कर रहे वानरोकी सभा भग हो जाती। शाखा-प्रशाखामे कूदते-फादते वे तलमे ग्रा पहुँचते। शुरूमे तो कुछ दिन वे अजनासे डरकर दूर भाग जाते, पर अब वे उसे चारों ग्रोरसे घेरकर बैठ जाते हैं। अजनाके उस गोरे और सुकोमल शरीरको अपने तीखे नखोवाले काले पजोसे दुल-रानेका मुक्त अधिकार वे सहज पा गये थे। पायताने बैठ कुछ वानर उसके

पैर दाबने लगते। उनमेंसे कुछ सिरहाने बैठकर उसके दीर्घ और उलझे केशोंको अपने उगलियोसे सुलझाने लगते। कुछ ऊपरकी डालसे तोडकर, एकाध फल उसके ओठोसे लगाकर उसे खिलानेकी मनुहार करते, और उसके वे हठीले सहचर तबतक नही मानते, जबतक उनके हाथसे वह दो-चार फल खा न लेती। हस-हसकर अजनाके पेटमे बल पड़ जाते—और सारी देह उसकी लाल हो जाती। जाने कैसे प्रणय और वात्सल्यकी मिश्र लज्जा और विवशतासे उसका रोया-रोया उभर आता। आखे मूंदकर उनके तीखे नखवाले पजोंको अपने उद्भिन्न स्तनोसे अनजाने ही दाब लेती। भीतरकी घुडियोसे बिखरकर रक्त जैसे किसी अनायास क्षतमेसे बह आनेको उच्छल हो उठता। कालके जाने किस अविभाज्य अशमे एक-बारगी ही वह उन सबकी जननी और प्रणयिनी हो उठती।

....द्राक्षके कुजो और कदली-वनोमे नील-कठ और पीत-कठ पक्षियोके आवास हैं। अलसाती और उवासिया भरती अजना वही पहुचकर दोपहरीका शेष भाग बिताती। उन पक्षियोके घोसलो तले लेटते ही, उसे नीद लग जाती। निश्चित और अभय होकर रग-बिरगे पछी आकर उसकी देहपर फुदकते और क्रीडा करते। रह-रहकर अजनाकी नीद भग हो जाती। पर बनके इन सलोने राज-कुमारोको जब चित्र-विचित्र पखोकी माया फैलाकर अपने ऊपर निछावर होते देखती, तब उनके आनदमे आप भी चुप-चाप योग देनेके सिवाय वह और कुछ न कर पाती। उनकी नाना तरहकी बारीक बोलियोमे सुर मिलाकर वह भी उनसे कुछ बोलती-बतराती। और उस आनदकी अर्थ-हीन निष्प्रयोजन तुतलाहटमे मनके जाने कितने अनिर्वचनीय भाव और सदेशे वह उन पछियोके अज्ञान मनोमें पहुँचा देती। यह ऊपरका स्वरालाप तो एक लीलाभर थी, पर भीतरके वेदन-सवेदनमे होकर प्राणका सगोपन जाने कब हो गया था, सो कौन जान सकता है ?

....उपत्यकाके प्रदेशमे कही वेतसकी बेलोंके प्रतानोंमें घने बांस

हैं। कही शाल्मली और शाल वृक्षोकी क़तारें मडलाकार सहेलियों-सी एक-दूसरेसे गुथी खड़ी हैं। यहां आते ही अंजनाको वे बालापनके दिन फिर याद हो आते—वे रास, नृत्य और झूमरे, वे सखियोके साथ बांहसे बांह गूथकर होनेवाली गोपन-वार्ताएं, वे किशोर मनके छल-घात और जिज्ञासाएं, वे भीतर ही भीतर कसककर रह जानेवाले अबोध प्रश्न!—आखोमे आसू अनजाने ही उभर आते—। उन वृक्षोंकी गुथीडालोंमे झूलती हुई फिर एक बार आख मूदकर वह झूमर-सी ले उठती।—हिंडोल भरे रागका स्वर कठमे आकर रुंध जाता। वृक्षोंकी अलस मरमराहटमें होकर फिर वह क्षण कालके उसी अतीत तीरपर लौट जाता। वह फिर वैसी ही बिछुड़कर अपने अकेलेपनमे डोलती रह जाती। तभी उन शाल और शाल्मलियोंके अतरालमें झाकता कोई वन्य-सरोवर उसे दीख पड़ता। उसके किनारे शिलाओके नैसर्गिक और रम्य घाट बने हैं। ऊपर बकुल और केतकीकी झाडिया झुक आई हैं। उनमे झरते पराग और फूलोसे तालकी सीढ़ियां ढकी हैं। पानीकी सतह भी उससे दूर-दूरतक छा गई हैं। तो कहीं उस दूसरे किनारेपर हरसिंगार और गुलमौर झर-झरकर तटकी सारी भूमि और किनारेका जल-प्रदेश केशरिया हो गया हैं। इसी घाटमे बैठकर अजना अपना तीसरा पहर प्राय. बिताया करती। यह केशरिया भूमि देख उसे लगता कि जाने कब, जाने किसी अमर सुहागिनीने अपने प्रियके साथ इस एकात तटमे रमण किया होगा। और उसी सौभाग्यके चिह्न स्वरूप आज भी यह भूमि उसके चिर नवीन सौंदर्यकी आभासे दीप्त है। उस अविजानित अमर सुहागिनके उस लीला-रमणके साथ तदाकार होकर वह जाने कब तक उसे भूमिमे सोई पडी रह जाती। शाल और सल्लकीकी सुगंध-निबिड़ छायामें प्रमत्त होकर वहां जगली हाथी और हथनियोके झुड दिनभर ऊधम मचाते रहते। कभी-कभी वे तालाबमें आ पडते और तुमुल कोलाहल करते हुए, सूण्डों में पानी भर-भर कर चारो ओर की वन-भूमि में फ़व्वारे छोड़ते।

जब वे पानीकी बौछारें और उनकी क्रीड़ाका जल उछलता—तो उसमें नहाकर अजना अपनेको कृतार्थ पाती। हर्षसे किलकारियां करती हुई वह भी उनके क्रीड़ा-कलरवकी सहचरी हो जाती। हाथियोंके गालोंसे निरतर झरते मद-जल और शैवाल-पल्लवोंसे आस-पासकी बन-भूमि श्याम हो गई है। हस्ति शावकोंके साथ वहा तालियां बजा-बजाकर वह आख-मिचौनी खेलती। जब वे थल-थल दौडते हुए हस्ति-शावक अजना-को पा जाते तो अपनी सम्मिलित सूडोंसे पकडकर उसे अपनी पीठपर बैठानेकी होडा-होड़ी करते।

पहाडके ढालोंपर भोज, सप्त-पत्र, सुपारी और कोष-फलकी वन-लेखाएं, अनेक सघन बीथियां बनाती हुई ऊपरतक चली गई हैं। कहीं-कहीं सारा पहाड चदनके वनसे पटा है। तो कही लवग और किशुकसे पर्वत-पाटियां आच्छादित हैं। दिन-रात सुगधसे पागल समीरण पर्वत-ढालोंमें अध-सा बहता रहता है। भ्रमरोके अलस गुजार और रह-रहकर उठनेवाली पत्रोंकी मर्मर उच्छ्वासमें बनके प्राणका मर्म-सगीत निरतर प्रवाहित है।

अरोक अजना ढालोंकी उन बीथियोंमें चलती जाती। और चलते-चलते जहा कही भी उसे किसी अगम्यताका बोध होता, कोई रहस्य-मय या सकुल प्रदेश दीखता, उस ओर वह खिंचती चली जाती। निबिड वनस्पतियोंसे घनीभूत घाटियोंमें जहा पैर रखनेको भी राह नही सूझती है, वह झाड़-झखाडोंको लाघती-फांदती चली ही जाती। चारो ओर दिनके प्रखर उजालेके बीच वह अधेरी गुहा दिखाई पड रही है। मानो असख्य रात्रियोंका पुंजीभूत अधकार वहीं आकर छुप गया है। गुफ़ाकी अतल गंभीरतामेंसे कुछ घहराता, गरजता सुनाई पडता है। देखते-देखते वह ऊचा और मंद गर्जन, दुस्सह और भयानक हो उठता। बन-भूमि थर्रा उठती। और अंजनाको एक सोनहरी झलक झंखाड़ोंमेंसे ओझल होती दीख पड़ती। तो कहीं झाड़ियोंमें डूबे उसके पैरोंमें, कोई विपुल

लोमका स्पर्श उसकी पिंडलियोको सहलाता हुआ सरंसे निकल जाता ! फिर सब शांत हो जाता। वह फुदकतो, कूदती अपनी राह लौट आती। शरीरमें रह-रहकर एक सिहरन-सी फूट उठती है। वह पुंजीभूत अंधकार, वह सोनहरी झलक, वह लोम-स्पर्श फिर पैरोको पीछे खींचता है—कि वह जाने तो,—कौन रहता है वहा... ? उससे साक्षात् करनेकी उसको बडी इच्छा है। पर अब देर हो गई है, शाम हो आई है, जीजी बाट देखती होगी। लेकिन जरा आगे चलकर रास्तेमें उसे मरे हुए हाथियोकी लाशें मिलती हैं। उसे अनुमान होता है कि किसके आवाससे लौटकर वह आई है—! ईषत् मुस्कराकर वह अपनी ही खिल्ली उड़ा देती। सिंहके पजोंसे विदारित हाथियोके कुभस्थलोके रक्तमें पड़े अनेक रगोकी आभावाले मोती राहमें दिखाई पड़ते हैं। तो कही ढालमें जल-धाराओंके सूखे पथ दीखते हैं। उनमें ऊपरसे बह आई बहुरगी बालू और उपलोमे स्वर्णकी धूलि और रत्नोके कण चमकते दीख पड़ते हैं। उन मोतियो और स्वर्ण-रत्नकी धूलिको खेल-खेलमें पैरोसे उछालती हुई अजना द्रुत पगसे पहाड उतर चलती।

लौटते हुए राहमें वह चदनका बन पड़ता है। रातमें चादकी किरणोके स्पर्शसे चद्रकात शिलाएं पर्वत-शिखरपर पिघलती हैं। वहासे जलके निर्झर बहते रहते है। उस जलके सिंचनसे बनौषधिया दिव्य हो गई हैं। चदन-वनके काले भुजग उन औषधियोके जालोमें घूम-घूमकर निर्विष हो गये हैं। उनकी मणिया यहां सहज प्राप्त चारो ओर बिखरी मिलती है। रलमलाते हुए साप पैरोके पाससे निकल जाते हैं—अजना रुककर, देखने लग जाती है—तभी फन उठाकर मणि-धर भुजग वदन करता है। वत्सल-स्निग्ध नयनोंसे मुस्कराकर वह उसके फनपर हाथ रख देती और आगे बढ़ जाती।

× × × अजना अपनी गुफ़ाको लौटती हुई रास्तेमें सोचती : सृष्टिमें चारों ओर दान और दाक्षिण्यका मुक्त यज्ञ चल रहा है। सभी

अपने आपको दानकर यहां सार्थक हो रहे है। अभिमान यहां चूर-चूर होकर भूमिसात् हो जाता है। चारों ओर फैली पडी है दानकी अमूल्य निधियां। सर्व-काल वे सुलभ और सुप्राप्त हैं। पर नही जागता है उन्हें उठाकर पास रखनेका लोभ। सब-कुछ यहां सदा अपना है। सहज ही एक भाव मनमें विराजता है : इस भीतर और बाहरके समस्त चराचर के हमीं जैसे निर्बाध स्वामी हैं। यह सब हममें हैं, और हम इस सबमें कहां नहीं है? फिर लोभ कैसा, हिंसा क्यो, सग्रहका भाव क्यों?

× × × एक दिन ऐसे ही अपने भ्रमणमें अजना वसंतको साथ लेकर एक पर्वत-घाटीमे घूम रही थी। नाग और तिलक वृक्षोंसे ढाल पटा था। उनकी जड़ोंमें उगकर वन-मल्लिकाओंके वितान चारों ओर छा गये थे। एक जगह भूरे पाषाणोंकी कुछ सीढ़ियां दीखीं। आस-पासकी ऊंची-नीची चट्टानोमें किंशुककी लाल परागमें भीगे चकोरोंके जोड़े बैठे थे। चट्टानके एक पटलमे एक चतुष्कोण गहराई-सी दीखी। ऊपर जाकर पाया कि उसमें मल्लिकाके फूलोका एक स्तूपाकार ढेर समाधि-सा पड़ा है। उसके ऊपर एक मस्तककी आकृति-सी झांकती दिखाई पड़ी। उत्सुकतावश अजनाने वह मल्लिकाके फूलोका स्तूप हटा दिया।— भीतरसे एक बडी ही मनोज्ञ, विशाल पद्मासन मूर्ति पहाड़में खुदी हुई निकल आई। मूर्ति अनेक पानीकी धाराओं और ऋतुओंके आघातोंसे काफ़ी जर्जर हो चुकी थी। पर उस मुखकी कोमल, सौम्य भाव-भंगिमा और उन मद्रित ओठोंके बीचकी वीतराग मुस्कान अभी भी अभंग थी। लगता था कि मूर्तिके ये ओंठ जैसे अभी-अभी बोल उठेंगे। ऐसी जीवंत और मनोमुग्धकारी छवि है कि आंख हटाये नहीं हट रही है। उसके पाद-प्रांतमें एक हरिण चिह्नित था।.... तीर्थंकर शांतिनाथ! अंजना तो देखते ही हर्षसे पागल हो उठी। मनमें गानकी तरह एक भाव उच्छ्वसित हुआ—जो अनायास उसके ओठोंसे उत्सकी तरह फूट पड़ा—

"....कौन सर्वहारा शिल्पी, किस दिव्य अतीतमें आया था—

इस मानव-हीन अगम्य पार्वत्य भूमिमें ? किस दिन उसने महाकाल-की धारामें अपनी टाकीका आघात किया था ?—पाषाणकी इस वज्र-कठोरतामें अपनी आत्माकी सारभूत कोमलताको वह आंक गया है ! मानवकी जगतीसे ठुकराई हुई हृदयकी सारी स्नेह-निधि वह एकांतके इस पाषाणमें उड़ेल गया है ।—मल्लिकाकी शाखाओंमेंडोलती हुई हवायें इसपर निरतर फूलोके अर्घ्य चढाती है, और शिखरपरसे आती जल-धारायें इसका अभिषेक करती है। उस अज्ञात शिल्पीको शत-शत बार मेरे वदन है. . . .!"

पास ही बह आये धातु-रागसे अजनाने अपने मनका वह गान नीचेकी चट्टानपर लिख दिया। उस दिनके बादसे अनुक्षण यह गान अजनाके कठमें गूजता ही रहता। उसी क्षणसे वह स्थल अजनाकी आराधना-भूमि बन गया। सवेरेके स्नानके बाद यही आकर दोनों बहने पूजा-प्रार्थनामें तल्लीन हो जाती। अजनाके कंठसे नित्य-नवीन गान फूटता। झाडकी शाखाको धातु-रागमें डुबाकर अपना गीत वह किसी भी शिलापर अकित कर देती। मूर्तिके पादमें अपना गान निवेदन करती हुई अजना नत हो जाती और दूर-दूरकी कदराओमे उसकी प्रतिगूज अनत होती चली जाती। दोनों बहनोकी मुदी आखोंसे आसू झरते और भीतर मूर्तिकी स्मित अधिकाधिक तरल होकर फैलती जाती। एकाएक वे ओंठ स्पदित होते दीख पड़ते और अंजनाके अतरमें वाङ्मयकी धाराए फूट निकलती। गुहामें लौट, उपलके पात्रमे सिंदूर और स्वर्ण-राग लेकर, वह भोज-पत्रोंके पन्नेके पन्ने रग डालती। वह क्या लिखती थी, यह तो वह स्वय भी नही जानती थी। देवकी वाणी आप ही उन निर्जीव पन्नोमे ढल रही थी।

यो दिन सुखसे बीतते जाते थे। समयका भाव मनपरसेतिरोहित हो गया था। जोवन प्रकृतिके आंचलमें आत्मस्थ और एकतान होकर चल रहा था। पर रातके अधकारमे विचित्र जतुओंकी आखें

झाड़-झखाडोंमें चमकती और दहकती दीखती। कभी-कभी वन्य-पशुओंकी भीषण हुंकारें सुन पडती। दोनो बहनें एक-दूसरेसे लिपट जातीं। उच्च स्वरमें अजना अपने रचे स्तवनोका पाठ करती और यों भयकी घडियां टल जाती। वे अचेत होकर नीदके अकमें पड़ जाती।

एक दिनकी बात . ऊपर मध्याका आकाश लाल हो रहा था। अपने फलाहारसे निवृत्त होकर अंजना और वसत अभी-अभी गुफ़ाके बाहर आकर खडी हुई थी।—कि एकाएक दहाडता हुआ एक प्रचंड सिंह प्रवाहके उस पार आता हुआ दिखाई पड़ा। सोनहरी और बिपुल उसकी अयाल है। उस प्रलब पीली देहपर काली-काली धारियोंके जाल हैं। काल-सी क्रूर उसकी भृकुटिके नीचे अगारो-सी लाल आखे झग-झग कर रही हैं। विकराल डाढ़ोमें उसकी रौद्र जिह्वा लप-लपा रही है। उसकी प्रलयकारी गर्जनासे चारो ओरकी बन-भूमि आतकसे थर्रा उठी। पशु-पक्षी आर्त क्रदन करते हुए, इधरसे उधर झाडियोमें दौड़ते दीखे। एक और लोम-हर्षी हुकारके साथ सिंह प्रवाहको लाघकर ठीक गुहाके नीचे आ पहुँचा। सामने ही उन मानवियोको देखकर वह और भी भीषणतासे डकारने लगा। एक छलाग भर मारनेकी देर है कि अभी-अभी वह गुफ़ामें आ पहुँचेगा, और इन दोनो मानवियोको लील जायगा। वसंत अजनाको छातीमें भर, भयसे थर्राती हुई गुफाकी दीवारमें धसी जा रही हैं। उसे अनुभव हुआ कि अजनाके गर्भका बालक तेज़ीसे घूम रहा है। मन ही मन वह हाय-हाय कर उठी—'हे भगवान्! यह क्या अकांड घटने जा रहा है ?—क्या इन्ही आखोसे यह सब देखना होगा ? अजनाने समझ लिया कि मृत्युका यह क्षण अनिवार्य है। दोनोकी आखोमें लुप्त होती चेतनाके हिलोरें आने लगे। मृत्युकी एक विचित्र-सी गंध उसके नाकमें भरने लगी। एकाएक अजना बोल उठी—

"जीजी, मृत्यु समुख है!—कायाका मोह व्यर्थ है इस क्षण—आत्माकी रक्षा करो। आर्त्त-रौद्र परिणामोंसे मनको मुक्तकर इस मृत्युके

संमुख अपनेको खुला छोड दो। रक्षा इन पाषाणोंमें नही हैं—अपने ही भीतर हैं! देर हो जायगी, जीजी, कायोत्सर्ग करो. . . ."

कहकर अजना अपने स्थानपर ही प्रतिमा-योग आसन लगाकर प्रायोपगमन समाधिमे लीन हो गई। दृष्टि नासाग्र भागपर ठहराकर, श्वासोच्छ्वासका निरोध कर लिया। देह विसर्जित होकर, निश्चेष्ट निर्जीव पिंड मात्र रह गया। अपने ध्यानमें, पर्वत-घाटीके प्रभुके चरणोंमें उसने अपने प्राणोको अर्पित कर दिया। वसंत भी ठीक उसका अनुसरण करती हुई उसके पास ही आसीन थी। उस योगमें दोनो बहनोंके चेतन तदाकार हो गये।—एकाएक उनकी ध्यानस्थ दृष्टिमे झलका: एक दीर्घाकार अष्टापद जिसकी सारी देह सोनहली है और उसपर सिंदूरी और काले धब्बे हैं, गुफ़ाके दूसरी ओरसे हुकारता हुआ कूद पड़ा। भैरव गर्जनो और डकारोके बीच दोनोमे तुमुल संग्राम हुआ।—देखते-देखते सिंह भाग गया और अष्टापद कही दिखाई नहीं दिया. . . .!

रात गहरी हो जानेपर जब दोनो बहनोंने आखे खोली तो वही रोजकी निस्तब्ध शाति चारों ओर प्रसरी थी। झाड हींस रहे थे और झरनेका घोष अखड चल रहा था। दोनो बहनोका बोल रुद्ध था, भीतरकी उसी एक-प्राणतामे वे तन्निष्ठ थीं। एक-दूसरेसे लिपटकर वे सो गईं। पर नीद उनकी आखोंमे नही थी।—अचानक रात्रिके मध्य-प्रहरमें पर्वत-शिखरपरसे वीणाकी झंकार उठी, झरनेके जल-घोषमें अपने—स्वराघातसे आरोह-अवरोह जगाती हुई वह एक ध्रुव समपर जाकर अशेष हो गई—। जल, थल और आकाशमें शातिका अनंत आलाप राग फैल चला; समस्त चराचरके प्राणको वह सुखसे ऊर्मिल कर गया। . . .नही है शोक, नही है दुख, नहीं है घात, नही है विरह, नही है भय, नही है मृत्यु—आनंदकी एक अप्रतिहत धारामें सारा वैषम्य तिरोहित हो गया। अव्याबाध प्रेमके चिर विश्वाससे दोनों बहनोंके हृदय आश्वस्त हो गये। और जाने कब वे गहरी नींदमें सो गईं। रातके

चमत्कारपर सबेरे उठकर वे विस्मित थीं। गुफ़ाके ऊपर चारों ओर घूम-फिरकर वे देख आईं, कहीं कुछ नहीं है। सोचा कि अवश्य ही, घाटीमें जो तीर्थंकर प्रभु शाश्वत विराजमान हैं, उनकी सेवामें कोई देव नियुक्त है और उसीने उनकी रक्षा की है। मध्य-रात्रिका वह वीणा-वादन भी उस देवका ही एक दिव्य संदेश था!

× × × बात असलमें यह थी कि पर्वतके शिखर-देशमें मणि-चूल नामा एक गंधर्वका गुप्त आवास था। रत्न-चूल नामा अपनी स्त्रीके साथ गन्धर्व वहां रहता था। पहले ही दिन जब उस सन्ध्यामें मुनिके चरणोंमें इन दोनो मानवियोंने अपना आत्म-निवेदन किया था, उस समयका सारा दृश्य गन्धर्व-युगलने ऊपरसे देखा था। उसी दिनसे छुप-छुपकर वे दोनों, वन्य-पशुओं तथा वनकी और दूसरी भयानकताओंसे इन मानवियोंकी बराबर रक्षा करते रहते थे। इसीसे हिंस्र-पशुओंसे भरे इस विकट अरण्यमें आजतक उन्हें कोई उपद्रव या उपसर्ग नहीं हुआ था। पर गई साँझकी वह घड़ी अनिवार्य थी। गन्धर्व-युगलका ध्यान चूक गया। पर जब दुर्योग घट गया, तब एकाएक वे सावधान हो गये। उसी क्षण विक्रियासे अष्टापदका रूप धारणकर गन्धर्व आ पहुंचा और उसने उस सिंहको पछाड़ फेंका। गन्धर्व संगीतकी सारी सिद्धियोंका स्वामी था। इन बालाओंके मनमें जो भय गहरा हो गया था, उसे शांत करनेके लिये ही उसने मध्य-रातमें वह महाशांतिका राग बजाया था। उस दिनसे और भी सन्नद्ध होकर वह गन्धर्व-युगल उन मानवियोंकी रक्षामें तत्पर रहता।

× × ×

कुछ ही दिनों बाद—

पर्वत-शिखरके वृक्षोंमें दिनका उजाला झाँक रहा था। वनकी डालोंमें चिड़ियाएँ प्रभाती गा रही थीं। गुफ़ाके बाहरके शिला-तलपर अभी ही अंजनाने आत्म-ध्यानसे आंखें खोली हैं। चारों दिशाओंमें अञ्जलि खोलकर उसने प्रणाम किया। तदनंतर कमंडलु उठाकर वह प्रवाहपर

जानेको उद्यत हुई। कि उसी क्षण कटि-भागमें और पेटमें उसे पीड़ा-सी अनुभव होने लगी। वह व्याकुलता उसे अनिवार्य जान पड़ी। वह धप्से जमीनपर बैठ गई और पेट थामती हुई असह वेदनासे छट-पटाने लगी। कराहते हुए केवल इतना ही उसके मुखसे निकला—

"जीजी . . . !"

गुफ़ामेंसे वसंत बाहर दौड़ी आई। अंजनाकी सारी देह और चेहरा एक प्रखर वेदनासे, तपाये सोने-सा चमक रहा था। वसंत तुरत समझकर सावधान हो गई। खूब ही सतर्कतासे उठाकर उसने अंजनाको उस कासकी शैय्यापर लिटाया।

. . पर्वतके शृंगपर स्वर्णके समुद्रमेंसे सूर्यका लाल बिंब झाक उठा। ठीक उसी क्षण अंजनाने पुत्र प्रसव किया। उजालेसे सारी गुहा झलमला उठी। मानो उन पुरातन चट्टानोंमें क्षणभरको सोना ही पुत गया हो। वसंत और अंजनाको दीखा कि गुहाकी छतमें रह-रहकर गुप्त रत्नोंकी सतरंगी किरणोंका आभास-सा हो रहा है। बाहर घाटियोंके फूल-वनोंमें पंछी मंगल-गान गा रहे थे। शिखर-देशमें गंधर्वकी वीणा अनंत सुरावलियोंमें झंकार उठी, हवाओंके झकोरोंमें भरकर सुखोल्लास भरी रागिणियां उपत्यकाओंको आलोड़ित कर गईं।

× × × अंजनाने पुत्रका मुख देखा निमिष भर—एकटक वह देखती ही रह गई।—अंतरके अगोचरमें जिस अरूप सौंदर्यकी झलकें भर पाकर, जिसे अपनी इन आखोंमें बाध पानेको बार-बार वह तरस गई थी—आह वही सौंदर्य!—वही सौंदर्य बंध आया है आज उसीके रक्त-मांसके बंधनोंमें . . .? पर सम्मुख होकर खुली आखों उसे देख पानेका साहस आज नहीं हो रहा है! पलकें गालोंपर चिपकी जा रही हैं, बरौनियोंमें आंसू गुंथ रहे हैं।—और स्पर्शातीत कोमलतासे दोनों कृश भुजाओंमें शिशुको भरकर, वह मुग्ध भावसे उसे वक्षसे चाप रही है। मन ही मन कह रही है—

" . नही जन्मा है तू आदित्यपुरके राज-महलोमें, नही जन्मा है तू महेंद्रपुरके राज-मदिरोंमें । नहीं भूल रहा है किसी प्रासादके अलिंदमें तेरा रत्नोंका पालना। ऐश्वर्य और वैभवका क्रोड तुझे नही रुचा---नाशकी राह चल, बयाबानोंके इन पाषाणोमे आकर तुझे जन्म लेना भाया ?---निराले हैं तेरे खेल, ओ उद्धत! .... तेरी लीलाओसे मैं कब पार पा सकी हूं ? राजागनमें नही हो रहा है तेरे जन्मका उत्सव। इन शून्यकी हवाओ और झरनोंमें बज रहे हैं तेरे जन्मोत्सवके वाद्य ! धरणी तेरा बिछौना है और आकाश तेरा ओढ़ना।---चारो ओर मौन-मौन चल रही है, कुसुमोंकी उत्सव-लीला ! नही समझ पा रही हूं, इसके लिये तुझे महाभाग कहूं या हतभाग्य कहूं, पापी कहूं या पुण्य-पुरुष कहूं ?"

प्रसवके आवश्यक उपचारके उपरान्त, वसत अकेली-अकेली मगल-का आयोजन करने लगी। भग्न आने एकाकी कठमे उसने जन्मो-त्सवका गीत गाया। द्वारपर उसने अशोकका तोरण बांधा और फूलोकी डालियोमे गुफाके अतर्भागको मजा दिया। सद्य तोडे हुए कमलोके केसरसे उसने शिशुके लिये शय्या रची, तथा घाटीकी देव-प्रतिमाके पादार्घ्य रूप वे मल्लिकाके फूल लाकर उसने अजनाकी शय्यामें बिछा दिये।

वसतको अकेले-अकेले गीत गाते और मगलाचार करते देखकर अजनाका हृदय जाने किस अचित्य दुखसे उफना रहा था। वसंतकी आखोमें थे राजमहलके उस अपूर्व जन्मोत्सवके चित्र, जो कभी होनेवाला नहीं है। याद आया उसे नर-नारियोके हर्ष कोलाहलसे भरा वह राजागन। प्रासादमालाओपर सिंगार-सजावटकी वे विचित्र शोभाए, वे ध्वज-तोरण और वदनवारे, वे रग-बिरगी दीपावलिया---वह गीत-गान, नृत्य-वाद्योंका समारोह।---और तभी याद आये उसे अपने वे फूल-से बालक....। दोनो बहनोंने एक-दूसरेकी ओरसे मुह फेरकर आंसू टपका दिये। गुफाको और भी जाज्वल्यमान उजालेसे भरता हुआ शिशु मुस्करा

दिया ! अद्भुत तरगोंके चांचल्यसे वह चारों ओर हाथ-पैर संचालित कर रहा है—मानो दिशाओंके पालनेमें ही झूल रहा है ।

यथा समय वसंतने अंजनाको फलोंका थोडा रस पिलाया और आप भी फलाहार किया । अंजनाकी सारी बाल-प्रकृति, उसका चांचल्य और औद्धत्य आज खो गया है । हलकी होकर भी आज वह एक अपूर्व संभारसे गंभीर हो गई है । भविष्यकी अगम्य दूरियोंमें फिर उसका चिंताकुल मन भटकता चला गया है ।—धुवले रहस्यावरणोंकी बादल-वाहिनी सुदूरतामें, जहा उसने बार-बार देखा है—पृथ्वी और आकाश एक अरूप एकतामें बध गये है—वहीं उसकी आंखे लगी हैं : वह पूछ रही है—'कहा हो तुम....? किन दुखकी विभीषिकाओंमें तुम मेरे मनकी साध पूरने गये हो....? क्या नही लौटोगे कभी इस राह....?''

वसतके सामने अबतक तो प्रसवकी चिंता ही सर्वोपरि थी । आज अजना उससे भी निष्कृति पा गई है । इस परम पुण्याधिकारी बालककी वह जननी है । और विचित्र है इसका पुण्य जो निर्जन कंदरामें जन्म लेकर प्रकाशित हो रहा है । लेकिन अब—? अब क्या है भविष्य ? कहा है पवनंजय; क्या है अजनाका और उनका भावी ? किस राह ले जायगा हमें यह अतुल तेज और पराक्रमका स्वामी बालक ? मुनिने कहा था, उपसर्गोंसे खेलते चलना इसका स्वभाव है । मुनिके वचन तो कभी निरर्थक नही होते । जाने कब यह हमें उन उपसर्गोंसे पार करेगा, जाने कब यह अपने चिर दिनके बिछोही माता-पिताको मिलायेगा ? वह भविष्य न तो वह मुनिसे पूछ पाई, और न मुनि ही उसका कुछ संकेत कर गये है—जाने क्यो ?

× × × दोपहर ढल रही थी कि अचानक आकाशकी ओर वसंतकी निगाह खिंची ।—प्रभाके पुज-सा एक विमान, विपुल गंभीर स्वरसे पर्वत-प्रदेशको भरता हुआ, नीचेकी ओर आ रहा है । वसंत अनेक

भय और आशंकाओंसे भर उठी। भीतर आकर उसने अंजनाको यह सूचना दी तो उसे भी रोमांच हो आया। अनजाने ही उसने बालकको और भी प्रगाढ़तासे छातीसे दाब-दाब लिया।

मनमें उसके फूटा—"आह, कौन जाने कोई पूर्व भवका वैरी है या आत्मीय ? पर आत्मीय—? नहीं आयेगा वह—हरगिज़ नहीं आयेगा मुझ अभागिनीके पास—इस अरण्य-खडकी भयानक विजनतामें . . . .?"

ऊपर विमानके आरोही विद्याधरके मनमें भी यही प्रश्न था—'कोई—असाधारण योगायोग है—वैरी या आत्मीय ?' इसीसे उसका विमान अटका है और वह नीचे उतरनेको बाध्य हुआ है।

थोड़ी ही देरमें रत्नोंसे जग-मग करता हुआ विमान नीचे उतरा। अतिशय रूपवान एक विद्याधर और विद्याधरी अचानक गुफ़ाके द्वारपर दिखाई पड़े। बड़े ही आदर-सभ्रम और मर्यादापूर्वक उन्होंने अंजना और वसंतका अभिवादन किया। उनके प्रति प्रतिनमस्कार कर दोनों बहनोंने उनका स्वागत किया। विद्याधर-युगलने सामने ही, अंजनाके अंकमें नक्षत्र-सा ज्योतिष्मान वह बालक देखा। साथ ही अप्सराओं-सी सुंदर, कृश-गात, वल्कल पहनें इन तापसियोंको देख वे आश्चर्यसे स्तंभित रह गये। हो न हो, है तो कोई तापसिया ही—पर तापसियोंके बालक कैसा ? शायद कोई गंधर्व-कन्यायें स्वर्गके सुखसे ऊबकर भूमिपर चली आई हैं, और किसी योगीका योग भंगकर यह ज्योतिर्मय बालक पा गई हैं। इस जनहीन अरण्यमें ऐसी सुंदरी मानवियोंके होनेकी तो उन्हें कल्पना ही नहीं हो सकी।

विद्याधरने सहज कुशल पूछी, और तब विनय-पूर्वक उनका परिचय जाननेकी उत्सुकता प्रकट की। आगतोंके आविर्भावके साथ ही कुछ ऐसा अंतरंगका सामीप्य उन दोनों बहनोंने अनुभव किया कि अपने बावजूद कोई संदेह उनके बारेमें उनके मनमें नहीं रहा। अनायास वसंतने सारा वृत्तांत संक्षेपमें कह सुनाया। विद्याधर-युगल ज्यों-ज्यों सुनते जाते थे,

उनकी आखोंसे आंसुओंकी झड़ी लग रही थी। ज्योंही वृत्तांत समाप्त हुआ कि विद्याधर अपनेको सम्हाल न सका—

"हाय, बेटी अजन . . .तेरे ऐसे भाग्य. . .? यह क्या अनर्थ घट गया . . ?"

कहते हुए वह आगे बढ आया और उसने अजनाको शिशु-सहित छातीमें भर लिया और कंठ भर-भरकर पागलकी तरह वह उसे भेंटने लगा। रुदन उसकी छातीमें थम नही रहा था।—अजना विस्मित थी, पर अतरमें उसके भी वात्सल्य ही वात्सल्य उभरा रहा था। किंचित् मात्र भी कोई शका मनमें नही जागी। थोडी देर बाद कुछ स्वस्थ होनेपर विद्याधरने अपना परिचय दिया। उसने बताया कि वह राजा चित्र-भानु और रानी सुद-मालिनीका पुत्र प्रतिसूर्य है। हनुरूहद्वीपका वह राजा है, और अजना उसकी भानजी होती है। अजना शैशवमें केवल एक बार मामाके घर हनुरूहद्वीप गई थी। उसके बाद फिर प्रतिसूर्यने उसे कभी नही देखा, इसीसे वे उसे पहचान न सके। सुना तो अजनाका हृदय भी जैसे विदीर्ण होने लगा। रक्तमें कौटुबिक स्नेह और वात्सल्यका उफान आये बिना न रहा, जो भी चारो ओरसे बिल्कुल निर्मम और निरपेक्ष होकर उसने यह निर्जनकी राह पकडी थी।—उसे याद हो आये वे प्रसग जब कई बार मा हनुरूहद्वीपके सस्मरण सुनाया करती थी। अपनी अबोध अवस्थामें हनुरूहद्वीप जानेकी एक धुधली-सी स्मृति भी उसे है— समुद्रका वह महानील प्रसार, और उस समुद्र-यात्रामें माके द्वारा दिखाये गये वे मगर-मच्छ!—अजना अपने आसू न थाम सकी। उसने मुह दूसरी ओर फेर लिया और बेसुध-सी हो रही। मामीने गोदमें लेकर अजनाका शीतोपचारकर उसे स्वस्थ किया, फिर अपने दुकूलके आचलमें उसे ढापकर उसका लिलार चूम लिया।

वसंतने बहुत ही सकुचाते हुए कमलके पत्तोपर अतिथियोंके समुख फलाहार रक्खा। सुख और दुखके खट्टे-मीठे आंसू भरते, मामा और

मामीमें फलाहारकर अपनेको धन्य माना। इसके अनंतर अजनाने वसतका परिचय दिया। उसके अप्रतिम सर्वस्व-त्यागकी कथा सुनकर विद्याधर युगलकी आखें फिर सजल हो आईं। बार-बार बलायें लेकर, उन्होंने नतशिर होकर उस निष्काम सगिनीके त्यागका अभिनदन किया।

थोडी ही देरके इस सयोग और पारस्परिक बातचीतमे, मामाने मन ही मन समझ लिया था, कि इस अजनाके मनपर काबू पा जाना सहज नहीं है। वसंतके मुहसे इस लडकीकी दुर्धर्ष लीलाए सुनकर, विद्याधरकी सारी विद्या और पौरुषकी तहे कांप उठी थी। फिर भी डरते-डरते विनतीके स्वरमे प्रतिसूर्यने अजनासे कहा—

"बेटी अजन, जानता हू कि समस्त लोक तेरे प्रति अपराधी है। उसी लोकके बधनोमे बधा मै, भी एक अज्ञानी मानव हू। आज तुझे उसी लोकमे लौटनेको कहते, यह छाती फटी पडती है। ससारने जो अन्याय तेरे साथ किया, उसका प्रायश्चित्त नही हो सकता। लकिन फिर भी यदि तू अपने इस दुखी और नि सतान मामापर दयाकर सके, तो उसका हनुरुहद्वीप तुझे पाकर धन्य होगा—और धन्य होगा उसका जीवन ."

बोलते-बोलते कठ भर आया। कुछ देर रहकर फिर प्रतिसूर्य बोले—"प्रतिसूर्यका जीवन वैसे ही सूना और निरर्थक है—और आज यदि तू नही चलेगी मेरे साथ—तो ससारमे यही सब कुछ देखनेके लिये अब और जीवित नही रह सकूगा—तुझे विवश करनेका पाप कर रहा हू, पर स्वय विवश हो गया हू "

कहकर मामाने फिर एक बार अजनाके हाथ जोड़ लिये। अजनाने हृदयके आवेगपर सयम किया और धीर-गभीर स्वरमें कहा—

"....अपराध लोकका और किसीका भी नहीं है, मामा, अपने ही पूर्वमे किये कर्मोंका वह फल है। अपने ही उस अर्जित पापको लोकके

माथे थोपकर, फिर नया पाप मैं नहीं बांधूंगी ।—प्रभु मुझे बल दें कि सपनेमें भी, अपने दुखके लिये परको दोष देने का भाव मुझमें न आये । दुख है मनमें तो इसी बातका कि लोकके जो अनंत उपकार मुझपर हैं, उनकी ओरसे पीठ फेरकर मैं कृतघ्ना अपने बचावके लिये, इस निर्जनमें मुह छिपाती फिर रही हू !—तुम्हारे प्रेमको न पहचान सकू इतनी हृदय-हीन भी नही हो गई हू, मामा ! पर सोचती हूं मैं बहुत अयोग्य हू—तुम्हारे साथ चलकर कहीं तुम्हें भी विपदमें न डाल दू ?—क्योंकि विपदाओंमें चलनेके लिये ही अजनाने इस लोकमें जन्म लिया है ! . . . . आगे की बात तुम्ही जानो, मामा . . . "

कहते-कहते अंजना फिर भर आई और छल-छलाई आखोसे पास सोये शिशुको ताकती रह गई ।

× × × अजना, वसत और शिशुको साथ लेकर प्रतिसूर्यका विमान तीरके वेगसे खाईको पार कर रहा था । हवामें मोतियोंकी झालरें उलझ रही थी, और मणियोंकी घटिकाए बज रही थीं । ज्यों-ज्यों विमान-का वेग बढ़ता जा रहा था, अजनासे अपनी गोदका शिशु सम्हाले न सम्हल रहा था । . . कि पलक मारतेमें हाथसे उछलकर बालक खाईमें जा गिरा । नीचे गिरते बालककी ओर देख अंजनाके मुहसे चीत्कार निकल पड़ी—

"आह् . . . . तू भी . . . . छोड चला . . . . मुझे . . . ."

कहकर अजना मूर्छित होकर धयाक्से पायदानमें गिर पडी । विमान विलाप और रुदनकी पुकारोसे गूज उठा ।

बालकके गिरनेके ठीक स्थलपर दृष्टि लगाये, द्रुतवेगसे प्रतिसूर्य विमानको तलमें लाये । ठीक वही आकर विमान उतरा जहा बालक गिरा था । पर्वतकी एक वज्र-सी चट्टानपर बालक फूल-सा मुस्कराता हुआ क्रीड़ा कर रहा था । नीचे उसके शिलाके सौ-सौ टुकड़े हो गये थे ! अपार सुख और आश्चर्यसे पुलकित सभी देखते रह गये । चेतमें लाये

जानेपर अंजनाने जो उठकर बालकको देखा....तो उसकी आखें झुक गईं, और मुख उसका अपूर्व लज्जा और रोमांचसे लाल हो गया !

प्रतिसूर्यने बालकको गोदमे उठाकर उस अमृत-पुत्रकी वह तेजस्वी लिलार चूम ली और अनुभव किया कि उनका मानव-जन्म कृतार्थ हो गया है। बालकको अंजनाकी गोदमे देते हुए बोले——

"इसे जन्म देकर तेरी कोख धन्य हुई है, अंजनी !—निश्चय ही समचतुरस्र-सस्थान और वज्र-वृषभ-नाराच सहननका धारी है यह बालक। इसके बल-वीर्यसे पहाड खड-खड हो गया है, पर इसका घात नही हो सका। निश्चय ही यह कोई चरम-शरीरी और तद्भव मोक्ष-गामी है—!'

तब वसतने प्रसग-वश मुनिकी भविष्य-वाणी कह सुनाई। सुनकर सबकी आंखोमे हर्षके आसू आ गये।

× × × हनूरुह-द्वीपमे ग्यारह दिनतक अंजनाके पुत्रका जन्मोत्सव देवोपम समारोहसे मनाया गया। चारो ओरके सागर-प्रांतमे मानो इंद्रलोककी रचना ही उतर आई थी। हनूरुह-द्वीपमें जन्मोत्सव होनेके उपलक्ष्यमें बालकका नाम रक्खा गया—हनूमान !

द्वीपके चारो ओरकी समुद्र-लहरोके गर्जनमे गूज-गूज उठता—
"काम-कुमार हनूमानकी जय, अजित-वीर्य हनूमानकी जय. . . !"

[२८]

रत्न-कूट प्रासादसे उड़कर पवनजयका यान कैलाशकी ओर वेगसे बढ़ रहा है। आकाशके तटोंमें चारो ओर दिनका नवीन उजाला उमड़ रहा है। नीचे धुध और बादलोंमें होकर, शस्य-श्यामला पृथ्वीका चित्रमय गोलार्ध तैरता-सा दीख रहा है। पवनजयके दोनों हाथ यानके चक्रपर थमे है। पीछे उड़ता हुआ श्वेत उत्तरीय, मानो पीछेसे कोई खींच रहा है। ज्यों-ज्यो वह अदृश्य हाथ उस उत्तरीयको अधिक खींचता है, पवनंजयके

हाथका चक्र उतने ही अधिक वेगसे घूमता है। यानकी गति जैसे समयकी गतिसे होड़ ले रही है।

सामने कैलाशकी हिमोज्ज्वल चूडाए दीख रही है। उनपर स्वर्ण-मदिरोंकी उडती हुई ध्वजाओंमे, आज मुक्तिके आंचलका आवाहन है।--कुमारका हाथ चक्रपर थमा रह गया : यान हवाकी मर्जीपर छूट गया। पवनजयको प्रतीत हुआ कि आजकी गतिका सुख अपूर्व है; इसमे निरर्थक उद्वेग नही है, प्राप्तिका आनद है। कितनी ही बार इससे कही बहुत ऊची और खतरनाक ऊचाईयोमे वह यानपर उडा है। दुर्दम्य था उन उडानोका वेग ! पर उनमे सुख नही था, प्राप्ति नही थी, लक्ष्य नही था। थी एक विघातक छलना। चारो ओर शून्य ही शून्य था, आमत्रणहीन और निर्वाक्।

पर आज तो दिशाए अवगुठन खोले मुग्धा-सी खडी है। उनकी भुजाओमे एक उन्मुक्त आलिंगन खेल रहा है। और उसके समुख पवनजयका माथा नीचे झुक गया है। उन गर्वीली भृकुटियोका मान पानी बनकर आखोसे ढलक पडा है।--नही है साहस कि इस आलिंगन-को वे झेल ले। नही है बल कि उसे अपने भुजाओमे बाध ले, या आप उसमे बध जायें। अपनी असामर्थ्यकी लज्जामे वे डूबे जा रहे है। इन दिशाओंको जीतनेका उनका एक दिनका अरमान आज अपनी ही खिल्ली उडा रहा है। --पवनजयको प्रतीत हुआ कि बाहरकी ओर जो वह गतिकी चचल वासना, दिन-रात मनको उद्वेलित किये थी, वह थी केवल गतिकी भ्राति। वह थी गतिकी भटकन--अव-रोध। उसी मरीचिकाको समझ रहा था वह--प्रगति ?--भीतरकी धुरीमे जहां नित्य और सम परिणमन है, उसी केंद्रमे पवनंजय आज मानो लौट रहे है।

कानोमें गूज रहे है बिदा-बेलाके अजनाके वे शब्द--' . . .मेरी शपथ लेकर जाओ कि अनीति और अन्यायके पक्षमें, मद और मानके

पक्षमें तुम्हारा शस्त्र नही उठेगा। क्षत्रियका रक्षा-व्रत विजयके गौरव और राज-सिंहासनसे बडी चीज है। तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्यायका है तो उसीके विरुद्ध तुम्हे लडना होगा ...'

नही चाहिये आज उसे वीरत्वकी कीर्ति। जबु-द्वीपके नरेंद्र-मंडल-पर अपने पराक्रमकी छाप डालनेकी इच्छा, आज मानो अनायास लुप्त हो गई है। राज्यकी आकाक्षा तो किसी भी दिन उसमे नही थी। और विजयके शिखर वह सारे गूघ आया है, वहा है केवल निष्प्राण शिलाए, जो शून्यमें कसककर दम तोड रही है, और हवाये रुदनकी तरह वहा भटक रही है। वहासे गिरकर तो वह धरतीके पादमूलमें आ पडा है। चारो ओरसे हारकर आज जब वह सर्व-हारा हो गया है, तो विश्व-की सारी विजयो और महिमाओके मूल्य उसे फीके लग रहे है।— मानो पैरोके पास टूटी हुई जय-मालाओके फूल कुम्हलाये हुए पड़े है! पवनजयका सारा मन आज उस शात समुद्रकी तरह पडा है, जो अपनी धरिणी पृथ्वीकी गर्भ-सेजमे आत्मस्थ होकर सो गया है।

मानसरोवरपर यान उतरा। सेनाओको आज्ञा दी गई कि प्रस्थानकी तैयारी करे। रण-सज्जामें सजे हुए पवनजय गभीर चिंतामें मग्न है। पास ही एक चौकीपर प्रहस्त चुप-चाप बैठे है। एकाएक पवनजयने मौन तोड़ा—

"बधु प्रहस्त, अब युद्ध समुख है। यह भी जान रहा हूं कि वह अनिवार्य है, और मेरी इच्छाका प्रश्न उसमे नहीं है। वह कर्तव्यकी अटल और कठोर मांग है। पर यह भी निश्चय अनुभव करता हूं कि शायद यही मेरे जीवनका पहला और अंतिम युद्ध होगा।— क्योकि नही समझ पा रहा हूं कि बाहर किसके विरुद्ध मुझे लड़ना है? ....मुझे तो साफ दीख रहा है, प्रहस्त, कि शत्रु बाहर कही नही है— वह अपने ही भीतर है। वही शत्रु सबसे बडा है और अबतक उसीसे पद-दलित होता रहा हू! उसे ही अपना सारा अपनत्व सौंप बैठा

था, और निरंतर छातीमें पदाघात सहकर भी उसीके पैरोंसे मैं लिपटा रहा। आज उसे पहचान सका हूं, और उसीसे आज खुलकर मेरा युद्ध होगा। उसे जीते बिना, बाहरकी इन सारी विजयोंके अभिमान मिथ्या हैं—वह निरी आत्म-प्रवचना है। पर उसे जीत पाना क्या सहज संभव है ?—कुछ हो प्रहस्त, उस शत्रुको अधीन किये बिना, पवनजयको इस युद्धसे लौटना नहीं है....।"

सुनकर प्रहस्तकी खुशीका ठिकाना नहीं था। उसके मनका सबसे बड़ा बोझ जैसे आज उतर गया। उसे निष्कृति मिली, वह कृतार्थ हुआ। उसका दिया दर्शन आज मस्तिष्कसे उतरकर हृदयकी मर्म-वाणी बोल रहा है। प्रहस्त गुनकर पुलकित हो रहे। फिर सहज बात को सहारा भर दे दिया—

"हां पवन, समझ रहा हूं। चाहे जितना दूर तुमने मुझे ठेला, पर क्या तुमसे क्षण भर भी दूर मैं अपने को रख सका ?—हां, तो सुनूं पवन, क्या है तुम्हारी योजना ?"

पवनंजय खिल-खिलाकर हंस पड़े—

'हं....योजना ?—अचभा हो रहा है, प्रहस्त, और अपने ही ऊपर हंसी भी आ रही है। इतना बड़ा विशाल सैन्य लेकर आखिर किसपर युद्ध करने चढ़ा हूं मैं—? जरा बात मुझे साफ़-साफ समझा दो न, प्रहस्त।"

प्रहस्तने साफ और सीधी व्यवहारकी बात पकड़ी, बोले—

"पाताल-द्वीपके महामंडलेश्वर राजा रावणके मांडलीक हैं आदित्य-पुरके महाराज प्रह्लाद। जंबु-द्वीपके अनेक विद्याधर और भूमि-गोचर राजा उन्हें अपना राज-राजेश्वर मानते हैं।—वरुण-द्वीपके राजा वरुणने, रावणका आधिपत्य स्वीकार करनेसे इनकार किया है। वह कहता है कि—यदि रावणको अपने देवाधिष्ठित रत्नोंका अभिमान है, तो मुझे अपने आत्म-स्वातंत्र्य और अपने भुज-बलका। इसपर रावणने

अपने देवाधिष्ठित रत्न उतार फेंके हैं, और स्वय अपना भुज-बल दिखाने राजा वरुणपर जाचढे हैं। युद्ध बहुत भीषण हो गया है, सहारकी सीमा नही है।—रावणके हम माडलीक हैं, सो निश्चय ही हमे रावणके पक्षपर लडना हैं, इसमें दुविधा कहां हो सकती है, पवन ?"

पवनंजय चुप रहकर कुछ देर सोचते रहे। फिर ज़रा मुंह मलकाकर गभीर स्वरमे बोले—

"रावणके माडलीक हैं आदित्यपुरके महाराज प्रह्लाद, मैं नही। और इस समय इस सैन्यका सेनापति मै हू, महाराज प्रह्लाद नही !—और शायद तुम्हे याद हो प्रहस्त, इसी मानसरोवरके तटपर, एक दिन मैंने तुमसे कहा था कि आदित्यपुरका राज-सिंहासन मेरे भाग्यका निर्णायक नही हो सकता।—उस दिन चाहे वह क्षणका आवेग ही रहा हो, पर अनायास मेरे भीतरका सत्य ही उसमे बोला था। तब युद्धमे पक्ष चुननेका निर्णय मेरे हाथ है, आदित्यपुरके सिंहासनसे वह बाध्य नही. . . . !"

कहते-कहते पवनजय हस आये। बोलते समय जो भी उनका स्वर गुरु-गभीर था, पर उनकी भौंहोमे वह सदाका तनाव नही था। आवाज़मे उतावलापन और उत्तेजना नही थी। थी एक धीरता और निश्चलता।

"आदित्यपुरका सिंहासन यदि इतना नगण्य है, तो तुम लड़ने किसके लिये जा रहे हो, पवन, यही नही समझ पाया हू?"

"कर्तव्यके लिये लडने चला हू, प्रहस्त !—अगोचरसे धर्मकी पुकार सुनाई पडी हैं। पर किस व्यक्तिके विरुद्ध लडना है, यह सचमुच मुझे नही मालूम। मेरा युद्ध व्यक्तिके विरुद्ध कही नही है, वह अन्याय और अधर्मके विरुद्ध है।—और मेरा युद्ध सिंहासनके लिये नहीं, अपनी और सर्वकी आत्म-रक्षाके लिये हैं। अपने ही को यदि नही रख सका, तो सिंहासनका क्या होगा ? और जो सिंहासन अपनेको रखनेके लिये अन्यायके समुख झुक जाये, वह मेरा नहीं हो

सकता। आदित्यपुरका राज-सिंहासन यदि रावणकी रक्षाका भिखारी बनकर कायम है, तो उसका मिट जाना ही अच्छा है।—हो सका तो उसे अपने बलपर ही मै रक्खूगा, और नही तो रावण ही उसे रख लें, मुझे आपत्ति नही होगी।"

प्रहस्तने पाया कि यह केवल मस्तिष्कका तर्क नही है, अंतरका निवेदन है, जो सहज आत्म-ज्ञानसे प्रबुद्ध है। उसके आगे कोई प्रतिवाद मानो नही ठहरता। प्रहस्तका मन अश्रु-भारसे नम्र होकर झुक आया। पर वह कठोर होनेको बाध्य है। उसके सामने राज-कर्तव्य है; राज्यके कुछ निश्चित हितोकी रक्षाका दायित्व उसपर है। पर इस पवनजयकी दृष्टिमे राज्य तो शून्य है। यह कैसे बनेगा—? सब कुछ समझते हुए भी यत्रवत् प्रहस्तने आपत्ति उठाई—

"—चूक रहे हो पवन, तुम इस समय आदित्यपुरके सेनापति हो, आदित्यपुरके राजा नही। सिंहासन और राज्यको रखने न रखनेका निर्णय राजाके अधीन है; तुम केवल राजाज्ञाके वाहक हो!"

पवनजय फिर खिल-खिलाकर हंस आये। कुछ देर चुप रहे, फिर ज़रा सलज्ज भावसे सिर नीचाकर बोले—

" . पर तुमसे क्या छुपा है, प्रहस्त?—तुम सिंहासन और राज्यकी कह रहे हो? पर स्वय राज-लक्ष्मीको जो पा गया हू! सिंहासन तो उसीके हृदयपर बिछा है न?—कल रात लक्ष्मीने उसपर मेरा अभिषेक कर दिया है—और तुम्ही थे उसके पुरोहित! तब राजा कौन है और अधिकार किसका है, इस विवादमें नहीं पड़ूंगा। राजत्व व्यक्तिमें नही है। धर्मका शासन जो वहन करे वही राजा है, वह किसी भी क्षण बदल सकता है। मै तो इतना ही जानता हूं कि राज्य, सिंहासन, राजा, मैं—सब उसीके रक्खे रहेगे। स्वय लक्ष्मीकी आज्ञा हुई है—मै तो उसीका भेजा आया हू। आदेशका पालन भर करने चला हूं। पथकी स्वामिनी वही है। तुम, मैं, राजा और यह विशाल

सैन्य, सब उसीके इंगितपर संचालित हैं ।—इसके ऊपर होकर मेरा कुछ भी सोचना नहीं है"

प्रहस्त अपनी हंसी न रोक सके। आंखें पुलक आईं। उन्हें लगा कि पवनजय नव-जन्म पा गया है। इतने वर्षोंका वह चट्टान-सा कठोर हो गया पवनजय, सरल नव-जात शिशु-सा होकर सामने बैठा है। जीमें आता है कि दुलारसे बाहमें भरकर इस मुंहको चूम लें, जो यह नई बोली बोल रहा है।—पर भावना इस क्षण वर्जित है, ठोस वास्तवकी मांग इस समय सामने है। हंसते हुए ही प्रहस्त बोले—

"लक्ष्मीकी आज्ञा तो सारे छत्रोंके ऊपर है, पवन, उसे टालनेकी सामर्थ्य किसकी है ? वह तो शक्तिदात्री भगवती है, लोककी और अपनी रक्षाके लिये, वह हमें शक्ति और तेजका दान करती है। अपने वक्षपर धर्मकी जोत जलाकर वह हमारा पथ उजाल रही है ! उस बारेमें मत-भेदको अवकाश कहां है ?—पर व्यवहारकी राज-नीतिमें हमें पग-पगपर ठोस सचाईका सामना करना है। वह जीवनका गणित है; यथार्थ जीवनको व्यवहारके उसी हिसाब-किताबसे चलाना होगा, नहीं तो बडी उलझन हो जायगी।"

कहकर प्रहस्तने ओठ काटकर हंसी दबा दी। जान रहा है कि वह आप द्वैतके शिकंजेमें फंसा है और पवनजयको भी उसीमें खींच रहा है। क्योंकि वह तो इस समय उस प्रत्यक्ष राज-कर्तव्यका प्रतिनिधि है और उसके प्रति उत्तरदायी होनेको वह बाध्य है। पर पवनजयका मन निर्द्वंद्व और स्वच्छ है, तुरत प्रहस्तको उन्होंने भुजापर थाम लिया और ईषत् मुस्कराते हुए बोले—

"भैय्या प्रहस्त, वयमें कुछ ही तुम मुझसे बडे हो ; पर बचपनसे तुम्हें गुरु-जनकी तरह मन ही मन श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा है। राज-नीतिके सूत्र यदि कभी तुमसे सीखे थे, तो अध्यात्म और दर्शनका मूल संस्कार भी तुम्हींने मुझे दिया था। पर मुझे लग रहा है, प्रहस्त, उलझन

बाहर कही नही है, वह तुम्हारे मनमें ही है। भगवतीके वक्षमे जल रही धर्मकी जोत यदि हमारा पथ उजाल रही है, तो फिर कौनसी राज-नीति है, जो उससे ऊपर होकर हमारा पथ बदल सकती है ? धर्म और राज-नीतिको अलग-अलग करके देखना, जीवनको अपने मूलसे तोडकर देखना है ! तब जीवनकी परिभाषा होगी मात्र सघर्ष— स्वार्थोके लिये सघर्ष, मान और तृष्णाके लिये सघर्ष, सघर्षके लिये सघर्ष। उसमे अभीष्ट सर्वका और अपना आत्म-कल्याण नही है। उसमे उद्दिष्ट है केवल अपने तुच्छ पार्थिव स्वार्थों और अहकारोंकी तुष्टि।—गणितका काम तो खड-खड करना है, वह अशो और भिन्नोमे जीवनको बांटकर हमारे चैतन्यको ह्रस्व कर देता है। इसीसे वह केवल निर्जीव वस्तुओकी माप-जोखके लिये है। पर जीवनका अनु-रोध है, अखडकी ओर बढना। उसका गति-निर्देश गणित और हिसाबी राज-नीतिसे नही हो सकेगा। जीवनका देवता है धर्म, जो हमारे अतरके देव-कक्षमे शाश्वत विराजमान है। जीवनका सूत्र-सचालन वहीसे हो रहा है। जरा भीतर झाककर देखे, हमारे हृदयके स्पदनमे उसका वेदन सतत जागृत है। हृदय जड़ीभूत हो गया था, इसीसे राह खो गई थी ! धर्मकी अधिष्ठात्रीने आज स्वय, हृदयको मुक्त कर दिया है, इसीसे राह अब साफ दीख रही है। वास्तवकी यह ठोस और अतिम दीखनेवाली सचाई, यथार्थमे जडता है, वह मिथ्या है, उससे नही जूझना है। जडतासे टकरा रहे है, इसीसे गणित और राज-नीति सूझ रही है ! जीवन प्रवाही है, सो उसका सत्य भी प्रवाही है। धर्म उसी प्रवाहकी अखडताके अनुभवका नाम है। अपने प्राणकी हानिसे बचना ही हमारी पल-पलकी चेतना है : दूसरेका प्राण-घातकर अपना प्राण सदा अरक्षित ही रहेगा। इसी निरतर अरक्षाकी स्थितिसे ऊपर उठनेके लिये, हमे अपने ही प्राणके अनुरोधके अनुसार, निखिलके प्राणको अभय देना है। राजा और राज्य इसीलिये है, शासन और व्यवस्था इसीलिये

है। इसी रक्षा-व्रतका पालन करनेके लिये पृथ्वीपर क्षत्रियका जन्म है।—सिंहासनपर बैठे हैं धर्म-राज, लोकमें शासन उन्हींका है। हम हैं केवल उस कल्याण-विधानके आज्ञाकारी अनुचर! उससे टूटकर राजा और राज्यके अधिकारका क्या मूल्य रह जाता है ?—और हमारी राजनीति भी तब क्या उस धर्मके अनुशासनसे अलग होकर चल सकती है....?"

प्रहस्तने देखा कि जिस प्राणकी अतल गहराईसे, प्रवाही जीवनके सत्यकी यह बात कही जा रही है, उसपर तर्क नहीं ठहर सकेगा। नहीं—अब वह और अपनेको धोखा नहीं देगा। होनहार क्या है, सो अंतर्यामी जाने। अपना मत उसने समेट लिया—मात्र पवनंजयसे अनुशासन भर वह चाहता है—बोला—

"अच्छा पवन, तब तुम्हारा धर्म-शासन इस प्रस्तुत युद्धके संमुख हमें क्या करनेको कहता है ? अपना अंतिम निर्णय दो, वही आज्ञारूपमें सैन्यको सुनाकर, यहांसे तुरत प्रस्थान करना है।"

मेरु-अचल निश्चयके स्वरमें पवनंजय बोले—

"रावण महामंडलेश्वर बने हैं अपने देवाधिष्ठित रत्नोंके बलपर। साम्राज्यका स्वामित्व भोगनेकी अहं-तृष्णा ही इसके पीछे है। सभी राज-पुरुष अपनी-अपनी राज्य-तृष्णाओंके वश रावणको अधीश्वर मानने को बाध्य हैं। यह धर्मका शासन नहीं है, आतंकका शासन है, स्वार्थों और अहंकारोंका संगठन है!—लोक-हित और लोक-रक्षाकी प्रेरणा इस युद्धके पीछे नहीं है। यह है केवल आपा-धापी और छीना-झपटीका पाशव-युद्ध। न्याय-अन्याय, नीति-अनीतिका भेद यहां लोप हो गया है; प्रजाका जीवन, मात्र राजाकी वैयक्तिक मान-तृष्णाकी तृप्तिके लिये, शोषणका साधन भर गया है। राजा वरुणने देवाधिष्ठित रत्नोंके अभिमानको ललकारा है, आतंकको उसने चुनौती दी है। निर्बल और शोषित होकर जीनेसे उसने इनकार *किया है। एक ओर जंबु-द्वीपका इतना बड़ा* नरेंद्र-मंडल है, और दूसरी ओर है अकेला वरुण। जानता है कि उसने

मौतको न्यौता है, पर अहकार, आतंक और स्वार्थी शोषणके चक्रोंको तोडनेके लिये उसने सिंहासन तो क्या प्राणतककी बाजी लगा दी है। तब मानना ही चाहिये कि मात्र सिंहासनके लोभसे वह ग्रस्त नही, अपनी हार-जीतका मोह त्याग, सत्यके लिये लडनेको वह उद्यत हुआ है। तब पवनंजय इस युद्धमे वरुणके पक्षपर ही लड़ सकता है, अन्यथा इस युद्धमे उसका कोई प्रयोजन नही हो सकता। और उसमे भी पक्ष या विरोध व्यक्तिका नही है, वह धर्म और अधर्मका है। तब वरुण भी किसी दिन छूट सकता है। रास्तेके मोर्चोपर मेरी सेना नही ठहरेगी। उस प्रधान रणांगणके बीचों-बीच जाकर हम विराम करेंगे, जहा वरुण और रावण आमने-सामने है। मुझे उनके बीच खडे होना है। मेरा निवेदन शस्त्रसे नही है, मै पहले मनुष्योसे बात किया चाहता हू। शस्त्र तो मात्र अतिम अनिवार्यता हो सकती है।—सखे प्रहस्त, उठो, निश्चयानुसार सैन्यको प्रस्थानकी आज्ञा सुना दो .।"

× × × प्रयाणका तूर्य-नाद दिशातोतक गूज उठा। विशाल सैन्यका प्रवाह हिम-गिरिकी घाटियोंमे उमड पडा। 'देव-पवनजय'की जय-जय-कारोसे पर्वत-पाटिया हिल उठी।—और इसी बीच अपने सत-खडे रथके सर्वोच्च खंडपर खडे होकर पवनजयने प्रणत हो कैलाशको तीन बार प्रणाम किया। फिर दोनो हाथ आकाशमे उठाकर पुकारा—

"कर्म-योगीश्वर भगवान वृषभ-देवकी जय, राज-योगीश्वर भगवान-भरतकी जय. . . ."

चौगुने उल्लास और उन्मेषसे सैन्यके प्रवाहमे यह जय-जयकार गूंजती ही चली गई।

[२६]

अनेक देशातरो, नदियो और पर्वतोको लाघकर, कई दिनो बाद, पवनंजयका सैन्य जल-वीचि पर्वतपर आया। पर्वतकी सिंधु-तरंग नामा

चूड़ापर खड़े होकर पवनजयने देखा—दूरपर समुद्रमें घुसता हुआ अतरीप दीख रहा है।—भरत-क्षेत्रके दक्षिण समुद्र-तटपर वैताढ्य और विजयार्धके विद्याधरोकी सेनाओका स्कधावार दिखाई पडा। पवनंजयके सैन्यका रण-वाद्य सुनकर, स्कधावारमे हल-चल मच गई। जो भी यह मित्र राजवियोका मोर्चा है और नवागत सैन्य भी उनका मित्र ही है, फिर भी राजा-राजाके बीच जो अहकारोके अतर-विग्रह है, आपसके बैर, मात्सर्य और ईर्ष्याएं है, वे भीतर-भीतर कसमसा उठी। और फिर जैसी कि पूर्व सूचना मिली थी, इस सैन्यके सेनापति है देव पवनजय—जबु-द्वीपके वे निराले और बदनाम राजपुत्र, जिनको लेकर विचित्र कथाएं राज-घरोमे प्रचलित है।—स्कधावारमे दबी जबानसे व्यग-विनोद होने लगे। अबतक के मनोमे छुपे हुए दाव-घात, अकारण मुहपर आने लगे। स्वागतमे यहा भी सारे सैन्यका एकत्र रण-वाद्य बजने लगा और जयकारे होने लगी। दोनो ओरके रण-वादित्रो और जयकारोमे एक अलक्ष्य स्पर्धाकी जोशभरी टक्कर होने लगी।

कुछ दूर और जानेपर, अपने रथके सर्वोच्च गवाक्षपर चढ़कर पवन-जयने फिर एक बार सिंहावलोकन किया।—सैन्य-शिविरोकी रग-बिरगी ध्वजाओ, पालो, तोरणो और तबुओसे अतरीप पटा है। उससे परेकी वेलामें तुग-काय युद्ध-पोतोके मस्तूल और ध्वजाए फहराती दीख पडी।—दूर समुद्रमे रक्त-पताकाओ और रत्न-शिखरोसे मडित सोनेकी लकापुरी जग-मगा रही है। उसीकी सीधमें बहुत दूरपर दीख रहा है छोटा-सा वरुण-द्वीप।—समुद्रकी विशालता ही उसकी लघु सत्ताका बल है। देखकर पवनंजयका चेहरा आनद और संतोषसे चमक उठा। मन ही मन बोले—अपने स्वर्ण-वैभवके उद्योतसे गर्विता है यह लकापुरी.. आकाशमे सिर उठाये इद्रों और माहेद्रोके ऐश्वर्यको यह चुनौती दे रही है—माना! पर उसी महासमुद्रकी चिर चचलताके बीच, अपनी लघुतामे निछावर होता हुआ, सोया है वह वरुण-द्वीप।—और किसका घमड है जो महा-

सागरको इन निर्बंध लहरोंपर शासन कर सके ?—पानीके बुद्-बुद्, इसी पानीको इच्छासे उत्पन्न होकर, इसकी महासत्तापर अपना शासन स्थापित करेंगे ?—और अपनी विद्याओसे समुद्रके देवताओं, दैत्यों और जल-चरोंको यदि रावणने वश किया है, तो उन विद्याओके बलको भी देख लूगा—! धर्मके ऊपर होकर कौनसी विद्याए और कौनसे देवता चल सकेंगे ? रावणने जल-देवोको बाधा है, समुद्रको तो नही बांधा है ? . . . . यही समुद्रकी राशि-कृत लहरें होगी वरुणका परिकर . . . !

अतरीपके स्कधावारमे घुसकर जब पवनजयके सैन्यने आगे बढ़ना चाहा, तो अन्य विद्याधरोके सैन्योने उनकी राह रोक ली। पवनजय-ने आकर, समुख आये राजाओ और सेनापतियोका सविनय अभिवादन किया, और अनुरोधके स्वरमे अपना मंतव्य संक्षेपम जता दिया।—उन्होने बताया कि उनका प्रयोजन यहा नही है। उस सामुद्रिक मोर्चेपर, जहा रावण और वरुणके बीच युद्ध चल रहा है, वही जाकर वे अपना स्कधावार बाधेगे।—सहार बहुत हो चुका है, अब युद्धको बढ़ाना इष्ट नहीं है, हो सके तो जल्दीसे जल्दी उसे समेट लेना है। महामडलेश्वर रावणका और अन्य सारे राज-पुरुषोका कल्याण इसीमें है। प्रस्तुत युद्धके कारणो और पक्षोकी विषमतापर विचार करते हुए लग रहा है, कि यदि इस विग्रहको बढने दिया गया तो लोकमे क्षात्र-धर्मकी मर्यादा लुप्त हो जायगी ! चारो ओर आतताइयो और दस्युओका साम्राज्य हो जायगा। धर्मकी लीक मिट जानेसे अराजकता फैलेगी।—जन-जन स्वेच्छाचारी हो जायगा। लोकका जीवन अरक्षित होकर त्राहि-त्राहि कर उठेगा। आत्म-हित और सर्व-हितके बीच अविनाभावी सबंध है। कल्याणका वही मगल-सूत्र छिन्न हो गया है, हो सके तो उसे फिरसे जोड देना है। उसीमे हमारे क्षात्रत्व और राजत्वकी सार्थकता है। और यही प्रयोजन लेकर वे सीधे दोनों पक्षोंके स्वामियोसे मिला चाहते हैं। —इसीलिये मित्र-राजन्योसे उनका कर-बद्ध अनुरोध है कि वे उन्हें

अपने निर्दिष्ट लक्ष्यपर जानेका अवसर दें और प्रेमके इस अनुष्ठानमें सहयोगी होकर उनका हाथ बटावे—?

पर राजाओके समुख क्षात्र-धर्म, प्रेम और कल्याणका प्रश्न नही है। उनका प्रधान लक्ष्य है, महामडलेश्वर रावणकी सहाय्यमें सबसे आगे दीखकर अपना पराक्रम और प्रताप दिखाना।—और जब वे पहले आकर जमे हैं, तो क्यो वे पवनजयको, आगे दीखकर युद्धके नेतृत्वका श्रेय लेने देंगे।—एक-स्वरमे सारा राज-मडल मुकर गया—'नही, यह नही हो सकता, यह हर्गिज़ नही हो सकता, यह अनधिकार चेष्टा है, यह समस्त राज-चक्रकी अवमानना है, इसमें स्वामी-द्रोह और दुरभि-सधिकी गध आ रही है। यह सरासर अन्याय-विचार है—लौट जाओ, अपने स्थानपर लौट जाओ—पीछेसे आये हो तो पीछे आकर जुड जाओ। सामुद्रिक मोर्चोंपर अभी पर्याप्त सैन्य उपस्थित है।—और वहासे मांग आये भी तो जो आगे हैं वे पहले जायेंगे।' आदि आदि। देखते-देखते चारो ओर भृकुटिया तन गईं। बातकी बातमें आक्रोश और उत्तेजन फुफकार उठा। पवनजयकी नम्र और धीर विनतियोपर ताने और व्यग बरसने लगे।

पर पवनजय ज़रा विचलित न हुऐ। निर्विकार और निश्चल, ठीक इसी समुद्रके तटकी तरह गभीर होकर अपनी मर्यादा पर वे थमे रहे। दोनो हाथोंसे शाति और समाधानका सकेत करते हुए, पवनजयने समस्त नरेंद्र मंडलके प्रति माथा भुका दिया और अपने रथकी वल्गा मोड दी।—उनकी इस हारपर पीछे हो-होकारका तुमुल कोलाहल हुआ।—पर मन ही मन पवनजय खूब जानते हैं कि उन्होने जो मार्ग पकडा है उसपर गमन सहज नही है। हारो और बाधाओसे वह राह पटी हुई है। ये बाधायें तो बहुत तुच्छ हैं। उस राहपर तो पग-पगपर प्राण बिछाकर ही चलना होगा। उनका मन आज अपूर्व रूपसे शात और सतुलित है।

यथास्थान लौटनेपर पवनजयने सेनाओंको डेरे डालने और पूर्ण विश्राम लेनेकी आज्ञायें सुना दी। बातकी बातमे शिविर निर्माण हो गया। कुमार स्वय भी युद्ध-सज्जामे ही तल्पपर अधलेटे हो गये कि ज़रा पथकी श्रांति मिटा ले। पर भीतर सकल्प अश्रांत भावसे चल रहा है। उसमे अरुक गति है, विराम नही है।—आत्मस्थ होकर पवनजयने सुदूर शून्यमे लक्ष्य बाधा। उपरिचेतनमे आसीन हो जानेपर, तत्कालीन बहिर्जगत विस्मृत हो गया। ऊपर जैसे एक हलका-सा तद्राका आवरण पड गया। बिदा-क्षणकी अजनाकी वह सानुरोध दृष्टि और फिर एक गभीर भारसे आनत वह कल्प-लता, अपने सपूर्ण मार्दवसे एक-बारगी ही अतरमे झलक गई।—और अगले ही क्षण उसमेसे समुद्रकी प्रशांत सतह सामने खुल पडी। थोडी देरमे पाया कि आप जलके उस अपार विस्तारपर दीर्घ डग भरते हुए चल रहे है। पैरों तले लहरे स्थिर हो गई है या चचल है, इसका पता नही चल रहा है। पर अस्खलित गतिसे वे उनपर बढते जा रहे है। अचानक सामने आकाशसे उतरता हुआ एक अपरूप सुदर युवा दीखा।—देखते-देखते उसके शरीरकी कातिसे तेजकी ज्वालाए निकलने लगी।.. युवा सरल कौतुकसे नाचता हुआ स्वर्ण-लकाके शिखरोपर छलागे भर रहा है।.. .और निमिष मात्रमे उसके पैरोसे निकलती हुई शिखाओसे सोनेकी लका धू-धू सुलग उठी। अमित स्वर्णकी राशि गल-गलकर समुद्रकी लहरोमे तदाकार हो रही है।....और ऊपर अपनी मुस्कानसे शीतल कातिकी किरणे बरसाता हुआ वह अपरूप सुदर युवा फिर आकाशमे अतर्लीन हो गया। ....और अतमे फिर दिखाई पडा महाकाशके वक्षमे पडा वही स्निग्ध और प्रशात सागरका तल ।

आख खुलते ही पवनजयने पाया कि पायतानेकी ओर चौकीपर प्रहस्त बैठे है।—स्वर्गकी उपपाद शय्यापर जैसे अपने जन्मके समय देव जागकर उठ बैठते है, वैसे ही एक सर्वथा नवीन जन्ममें

जागनेकी अगड़ाई भरते हुए कुमार पवनजय उठ बैठे।—तुरत बोले—

"सखे प्रहस्त, महामडलेश्वर रावणसे जाकर अभी-अभी मिलना होगा।—पहले ही कह चुका हू, आवाहन धर्म और कल्याणका है। मैं विजय लेने नही आया, मै तो रहा-सहा स्वत्वका जो अभिमान है उसे ही हारने आया हू। अपने ही भीतर जो शत्रु चोर-सा घुसा बैठाहै, उसे ही तो पकडकर बाध लाना है। कठिनसे कठिन कसौटीकी धारपर ही वह नग्न होकर सामने आयेगा। शस्त्र और सैन्य उसे जीतनेमे विफल होंगे। उससे भीतरका वह दुर्जय शत्रु टूटेगा नही, उसका बल उल्टे बढ़ता ही जायगा। और विजय यदि पानी है तो अपने ही ऊपर, तब सैन्यको साथ ले जाकर क्या होगा?—सेनाओको धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी आज्ञा दे दो, जबतक हम लौटकर न आयें। अंतरीपके सैन्य-शिविरोंमे यदि कोई अशाति अथवा कोलाहल हो, शस्त्र भी उठ जायें, तब भी हमारे सैन्य निश्चेष्ट और शात रहे। उन्हें क्षुब्ध और चचल जरा नही होना है। आवेश और चुनौती कहीं नही झलकाना है। बाहरकी चिरौरी, छेड़-छाड अथवा कटुताकी अवज्ञाकर उसके समुख सर्वथा मौन रहना है।—जबतक हमारी नई आज्ञा न हो, यही हो सैन्यका अनुशासन!—उपसेनापतियोंको आज्ञाए सुनाकर यानपर आओ, हम इसी क्षण उड़कर लका चलेंगे—।"

× × × लकामे पहुचकर पवनजयको पता लगा कि रावण स्वय वरुण-द्वीपकी समुद्र-मेखलामें जा उतरे है। द्वीपके प्रमुख द्वारकी वेदीपर वे स्वय वरुणके समुख जूझ रहे हैं। सहयोगी मित्र और मांडलीक के नाते लकापुरीके राज-परिकरमें पवनजयका, यथेष्ट स्वागत-समान हुआ। जिस प्रासादमें ठहराये गये थे, उसीके एक शिखरपर चढ़कर पवनजयने युद्ध-स्थितिका सिंहावलोकन किया। उन्होंने देखा, वरुण-द्वीपके आस-पासके जल-प्रदेशमें बहुत दूर-दूरतक विद्याधरो और भूमि-

गोवरोंके सैन्य' विशाल जहाजी बेडे डालकर द्वीपपर निरंतर आक्रमण कर रहे हैं। विद्युत् और अग्नि-शस्त्रोकी विस्फोटक मारोसे जल और आकाश मलिन और क्षुब्ध हो गया है। या तो दानवोकी भैरव ललकारे सुन पडती हैं, या फिर कटते और मरते मानवोकी आर्त्त चीत्कारोसे दिग्-दिगत त्रस्त हो रहा है। चारो ओरके समुद्रका जल मानवके रक्तसे गहरा लाल और काला हो गया है—।

. . . पवनजयके वक्षमे एक तीव्र उद्वेलन और गहरी व्यथा-सी होने लगी। 'ओह, क्या यह भी हो सकता है मनुष्यका रूप ?—क्यो मनुष्य इतना अज्ञानी और विवश हो गया है कि ऐसी निर्दयता-पूर्वक दिन-रात अपनी ही आत्म-हत्या कर रहा है।—इस निरर्थक सहारका कहा अत है, और क्या है इसका प्रयोजन ? इससे मिलनेवाली विजयका क्या मूल्य है ? कुछ सबलोकी महत्वाकाक्षाओ और मान-तृष्णाकी तृप्तिके लिये लक्ष-लक्ष अबलोंका ऐसा निर्मम प्रपीडन और सघात क्यो ?—नही, वह नही होने देगा यह सब—इतनी असाध्य नही है यह विवशता।

. . . . राशिकृत धूम्र का यह पर्वताकार दानव कहाँ से जन्मा है ? क्या यही है मनुष्यके पुरुषार्थ का श्रेष्ठ परिचय ?—आकाश और समुद्रकी सनातन शुचिताको नाश, विस्फोट, त्रास और मरणसे कलकितकर, क्या मनुष्य उनपर अपना स्वामित्व घोषित किया चाहता है ? अपने ही स्वजन मनुष्यके रक्तसे अपने भालपर जयका टीका लगाकर, क्या वह अपना विजयोत्सव मना रहा है—? क्या यही है उसकी दिग्विजयका चूडात विंदु ? क्या इसी बलको लेकर मनुष्य अखड प्रकृतिपर अपना निर्बाध स्वामित्व स्थापित करनेका दावा कर रहा है ?—पर यह विजेताका वरण नही है, यह तो बलात्कारीका व्यभिचार है। तब निखिलका अमृत और सौंदर्य उसे नही मिलेगा, मिलेगे केवल एक विकलाग शवके टुकडे !—उसी निर्जीव मासको हृदयसे चिपटाकर, मनुष्य अपने आपको धन्य मान रहा है. . . . !

....मनुष्यके पुण्य-ऐश्वर्य, बल-शौर्य, विद्या-विज्ञान, उसके पुरुषार्थ और उसकी साधनाका क्या यही है चरम रूप—? सहस्रों वर्षोंतक इसी रावणने कितनी ही तपस्याएं की हैं; जाने कितनी विद्याओं, विभूतियों और सिद्धियोंका वह स्वामी है। नियोगसे ही तीन खंड पृथ्वीका वह अधीश्वर है। अपने नीति-शास्त्रके पांडित्यके लिये वह लोकमें प्रसिद्ध है। पर इस सारी महिमा और ऐश्वर्यके भीतर वही अहंकारकी विद्रूप प्रेतिनी हंस रही है; जन्म-जन्मकी तृष्णाका रक्त उसके ओठोंपर लगा है—और उसकी प्यासका अंत नहीं है। अपनी उपलब्धियोंके इस विराट परिच्छदके भीतर, इसका स्वामी कहा जानेवाला मनुष्य, स्वयं ही इसका बंदी बन गया है—! कितना दीन-हीन, अवश और दयनीय है वह? जिन भौतिक शक्तियों और विभूतियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेका उसे गर्व है, वह नहीं जानता है कि वह स्वयं उन जड़ शक्तियोंका दास हो गया है।—अपने ही आत्म-नाशको वह, अपना आत्म-प्रकाश समझनेकी भ्रांतिमें पड़ा है....।

...मनुष्यके पुरुषार्थ और उसकी लब्धियोंकी ऐसी दुःखांत पराजय देखकर, पवनंजयका समस्त हृदय हाय-हाय कर उठा। फिर एक मर्मांतिक वेदनासे वे आकंठ भर आये।—उन्हें लगा कि यह रावणकी और इन प्रमत्त नरेंद्रोंकी ही पराजय नहीं है; यह तो उसकी अपनी पराजय है!—समस्त मानव-भाग्यका यह चरम अपराध है। उसे देखकर उस मानव-पुत्रकी आंखोंमें लज्जा, करुणा, ग्लानि और आत्म-संतापके आंसू भर आये।

....इस अपराधका उन्मूलन करना होगा।—उसके बिना उसके मानवत्व और अस्तित्वका त्राण नहीं है।....उसे प्रतीति हो रही है कि उसके जीवनका आयतन जो यह लोक है, उसके मूलाधार हिल उठे हैं। इस महासत्ताको धारण करनेवाले ध्रुव धर्मके केंद्रसे, लोक च्युत हो गया है।—हमारी धात्री पृथ्वी और हमारा

रक्षक आकाश किस क्षण हमारे भक्षक बनकर हमे लील जायेंगे; इसका कुछ भी निश्चय नही है।—कौनसी शक्ति लेकर इस महामृत्युके समुख वह खडा हो सकेगा....?

....क्या मानवके उसी पुरुषार्थ, शौर्य-वीर्य, विद्या-बुद्धि और बलके सहारे वह इस मौतका प्रतिकार कर सकेगा, जिससे प्रमत्त होकर मनुष्यने स्वय इस मौतको आमत्रित किया है—? नही, उस जड शक्तिसे टकराकर तो यह पुजीभत जडत्व और भी चौगुना होकर उभरेगा। उन सारी शक्तियोसे इनकार करके ही आगे बढना होगा।—नितात बलहारा, सर्वहारा और अकिंचन होकर ही शक्तिके उस विपुल आयोजनके समुख, अच्युत और अनिरुद्ध खडे रहना होगा।—जीवनके अमरत्वमे श्रद्धा रखकर, चैतन्यकी नग्न और मुक्त धाराको ही उसके समुख बिछा देना होगा, कि मौत भी चाहे तो उसमे होकर निकल जाये, उसे रोक नही है।—तब वे शक्तिया और वह मौत अपने आप ही उसमे विसर्जित हो जायेंगे, उसे पार करके जानेमे उनकी सार्थकता ही क्या है ?—मौतके समुख हमारा चैतन्य कुठित हो जाता है, इसीसे तो मौत हमारा घात कर पाती है। पर चैतन्य यदि अव्याबाध रूपसे खुला है, तो उसमे आकर मौत आप ही मर जायेगी।—पवनजयको लग रहा है कि अन्यथा जीवनको अवस्थान और कही नही है। वह अस्तित्वके उस चरम सीमानपर खडा है, जहा एक ओर मरण है और दूसरी ओर जीवन। दोनोके बीच उसे चुन लेना है। तीसरी राह उसके लिये खुली नही है—। यदि वह सचमुच जीना चाहता है तो मौतसे बचकर या उससे भय-भीत होकर जीना सभव नही है। तब जीवनको यदि चुनना है तो मौतके समुख उसे खुला छोड़ देना होगा, मौत आप ही मिट जायेगी।—जीवनकी रक्षाके लिये यदि उस मौतसे लडने और अवरोध देने जाओगे, तो आप ही उसके ग्रास हो जाओगे। इसलिये जीवन यदि पाना है तो, उसे दे देना होगा।

एक मात्र इसी मूल्यसे उसे पाया जा सकेगा।—और पवनजय जीना चाहता है—!

....उसके भीतरकी सारी वेदनाके स्तरोंमेंसे, सत्यका यही एक सुर सबसे ऊपर होकर बोल रहा है। उसके समूचे प्राणमें इस क्षण एक अनिर्वार व्यथा है, कि यह बाहरका विश्व क्यों उससे विच्छिन्न होकर, उसका पराया हो गया है ? उसके साथ फिर निरवच्छिन्न होकर उसे जुड़ जाना है।—उस बाहरके विश्वमें यह जो नाशका चक्र चल रहा है, इसमें अपने ही आत्म-घातकी वेदना उसे अनुभव हो रही है। इसीसे अपनी समस्त चेतनाको बाहर फेंककर, उसके पूरे ज़ोरसे वह उस बहिर्गत विश्वको अपने भीतर समेट लाना चाहता है, कि वह उसकी रक्षा कर सके। और इस संवेदनके भीतर छिपा है उसकी अपनी ही आत्म-रक्षाका अनुरोध ! तब बाहरके प्रति अपनेको देनेमें किसी कर्तव्य-का अनुरोध नहीं है, वह तो अपनी ही आत्म-वेदनासे निस्तार पाना है।

मन ही मन अपना भावी कार्यक्रम गूथकर, रात हीको पवनंजयने रावणके गृह-सचिवसे अनुरोध किया कि सवेरे वे स्वयं जाकर महा-मंडलेश्वर से मिला चाहते हैं। उन्होंने बताया कि उनका प्रयोजन बहुत गंभीर और गोपनीय है। स्वप्नमें प्रकट होकर उनकी कुल-देवीने उन्हें एक गोपन-अस्त्र दिया है, वही हाथों-हाथ वे रावणको अर्पित किया चाहते हैं; उस आयुधमें यह शक्ति है कि बिना किसी सहारके क्षण मात्रमें वह शत्रुको निर्मूल कर देता है। गृह-मंत्री जानते थे कि वरुण-द्वीपके दुर्गकी प्रकृत चट्टानी दीवारोंपर विद्याधरोंकी सारी विद्याएं और शस्त्रास्त्र विफल सिद्ध हुए हैं। तब अवश्य ही कोई असाधारण योगा योग है कि आदित्यपुरका राज-पुत्र एकाएक यह गोपन-अस्त्र लेकर आ पहुंचा है। मंत्रीके आश्चर्य और हर्षका पार नहीं था। तुरंत उन्होंने पोत-प्रधानको बुलाकर आज्ञा दी कि अगले दिन तड़के ही, महाराजके अपने निजी बेड़ेकी एक जल-वाहिनी, परिकरके कुछ खास व्यक्तियोंको

लेकर चक्री के 'सीमधर' नामा महा-पोतपर जायेगी। उन व्यक्तियोंको पोतके ठीक उस द्वारपर उतारा जाये, जहांसे वे सीधे चक्रेश्वरके पास पहुंच सकें। *यथा-समय समुद्र-तोरणपर यान प्रस्तुत रहना चाहिये*— आदि।

× × × समुद्रके क्षितिजपर बाल-सूर्यका उदय हो रहा है।— रावणके कुछ विश्वस्त गुप्तचरोंके सरक्षणमें पवनजय और प्रहस्तको लेकर 'जल-वाहिनी सीमधर-पोतके निज-द्वारपर आ पहुंची। चरके नियत संकेतपर पोतके निश्चिह्न तलमें एकाएक एक द्वार खुल पड़ा। आगंतुकोंको भीतर लेकर फिर द्वार वैसा ही बेमालूम बंद हो गया। आगे-आगे गुप्त-चर अपनी आतंककी गरिमामें अभिभूत होकर बेखबर चल रहे थे और पीछे-पीछे पवनजय प्रहस्तके कधेपर हाथ रखकर उनका अनुसरण कर रहे थे। रास्तेमें ही पवनजयने चरोंको बता दिया था कि महाराजके ममुख जानेके पहले, वे पोतकी आयुध-शालामें जाकर युद्ध-सज्जा धारण करेंगे, अतएव पहले उन्हें वे आयुधागारमें ही पहुंचा दें। उक्त निश्चयके अनुसार पवनंजय और प्रहस्तको आयुधागारमें पहुंचाकर, वे चर युद्ध-स्थिति देखनेकी उत्सुकतासे पोतकी खुली कटनीमें चले गये। चरोंके आदेशानुसार पवनंजयको आयुधागारमें प्रवेश करा देनेके बाद, प्रहरी उस ओरसे निश्चिन्त हो गया था।

× × × सूर्य अपनी सपूर्ण किरणोंसे उद्भासित होकर मगलके पूर्ण-कलशसा उदय हो गया।. . . . चक्रीके 'सीमधर, महा-पोतकी खुली अटाके छोरपर खडे हो, उदीयमान सूर्यकी ओर उद्ग्रीव होकर, पवनजयने *तीन बार समुद्रकी लहरोंपर शातिका शख-नाद किया. . .* ! अप्रात चल रहे निबिड युद्धमें धीरे-धीरे एक सन्नाटा-सा व्याप गया। रणके उन्मादमें बेभान जूझ रहे सैनिकोंके हाथमें शस्त्र स्तंभित होकर तने रह गये—! रावणको किसी गंभीर दुरभिसंधिकी आशंका हुई। चक्रीके धनुषपर चढ़ा हुआ वज्र-बाण, प्रत्यचासे छूटकर उंगलियोंमें ढलक पडा।

क्रोधसे उनकी भृकुटियां तन गईं । आग्नेय दृष्टिसे मुड़कर पीछे देखा—मानो भृकुटिसे ही ललकारा हो कि—कौन है इस पृथ्वीपर जो त्रिखंडाधिपति रावणका अनुशासन भंग करनेकी स्पर्धा कर सकता है—? मैं उसे देखा चाहता हूं . . . .। ठीक उसी क्षण हसते हुए पवनजय समुख आ उपस्थित हुए।

"आदित्यपुरका युवराज पवनंजय महामडलेश्वरको सादर अभिवादन करता है!"

कहकर पवनंजय सहज विनयसे नत हो गये । भृकुटियोके बल उतरनेके पहले ही, रावणके वे कई दिनोंके मुद्रित ओठ आज बरबस मुस्करा आये। कुमारके माथेपर हाथ रखकर उन्होने आशीर्वाद दिया और कुशल पूछी । फिर चकित-विस्मित वे उस दु साहसिक राज-पुत्र के तेजो-दीप्त चेहरेको देखते रह गये, जिसकी समोहिनी भौंहोके बीच अवहेलित अलकोकी एक घुघराली लट स्वाभाविक-सी पडी थी ! रावण कुछ इतने मुग्ध और बेसुध हो रहे कि क्षणभरको अपने प्रचंड प्रताप और महिमाका भान उन्हे भूल गया। प्रश्न अतर्मनमें निस्तब्ध होकर खो गया —कि कैसे उस उद्दड युवाने बिना पूर्व-सूचनाके ठीक महामडलेश्वरके समुख आनेका दु:साहस किया है ? चक्रीके उस प्रखर आतकशाली मुखको यों दिग्मूढ-सा पाकर पवनजय मुस्करा आये। सहज ही समाधान करते हुए मृदु मद स्वरमें बोले—

"महामडलेश्वर ! औद्धत्य क्षमा हो ।—आपके मनकी चिंताको समझ रहा हू । पर निश्चिंत रहें—अनायास अभी शांतिका शख-सधान करनेकी धृष्टता मुझीसे हुई है । यदि शासन-भगका अपराध मुझसे हुआ हो तो उचित दड दे—यह माथा समुख है। पर इस क्षण वह अनिवार्य जान पड़ा, इसीसे आपदकालमे वह नियमोल्लघन मुझसे हुआ है । कृपया, मेरा निवेदन सुन लें, फिर जो इष्ट दीखे वही निर्णय दें। तीन खंड पृथ्वीके राज-राजेश्वर रावण, अपने अधीन इतने

विशाल राज-चक्रके रहते, इस छोटेसे भूखडपर अधिकार करनेके लिये स्वयं शस्त्र उठायें और दिन-रात युद्ध-रत रहें, यह मुझे असह्य और अशोभन प्रतीत हुआ। समुद्र-पर्यंत पृथ्वीपर जिसकी नीतिमत्ताकी कीर्ति गूज रही है, जिसकी तपश्चर्यासे ब्रह्मर्षियोके मस्तक डोल उठे और इंद्रोके आसन हिल उठे, उस रावणकी महानता और गौरवके योग्य बात यह नही है। ....यदि आप-से वीरेंद्र और ज्ञानी ऐसा करेंगे, तो लोकमे ब्रह्म-तेज और क्षात्र-तेजकी मर्यादा लुप्त हो जायगी। राजा तो अबल और अनाथ-का रक्षक होता है, और आप तो रक्षकोंके भी चूड़ामणि हैं। लकापुरीके बालक-सा यह वरुण-द्वीप आपके प्रहारकी नही प्यारकी चीज होनी थी! जिस चक्रीके एक शंखनाद और तीरपर दिशाओके स्वामी उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेते है, वह एक छोटेसे राजवी और उसकी छोटी-सी धरतीको जीतनेके लिये अपना सारा बल लगा दे, यह व्यग क्यों जन्मा है. . . ? सहस्रों नरेंद्र जिसके तेज और प्रतापको सहज ही सिर झुकाते हैं, ऐसे विजेताका शस्त्र हो सकती है, केवल क्षमा! क्षमा न कर इस छोटे-से राजाको इतने सैन्योके साथ आक्रात किया गया है : तब लगता है कि दुर्दांत विजय-लालसा पराकाष्ठापर पहुचकर, स्वयं एक बहुत बडी और विषम पराजय बन गई है। अपनी वही सबसे बड़ी और अतिम हार, आखोके सामने खड़ी होकर, दिन-रात आपकी आत्माको त्रस्त किये है। आप-से विजेताकी इतनी बडी हारने मेरे मनको बहुत सतप्त कर दिया है। इसीसे एक लोक-पुत्रके नाते, सीधे-लोक पिताके पास अपनी पुकार लेकर चला आया हू। निवेदनके शेषमें इतना ही कहना चाहता हूं, कि मेरी मानें तो राजा वरुणको अभय दे, आप स्वयं होकर उसे रक्षाका वचन दें, उसके वीरत्वका अभिनंदन करें और लकापुरी लौट जायें। यही आप से वीर-शिरोमणिके योग्य बात है। लोक-पिताके उस वात्सल्यके संमुख, वरुण आप ही झुक जायगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। युद्धका ही अंग होकर शायद मैं इस भीषण युद्धको न थाम पाता, इसीसे अपने स्वायत्त

धर्म-शासनको सर्वोपरि मानकर मैंने यह शांतिकी पुकार उठाई है। आशा करता हू, महामडलेश्वर मेरे मतव्यको समझ रहे है. . . ."

देव और दानव जिस महत्ताके अधीन सिर झुकाये खड़े है, पृथ्वीका वही मूर्तिमान अहंकार खंड-खंड होकर पवनंजयके पैरोंमें आ गिरा। मूक और स्तब्ध रावण सिरसे पैरतक उस अद्भुत युवाको देखते रह गये. . . .। यह कैसी अंतर्भेदी चोट है, कि प्रहारकके प्रति हृदय प्यारसे उमड आया है। पर प्यार प्रकट करनेका साहस नहीं हो रहा है, और क्रोध इस क्षण असभव हो गया है। कैसे इस विडबनासे निस्तार हो, रावण बड़े सोचमें पड गये। इस स्थितिके समुख खडे रहना उन्हे दूभर हो गया। कौशल-पूर्वक टाल देनेके सिवा और कोई रास्ता नही सूझा। किसी तरह अपनेको सम्हाला। गौरवकी एक घायल और कृत्रिम हसी हसते हुए रावण बोले—

"हूँ. . .वाचाल युवा! जान पडता है साथी-सखाओंमें खेलना छोडकर अर्ध-चक्री रावणको उपदेश देने चले आये हो! इस बालकसे सलोने मुखड़ेसे ज्ञान और विवेककी ये गुरु-गभीर बातें सुनकर सचमुच बडी हसी आ रही है। तुम्हारी यह नादानी मेरे निकट क्रोधकी नहीं प्यारकी वस्तु है। पर तुम्हारा यह दु साहस खतरेसे खाली नही है।—उद्दंड युवा, सावधान! आदित्यपुरके युवराजको मैंने धर्म और राजनीतिकी शिक्षा लेने नहीं बुलाया, उसे इस युद्धमें लडनेको न्योता गया है। विजय और वीरत्वकी ये लंबी-चौडी भावुक व्याख्याएं छोटे मुंह बड़ी बातकी जल्पना मात्र है।—पहली ही बार शायद युद्ध देखा है, इसीसे भयभीत होकर बौखला गये हो, क्यो न? महासेनापति, इस युवाको बदी करो। जो भी इसका अपराध क्षमा करने योग्य नही, फिर भी इसके अज्ञानपर दयाकर और अपने ही राज-परिकरका बालक समझकर मैं इसे क्षमा करता हू। मेरे निज महलके शिखर-कक्षमें इसे बंदी बनाकर रक्खा जाये और युद्ध की शिक्षा दी जायें।—ध्यान रहे यह कौतुकी युवा

यदि निर्बंध रक्खा गया, तो निकट आई हुई विजय हाथसे निकल जायगी।---वरुण-द्वीपके टूटनेमे अब देर नहीं है। उसके पिछले द्वारमे सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है।. . ."

आखे नीची किये पवनंजय चुप-चाप सुन रहे थे। बड़ी कठिनाईसे अपनी हसीपर वे संयम कर रहे थे। चलती बेर दृष्टि उठाकर, आखोमें ही मर्मकी एक हसी हंसकर पवनंजयने रावणकी ओर देखा और सहज मुस्करा दिया। प्रत्युत्तरमे रावण भी अपनी हंसी न रोक सके। महा-सेनापतिके इंगितपर जब कुमार चलनेको उद्यत हुए, तो पाया कि चारो ओर वे चार नग्न खड्गोवाले सैनिकोसे घिरे है। जरा आगे बढनेपर प्रहस्त भी उनके अनुगामी हुए।

योगवशात् रावणके जिस महलके शिखर-कक्षमे पवनजय और प्रहस्त बंदी बनाकर रक्खे गये थे, वहीके एक गुबदकी ओट पवनंजय अपना यान छोड़ आये थे। आतंकके उस बंदी-गृहके प्रहरी भी, दिन-रात आत-कित रहकर मृतवत हो गये थे। जीवनमें पहली ही बार पवनजयका वह लीला-रमण स्वरूप देखकर, वे वर्बर प्रहरी उस आतकसे मुक्ति पा गये। मुग्ध और विभोर आखोसे वे एक-टक पवनजयकी निराली चेष्टाए देखते रह गये। रावणका भयानक प्रभुत्व एक-बारगी ही वे भूल गये। यत्रकी तरह जड़ और कठोर हो गये वे मानवके पुत्र, फिर एक बार सहज मनुष्य होकर जो उठे। उन्हे पास बुलाकर पवनजयने उनका परिचय प्राप्त किया, अपना परिचय दिया और सहज ही अपने भ्रमणके अद्भुत और रजनकारी वृत्तात सुनाने लगे। आनद और कौतूहलमे अवश होकर प्रहरी बह चले। आठों पहर उनके हाथमें अडिग तने रहनेवाले वे नग्न खड्ग एक ओर उपेक्षितसे पडे रह गये। बातों ही बातोमें कब शाम हो गई और कब दिन डूबकर रात पड गई, सो प्रहरियोको भान नहीं है। एकके बाद एक ऐसे रसभरे आख्यान कुमार सुना रहे है, कि आस-पासके वे निरीह प्राणी उस रस-धाराकी लहरे बनकर उठ रहे है और मिट रहे

हैं। कुमारसे बाहर उनका अपना कर्तृत्व या अस्तित्व शेष नहीं रह गया है....

....कहानियां सुनते-सुनते जाने कब वे सब प्रहरी अबोध बालकोंसे सो गये—। इसी बीच प्रहस्तकी भी आंख लग गई। अकेले पवनंजय जाग रहे हैं। आंखे मूंदकर कुमार एक तल्पपर लेट गये। सकल्प पूर्ण वेगसे सजग होकर अपना काम करने लगा।—रावणके आदेशमें अपने प्रयोजनकी एक बात उन्होने पकड़ ली थी: द्वीपके पिछले द्वारमें सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है। यदि द्वार टूट गया, तो इसके बाद द्वीपपर नाशका जो नृत्य होगा, हिंसाका वह दृश्य बडा ही रौद्र और लोम-हर्षी होगा। जितना ही रक्त रावणको अबतक इस युद्धमें बहाना पडा है, उसका चौगुना रक्त बहाकर वह इसका प्रतिशोध लेगा। रावणसे बातकर उन्हें यह निश्चय हो गया था कि त्रिखंड पृथ्वीका अधीश्वर अपना ही अधीश्वर नही है। वह तो अपने ही से हारा हुआ है। उसे हरानेकी समस्या उनके सामने नहीं है। हराना है उस जडत्वकी शक्तिको जिसके वशीभूत होकर, रावण-सा महा-मानव इतना दयनीय और दुर्बल हो गया है। वह तो स्वयं त्राण और रक्षाका पात्र हो गया है, उसे हरानेकी क्या कल्पना हो सकती है। वरुण जो भी सत्य और आत्म-स्वातन्त्र्यके लिये लड़ रहा है, पर वह भी उसी जड-शक्तिका सहारा लेकर समुख आई दूसरी जड-शक्तिका प्रतिकार कर रहा है, जिसने रावणको रावण बनाया है। यह प्रतिकार निष्फल होगा और इसमे वरुण और उसका वरुण-द्वीप भले ही मिट जायें, पर शत्रुका उच्छेद नही हो सकेगा—। यह सब होते हुए भी वरुण निर्दोष है, उसीकी ओरसे सत्यकी पुकार सुनाई पड रही है। बिना एक क्षणकी देर किये पवनजयको वहा चले जाना है; नही तो सवेरे बहुत देर हो जायगी।—एक ही रास्ता उसके लिये खुला है: जहा सपूर्ण पशु-बल केंद्रीभूत होकर द्वीपका पिछला द्वार तोड़नेमें लगा है—उसके समुख जाकर उसे खड़े हो जाना है, अकाम और अनवरुद्ध,

कि उस शक्तिको अवसर है कि उसमें होकर अपना रास्ता बना ले। वक्षमें अकंप जल रहीं उस लौके सिवा और बाहरके किसी भी बलपर उसका विश्वास नहीं रहा है। उसके अतिरिक्त चारोंसे वह अपनेको बहुत ही निर्बल, अवश और निःशस्त्र अनुभव कर रहा है। उस अनिवार आत्म-वेदनाके सिवा उसके पास और कुछ नही है।

....रात आधीसे अधिक चली गई है। पवनंजयने बाहर आकर देखा, आक्रमण अविश्रांत चल रहा है। समुद्रकी लहरोमे प्रलयंकरका डमरू भयकर घोष करता हुआ बज रहा है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चीत्कारों और हुकारोंके बीच, विध्वसका देवता, सहस्रो ज्वालाओंके भंग तोडकर तांडव-नृत्य कर रहा है। ब्रह्माड कपा देनेवाले विस्फोटों और आघातोसे दिगंत बहरा हो गया है।

भीतर आकर पवनजयने प्रहस्तको जगाया और सक्षेपमें अपना मन्तव्य उन्हे जता दिया।—प्रहस्त सुनकर सन्नाटेमें आ गये—। बिना एक शब्द बोले वे पवनजयके उस चेहरेको ताकते रह गये।

"दीर्घ विचार और दूर-दर्शिताका यह अवसर नही है, प्रहस्त, तुम और मै इस क्षण अन्यथा सोचनेको स्वाधीन नही है। हमसे परे कोई शक्ति है जो इस मुहूर्त मे हमारे भीतर काम कर रही है; उसीकी पुकारपर चल पडना है। उसे इनकार कर सकना हमारे बसका नही है। रुकना इस क्षण मौत है, जीना है कि चल पडना होगा। यह मुहूर्त महान् है, प्रहस्त, इसके हाथो अपनेको सौंपकर हम निश्चित हो जायें, प्रभु स्वयं इसके रक्षक है।—तैयार होकर यानपर आओ, जरा भी देर हो गई तो अनर्थ घट जायगा।...."

× × × बहुत ऊंचेपर ले जाकर पवनंजयने यानको एक सम गति पर छोड दिया। वरुण-द्वीपके चारो ओर एक लबा चक्कर देकर ऊपरसे रण-लीलाका विहंगावलोकन किया। तदनंतर बहुत ही सावधानीसे कुमारने यानको वरुण-द्वीपमें ला उतारा। यान नीरव-गामी था। नीचे

जलती हुई सहस्रों मशालों और कोलाहलके बीच टूटकर आई हुई उल्काकी रेखा-सा यान उतरा। कोलाहल और भी भयंकर हो उठा। हिंसाके मदमें पागल मानवोंकी बेतहाशा भीड चारो ओरसे आ टूटी। पवनंजय यानसे उतरकर हसते हुए बाहर आये। चारो ओर घिर आई मेदनीके हाथ जोड़कर बार-बार उनके प्रति माथा झुकाते हुए प्रणाम किया। निःशस्त्र और अरक्षित शरीरपर केवल एक-एक केशरिया उत्तरीय ओढ़े, देव-कुमारोसे इन सुदर और तेजोमान युवाओको देख जनता स्तब्ध रह गई। चारों ओर एक सन्नाटा-सा व्याप गया। पवनजयने सार्वजनिक रूपसे मैत्री और अभयकी घोषणा की। कहा कि वे उसी मानव-मेदनीके एक अंश है, विदेशी होकर भी वे उन्हींके एक अभिन्न बाधव और आत्मीय हैं। उनको सेवामे अपनेको देकर कृतार्थ होने वे आये है—और उनका सब कुछ उनके प्रेमके अधीन है।—अतमे उन्होने अनुरोध किया कि तुरत उन्हें राजा वरुणके पास पहुचाया जाये....।

राजा वरुण द्वीपके समुद्र-तोरणपर स्वयं रावणके समुख युद्धमें संलग्न थे। जब उनके पास सवाद पहुचा कि अभी-अभी अचानक दो विदेशी युवा, यानसे द्वीपमें उतरे हैं, सुदर, शात और निःशस्त्र है और उनकी सेवा किया चाहते है, तो सुनकर राजा बहुत अचरजमें पड गये। अवश्य ही या तो कोई महान सुयोग है, अथवा असाधारण दुर्योग—! जो भी हो, शत्रु भी यदि अतिथि बनकर घर आया है, तो वह समान और प्रेमका ही पात्र है।—अपने मत्रणा-कक्षमें आकर राजा अतिथिकी प्रतीक्षा करने लगे...।

कि इतने हीमें कई मशालची सैनिकोसे घिरे पवनजय और प्रहस्त सामने आते दीख पडे। राजाको पहचानकर कुमार सहज विनयसे नत हो गये। उन्हें देखकर ही वरुण एक अप्रत्याशित आत्मीय-भावसे गद्‌-गद हो गये। बिना किसी हिचकके मौन ही मौन राजाने दोनों अतिथियोंको गले लगा लिया। सैनिकोंको जानेका इंगित कर दिया—।

परस्पर कुशल-वार्तालाप हो जानेपर सहज ही पवनंजयने मैत्री और धर्म-वात्सल्यका आश्वासन दिया। राजाने भी पवनंजयके दोनो जुड़े हाथोपर अपना सिर रख दिया—और उनके बधुत्वको ससंमान अंगीकार किया। इसके बाद कुमारने वरुणके वीरत्वका अभिनदन किया, अपना वास्तविक परिचय दिया और कहा कि जिस सत्यके लिये वरुण इस धर्म-युद्धमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे रहे हैं, आदित्यपुरका युवराज उसी धर्म-युद्धका एक छोटा-सा सैनिक बनकर अपने मानवत्वको सार्थक करने आया है। क्या राजा वरुण उसकी सेवा स्वीकार करेंगे? वरुणके ओठ खुले रह गये, बोल नही फूट पाया, अननुभूत आनंदके आंसू उस वीरकी आंखोंके किनारे चूम रहे थे। कुमारको गाढ़ स्नेहके आलिंगनमें भरकर राजाने मूक-मूक अपनी कृतज्ञता प्रकट कर दी।

पवनंजयने तुरत प्रयोजनकी बात पकडी।—उन्होने बताया कि द्वीपके पिछले द्वारमे जलके भीतरसे सेंध लग चुकी है। सवेरेतक द्वार टूट जानेका निश्चित अदेशा है।—उसी द्वारकी तट-वेदीके गर्भ-कक्षमे पवनजय उतर जाना चाहते हैं।—वही होगा उनका मोर्चा। अकेले ही वहां उन्हे लडना है। दूसरा कोई जन उनके साथ वहा नही होगा, अभिन्न सखा प्रहस्त भी नहीं! उनका प्रतिकार क्या होगा, वे स्वय नही जानते, सो उस सबधमें वे कुछ कह भी नही सकते। निश्चय हुआ कि उस कक्षमें अनिश्चित कालके लिये वे बद रहेंगे। आवश्यकताकी चीजे एक खिडकीसे पहुचा दी जायेंगी।

योजनामे राजाकी सहमति या अनुमतिकी प्रतीक्षा किये बिना ही, कुमारने अनुरोध किया कि तुरत उन्हे अपने निर्दिष्ट मोर्चेपर पहुचा दिया जाय। जरा भी देर होनेमें अवसर हाथसे निकल जायगा!—इस रहस्यमय युवककी यह लीला राजाको अपनी बुद्धिसे परे जान पड़ी। उसके सम्मुख कोई वितर्क नही सूझता है, अनायास एक विश्वास और

श्रद्धा हीसे वे ओत-प्रोत हो उठे हैं। मात्र इसका अनुसरण करनेको वे बाध्य हैं, और कोई विकल्प मनमें नही है—।

राजाने तुरत अपने एक अत्यंत विश्वस्त चरको बुलाकर पवनंजयको यथा-स्थान पहुंचानेकी पूरी हिदायतें दे दी। चलती बेर कुमारने प्रहस्तको बिना बोले ही भुजाओमें भरकर भेंट लिया। फिर प्रहस्तकी ओर इगितकर, याचनाकी एक मूक दृष्टि उठाकर राजाकी ओर देखा; मानो कहा हो कि—'यह मेरा अभिन्न तुम्हारे सरक्षणमें हैं, मैं तो जा रहा हूं—जाने कब लौट आनेके लिये. . . . !''

आगे-आगे चर और पीछे-पीछे पवनजय चल दिये; मुड़कर उन्होंने नहीं देखा।—प्रहस्त आसूका घूट उतारकर पवनजयकी वह पीठ देखते रह गये।

. . . .वेदीका वज्र-कपाट खोलकर पवनजय देहलीपर अटक गये।—चरने आगे बढ़कर निश्चिह्न भूमिमे गर्भ-कक्षकी शिला सरका दी। चरके हाथसे रत्न-दीप लेकर पवनजय गर्भ-कक्षमे उतर पडे।. .भीतर करोड़ो वर्षोंका पुरातन ध्वात घटा-टोप छाया है। चट्टानोमे कटे हुए सैकडो खभो और छतोंमे जल-पछियोके अनगिनती घोसले लटके हुए हैं। चारो ओर असंख्य अविजानित जीव-जतुओकी भयानक सृष्टि फैली हैं। समुद्रजलकी विचित्र गधसे भरे वातावरणमें, उन जतुओके श्वासकी ऊष्मा घुल रही है। जल-चरोकी नाना भयावह ध्वनियोके सगीतसे वह तिमिर-लोक गुजित है।—सामनेकी उस भीमकाय दीवारके ऊपरकी एक पार-दर्शी शिलामेंसे, समुद्र-तलका पीला उजाला झाक रहा है।—ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, चारों ओर समुद्रका अविराम गर्जन और संघात चल रहा है।—गर्भ-कक्षके प्रकृत पाषाण-वातायनपर खडे होकर पवनजयने देखा—नीचे नाशकी अतलांत खाई फैली पडी है; उसके भीतर घुसकर समुद्र दिन रात पछाड़े खा रहा है।

. . . .कुमारने चित्त और श्वासका निरोध कर लिया।—सातों तत्त्वोंपर शासन करनेवाले जिनेंद्रका स्मरणकर, कर-बद्ध हो मस्तक झुका दिया। फिर अजुलि उठाकर, उनके संमुख संकल्प किया—

"हे परमेष्ठिन् ! हे निखिल लोकालोकके आयतन ! तू साक्षी है, मंत्रका बल मेरे पास नही है, तत्रका बल भी नही है, सारी विद्याए भूल गई है, शस्त्र भी मेरे पास नही है, अस्त्र भी नही है, सारी शक्तिया हार गया हूं, सारे बलोंका अभिमान टूट गया है, केवल सत्य है मुझ निर्बलका बल !—यदि मेरा सत्य उतना ही सत्य है, जितना तू सत्य है और यह समुद्र सत्य है, तो इस महा-समुद्रकी लहरें मेरे उस सत्यकी रक्षा करे, और नही तो इस प्रकाड जल-राशिके गर्भमे ये प्राण विसर्जित हो जाय . . . !"

कहकर पवनंजयने निखिल सत्ताके प्रति अपने आपको उत्सर्ग कर दिया. . . .।

× × × सबेरा होते न होते एक प्रबल वात्याचक्र द्वीपके आस-पास मडराने लगा। . . . .देखते-देखते समुद्रमें ऐसा प्रलयकर तूफान आया जैसा द्वीपके लोगोंने न पहले कभी देखा था और न सुना ही था। अपनी दिग्विजयके समय, प्रबलसे प्रबल तूफ़ानोके बीच रावणने समुद्रोंपर आरोहण किया है, और उनकी जगतीपर अपनी प्रभुता स्थापित की है, पर आजका तूफान तो कल्पनातीत है। आत्मामें होकर वह आर-पार हो रहा है, अनुभवसे वह अतीत हो गया है। संपूर्ण ब्रह्मांड मानो एक जलतत्वमें निर्वाण हो गया है। सत्तामात्र इस जलाप्लावनकी तरंग भर रह गई है. . . .।

. . . .विप्लवी और तुग लहरोने उठ-उठकर चारो ओरसे द्वीपको ढांक लिया। . . . आस-पास पडे आक्रमणकारियोके विशाल बेडे, बिना लगर उठाये ही, तितर-बितर होकर, समुद्रके दूर-दूरके प्रदेशोमें, लहरोंकी मर्जीपर फेंक दिये गये. . . .। मनुष्यके सपूर्ण बल और कर्तृत्वका बंधन तोड़कर, तत्व अपनी स्वतत्र लीलामें लीन हो गया. . . .।

....और सूर्योदय होते न होते तूफ़ान शांत हो गया। आक्रमण-कारियोंका एक भी पोत नहीं डूबा। पर बिखरे हुए जहाजी बेड़ोंने पाया कि लंगर उनके उठाये नहीं उठ रहे हैं। अपने स्थानसे वे टससे मस नहीं हो पाते। धूपमें चमकते हुए चांदीसे समुद्रकी शात सतहपर, शिशु-सा अभय वरुण-द्वीप मुस्करा रहा है ....।

....दिनपर दिन बीतते चले। अपने सारे प्रयत्न और सारी शक्तियां लगा देनेपर भी रावणने पाया कि पोत नहीं डिग रहे हैं....। तब उसे निश्चय हो गया कि अवश्य ही कोई देव-विक्रिया है, केवल अपने पुरुषार्थ और विद्याओंसे यह साध्य नही। विवश हो चक्रीने अपने देवा-धिष्ठित रत्नोका आश्रय लिया। एक-एककर अपने सारे रत्नों और विद्याओंकी सयुक्त शक्ति रावणने लगा दी; नाशके जो अचूक अस्त्र अंतिम आक्रमणके लिये बचाकर रक्खे गये थे, वे भी सब फेंककर चुका लिये गये—। पर न तो द्वीप ही नष्ट होता है न रावण अपनी जगहसे हिल पाते हैं। ध्वज और दीपोंके सांकेतिक संदेशे भेजकर, अंतरीपके स्कंधावारसे राजन्योंको नये बेड़े लेकर बुलाया गया; पर भयभीत होकर उन्होने आनेसे इनकार कर दिया।—इसी प्रकार लकापुरीसे रसद और सहायक बेड़ोंकी माग की गई, पर वहासे कोई उत्तर नही आया। दिन, सप्ताह, महीने बीत गये—। समुद्रके देवताओंने सपनेमें आकर रावणसे कहा कि—'इस शक्तिका प्रतिकार हमारे बसका नही है....!'

....चार महीनों बाद पवनंजय एक दिन सवेरे अनायास वेदीके वातायनपर आ खड़े हुए। चारों ओर निगड़ित और पराजित बेड़ोंमें सहस्रों मानवोंको अपनी कृपाके अधीन प्राणकी याचना करते देखा—। पवनंजयका चित्त करुणा और वात्सल्यसे आर्द्र हो गया। मन ही मन बोले—

"घातका संकल्प मेरा नहीं था, देव ! नाश मेरा लक्ष्य नहीं, निखिलके कल्याण और रक्षाके लिये है मेरा यज्ञ। प्राणियोंको इस तरह त्रास और

मरण देकर क्या शत्रुत्वका उच्छेद हो सकेगा ? द्वीपकी रक्षा इसी राह होनी थी, वह हो गई। बलात्कारीको अपने बलकी विफलताका अनुभव हो गया। पर क्या वही पर्याप्त है ? रावणका अभिमान इससे अवश्य खंडित हुआ है, पर क्या इस पराजयसे उसका हृदय घायल ही नहीं हुआ है ? क्या वैर और विरोधका यह आघात भीतर दबकर, फिर किसी दिन एक भयानक मारक विषका विस्फोट नहीं करेगा ? हार और जीतका राग जबतक बना हुआ है, तबतक वैर और विद्वेषका शोध नहीं हो सकेगा।—मुझे रावण और इन इतने राजन्योपर शक्तिका शासन स्थापित नहीं करना है। उनपर स्वामित्व करनेकी इच्छा मेरी नहीं है, हो सके तो उनके हृदयोंको जगाकर उनके प्रेमका दास हो जाना चाहता हू। अधीनता और आधिपत्यके भावको तो मैं निर्मूल करने आया हू। त्रिखंडाधिपति रावणके निकट उसके विजेताके रूप में अपनेको उपस्थित करनेकी इच्छा नहीं है; मै तो उसकी मनुष्यताके द्वारपर उसके हृदयका याचक बनकर खड़ा हू। वह भिक्षा जबतक नही मिल जाती, तबतक टलनेको नहीं हूं।—हे सर्वशक्तिमान ! जिस सत्यने इस द्वीपकी रक्षा की है, वही उन बेड़ोंके त्रस्त मानवोंको भी जीवन-दान दे, यही मेरी इच्छा है....!"

निमिष मात्रमें बेड़ोके लगर अपने आप उठ गये। बिना किसी प्रयत्नके पोत गतिमान हो गये। उनके आरोही मनुष्यो के आश्चर्यकी सीमा न थी। प्राणकी एक नई धारासे वे जीवत हो उठे। चारो ओर मृत्युकी खामोशी टूटी और हर्षका जय-जयकार सुनाई पड़ने लगा।

....अतर्देवताका शासन अभंग चल रहा है। एक निष्काम कर्म-योगीकी भांति अविकल्प भावसे पवनंजय उसके वाहक हैं। मन, वचन और कर्म तीनों इस क्षण एकरूप होकर प्रवहमान हैं।—चुपचाप पवनंजयने एक गुप्त चरको भेजकर प्रहस्तको बुलवा लिया और दूसरे गुप्त-चरको भेजकर यान मंगवा लिया।

. . . .यान जब उडकर कुछ ही ऊपर गया था, कि द्वीपमें भारी हल-चल मच गई। व्यग्र जिज्ञासाकी आंखे उठाकर, द्वीप-वासी बार-बार हाथके संकेतोंसे पवनजयको लौट आनेका आवाहन देने लगे। उत्तरमें पवनजयने समाधानका एक स्थिर हाथ भर उठा दिया, और वह हाथ तबतक वैसा ही अचल दीखता रहा—जबतक यान द्वीप-वासियोंकी दृष्टिसे ओझल न हो गया।

एक लंबा रास्ता पारकर पवनजय और प्रहस्त अंतरीपमे आ उतरे। पहुचते ही सबसे पहले प्रतीक्षातुर और व्याकुल सैन्यको सांत्वना दी, उनकी कुशल जानी और उनकी अनुपस्थितिमें सैन्यने आस-पासके सारे वैर-विरोधों के बीच जिस तरह अनुशासनको अभग रक्खा है, उसके लिये गद्-गद कठसे उनका अभिनदन किया। इसके बाद तुरत कुमार झपटते हुए आयुध-शालामे गये और आह्वानका शख उठाकर उसी वेगसे अतरीपके समुद्र-छोरपर जा पहुचे। तरगोंसे विचुंबित वेलामे, पृथ्वी और समुद्रकी संधिपर खडे हो, पवनंजयने चारों दिशाओंमें तीन-तीन बार आवाहनका शंख-संधानकर, अर्ध-चक्री रावण और उनके सपूर्ण नरेंद्र-मडलको रणका न्योता दिया!

चक्रीका सीमंधर महापोत जब ठीक लकापुरीके समुद्र-तोरण-पर आ पहुंचा था कि उसी क्षण, अतरीपसे यह रणका अप्रत्याशित आमंत्रण सुनाई पडा। सुनकर रावण एक बारगी ही मानो वज्राहत-से हो गये। गुम-सुम और मतिहारा होकर एक बार उन्होंने अतरीपकी ओर दृष्टि डाली; आंखोंमें मानो एक बिजली-सी कौंध गई—समुद्र, पृथ्वी, आकाश सभी कुछ एकाकार होकर जैसे चक्कर खाते दीख पड़े—। भीतर एकाएक टूट गई प्रत्यचाकी टकार-सा प्रश्न उठा—"क्या चक्रीका चक्र-वर्तित्व भूमडलसे उठ गया?—विश्वकी कौन-सी शक्ति है जो जन्म-जात विजेता रावणको रणका निमत्रण दे सकती है. . . .?" कि ठीक उसी क्षण उन्हें अपनी वरुण-द्वीपपर होनेवाली सद्य पराजयका ध्यान

आया, जिससे लौटकर अभी-अभी वे आये हैं। चक्रीका घायल अंहकार भीषण क्रोधसे फुकार उठा। गरजकर वे महासेनापतिसे बोले—

"महाबलाधिकृत, पृथ्वीको शत्रुहीना किये बिना मैं लंकामें पैर नहीं रक्खूंगा। सैन्यको सीधे अंतरीपकी ओर प्रयाण करनेकी आज्ञा दी जाय। महामंत्रीको सूचित करो कि वे तुरंत सारे सुरक्षित भूसैन्य और जल-सैन्यको अंतरीपमें भेजनेका प्रबंध करें।"

रास्तेभर रावणका चित्त अनेक दुःसह शंकाओंसे पीडित था। क्या यह भी सम्भव है कि द्वीपपर उसकी पराजयका दृश्य देखकर, अंतरीपस्थित उसीके मांडलीक राज-चक्रने अवसरका लाभ उठाना चाहा है। और सभवतः इसीलिये, उसकी निर्बलताके क्षणमें, उसे रणके लिये बाध्यकर उसके स्वामित्वसे मुक्त हो जानेकी बात उन्होंने सोची हो—। दोनों हाथोंसे छाती मसोसकर चक्री इन चिंताओं और शंकाओंको दफना देना चाहते हैं, और मस्तिष्कमें कषायका एक अदम्य वात्या-चक्र चल रहा है।

पर चक्रीका महापोत ज्यों ज्यों अंतरीपके निकट पहुंचने लगा, तो तटवर्ती शिविरोंसे तुमुल हर्षका कोलाहल और जयघोष सुनाई पडने लगा। रावणके चित्तका क्षोभ, देखते-देखते आह्लादमें बदल गया। ज्योंही चक्रीका महापोत अंतरीपके तोरणपर लगा कि लक्ष-लक्ष कठोंकी जयकारोंसे आकाश हिल उठा। अतुल समारोहके बीच सहस्रों छत्र-धारियोंने नत मस्तक होकर महामंडलेश्वरको बधा लिया। स्वागतके उपलक्ष्यमें बज रहे बाजोंकी विपुल सुरावलियोंपर चढ़ रावण फिर एक बार अपने चरम अहंकारके झूलेपर पेंग भरने लगे।

यथास्थान पहुंचनेपर रावणको पता लगा कि इस युद्धका आह्वान देनेवाला दूसरा कोई नहीं, वही आदित्यपुरका युवराज पवनंजय है, जिसने आजसे तीन महीने पहले एक दिन अचानक शांतिका शखनादकर उसके युद्धको अटका दिया था। रावण सुनकर भौंचक्केसे रह गये—! उस रहस्यमय युवाका स्मरण होते ही, क्रोध आनेके पहले, बरबस रावणको

हँसी आ गई। अनायास उनके मुंहसे फूट पड़ा—'ओह—अद्‌भुत हैं उस उद्धत छोकरेकी लीलाएं, मेरे निज-महलके बंदीगृहसे वह भाग छूटा और अब उसकी यह स्पर्धा है कि त्रिखंडाधिपति रावणको उसने रणका निमंत्रण दिया है। हूंअ—नादान युवक—जान पड़ता है उसे जीवनसे अरुचि हो गई है और रावणके हाथो मौत पानेको वह मचल उठा है.. .।'

कहते-कहते रावण फिर एक गभीर चिंतामे डूब गये। विचित्र शकाओसे उनका मन क्षुब्ध हो उठा।—जिस दिन उस कौतुकी युवाने युद्ध अटकाया था और उन्होंने उसे बंदी बनाकर लंका भेजा था, ठीक उसके दूसरे ही दिन सवेरे वह अकांड दुर्घटना घटी—निकट आई विजय हाथसे निकल गई—। उन्हे यह भी याद आया कि महा-सेनापतिको जब वे पवनजयको बंदी बनानेकी आज्ञा दे रहे थे—उस समय उस युवाके सामने ही द्वीपके पिछले द्वारमें सेंध लगनेकी बात उनके मुंहसे निकली थी—लेकिन फिर वह सर्वनाशी तूफान—? उसके बाद वह पोतोका स्तभन—? नही उस छोकरेके बसकी बात नहीं थी वह—वह किसी मानवका कर्तृत्व नही था—देवो और दानवोसे भी अजेय थी वह शक्ति....! उस घटनाकी स्मृति मात्रसे रावणका वह महाकाय शरीर थर-थर कांपने लगा। मस्तिष्क इतने वेगसे घूमने लगा कि यदि इस विचार-चक्रको न थाम लेंगे तो वे पागल हो जायेंगे—। बहुत दृढ़ता पूर्वक उन्होंने मनको उस ओरसे मोड़कर बाहरकी युद्ध-योज-नाओमें उलझा देना चाहा—। पर भीतर रह-रहकर उनके चित्तमे एक बात बडे जोरसे उठ रही थी—'क्यो न उस स्वामी-द्रोहीको फिर बंदी बनवाकर—लंकापुरीके तहखानोमें आजन्म कारावास दे दिया जाय—? यदि उस उपद्रवीको मुक्त रक्खा गया, तो क्या आश्चर्य, वह किसी दिन समूचे नरेंद्रचक्रमें राज-द्रोहका विष फैला दे—। पर उसने मुझे संग्रामकी खुली चुनौती दी है। उसने मेरे बाहु-बल और मेरी सारी

शक्तियोको ललकारा है। युद्धसे मुह मोडकर यदि उसे बलात्कार-पूर्वक बदी बनाया जायगा, तो दिग्विजेता रावणकी विजय-गरिमा खडित हो जायगी। लोकमे मेरे वीरत्वपर लांछन लगेगा. . .नही, यह नही होगा. . . .कल सवेरे रण-क्षेत्रमे ही उसके भाग्यका निर्णय हो जायगा. . . .

नरेंद्र-चक्रके स्कधावारमे अविराम रण-वाद्यके प्रचड घोषके बीच, दिन और रात युद्धका साज सजता रहा।

उधर पवनजयके शिविरमें अखड निस्तब्धता का साम्राज्य था। रातको प्रकृत और निबिड शातिमे एक निर्वेद कठका प्रच्छन्न और मृदु-मंद स्वर हवामे गूजता हुआ निकल जाता—। मानो अगोचरसे आती हुई वह आवाज कह रही थी—' . .अमृत-पुत्रो, प्राण लेकर नही, प्राण देकर तुम्हे अपने अजेय वीरत्वका परिचय देना है। अतिम विजय मारनेवालोकी नही, मरनेवालोंकी होगी। अपने ही प्राण विसर्जितकर असख्य मानवताके जीवनका मोल हमे चुकाना होगा। प्रहारकके तने हुए शस्त्रकी धारपर अपना मस्तक अर्पितकर हमे अपने अमरत्वका परिचय देना होगा।—फिर देखे विश्वकी कौनसी शक्ति है जो हमारा घात कर सकेगी। वीरो, जीवन और मृत्यु साथ-साथ नही रह सकते। यदि हम सचमुच जीवित है और हमे अपनी जीवनी-शक्तिपर विश्वास है, तो जीवनकी उस धाराको खुलो और निर्बाध छोड दो—फिर मौत कही नहीं रह जायगी। चारो ओर होगा. . . . .जीवन. . . . .जीवन. . . .जीवन. . . . .' एक मानवके इस अस्खलित और केंद्रित नादमें सहस्रो मानवोकी प्राण-शक्ति एकीभूत और तन्निष्ठ हो गई थी। रात्रिकी गहन-शातिमे हवाओके झकोरोपर अनत होता हुआ वह स्वर, निखिल जल-स्थल और आकाशमें परिव्याप्त हो जाता।

दूसरे दिन प्रात.काल सूर्योदयकी बेलामे, रण-क्षेत्रमे दोनो ओरके सैन्य

सज गये। अविकल तूर्य-नाद, दुदुभिघोष और रणवादित्रोंके उत्तरोत्तर बढ़ते स्वरोंने समस्त चराचरको आतंकित कर दिया।

एक ओर अपने देवाधिष्ठित मप्ताश्व रथके सर्वोच्च सिंहासनपर महामण्डलेश्वर महाराज रावण अपने परिकर सहित आरूढ हैं; और उनके पीछे जबुद्वीपके विशाल नरेंद्र-चक्रका अपार सैन्य-बल युद्धके लिये प्रस्तुत है। चक्रीके रथके आगे उनके चक्रवर्तित्वका उद्घोषक चक्र तेजोद्भासित घूम रहा है। दूसरी ओर आदित्यपुरके युवराज पवनजय एक अरक्षित और निरछत्र रथपर, अकेले खड़े हैं, अपने पीछे एक छोटी-सी सेना लेकर—[1] रावणने पहचाना—वही आलुलायित अलकोवाला मस्ताना तरुण सामने खडा है। बालोकी वही मनमोहिनी घुघुर ललाटपर खेल रही है। और उस कोमल-कात परतु जाज्वल्य मुखपर, एक हृदय-हारिणी मुस्कान सहज ही खिली है। चक्रीकी चढ़ी भृकुटियोंमें क्रोधसे अधिक विस्मय था और विस्मयसे अधिक एक अपूर्व मुग्धता।

समुद्रके क्षितिजपर, ऊषाके अरुण चीरमेंसे उगते सूर्यकी कोर झांकी—। युवराज पवनजयने अपने रथपर खड़े होकर दो बार युद्धा-रंभका शंख-नाद किया। एक भीषण लोह-घर्षणके साथ, चारों ओर शस्त्रास्त्र तन गये। आयुधोंके फलोंकी चमकसे वातावरणमें एक बिजली-सी कौंध उठी। लक्ष-लक्ष तनी हुई प्रत्यंचाओंपर कसमसाकर तीर खिंच रहे थे—।

. .कि ठीक उसी क्षण उस कौतुकी युवाने, एक अनोखे भगसे मुस्कराकर, रावणके चक्रके संमुख दोनो हाथोसे अपना शस्त्र डाल दिया? फिर ईषत् मुडकर एक मधुर भ्रू-भंगके साथ अपने सैन्यको इगित किया—। निमिष मात्रमे झन-झनाझन करते हुए हजारों शस्त्र धरतीपर ढेर हो गये। कुमारने वक्षपरसे कवच और माथेपरसे शिरस्त्राण उतार-कर फेंक दिये। फिर एक प्रबल झन-झनाझनके बीच उनकी सेनाओंने उनका अनुसरण किया।

....पुन. एक बार कुमारने पूर्ण श्वाससे युद्ध आह्वानका शंख पूरकर दिशाए हिला दी....

तदनंतर रावणके तने हुए दिव्यास्त्रके समुख अपना खुला वक्ष प्रस्तुत-कर, विनम्र-वदन, मुस्कराते हुए पवनंजयने, एक अभय शिशुकी तरह आकाशमे अपनी भुजाए पसार दी। अनुगामी सैन्यने भी ठीक वैसा ही किया।

....सहस्रों मानवोके अरक्षित खुले हुए वक्षोके समुख लाखो तने हुए तीर कीलित रह गये। चारो ओर अभेद्य निस्तब्धता छा गई—। त्रिखडाधिपतिकी आंखकी कोरोमे एक अतीद्रिय आनद-वेदनाके आसू उभर आये ? दिव्यास्त्र अग्नि बरसाता हुआ उनके हाथसे खसक पडा। चक्र डगमगाकर विप्लवी घोष करता हुआ, चक्रीके रथ-पर आक्रमण करने लगा। सप्ताश्व-रथके दैवी घोडे भयकर शब्द करते हुए उल्टे पैर लौट पडे—और रथ मानो धरतीमे धसकने लगा। तीन खंडके नाथके मस्तकपरके छत्र छिन्न-भिन्न होकर भूमिपर आ गिरे, और धूलिमे लोटने लगे ...।

रावण तुरत रथसे भूमिपर उतर आये। पवनजयके रथके निकट जा दोनो हाथ फैलाकर उनसे नीचे आनेका मूक अनुरोध किया—। हाथ जोडकर कुमार सहज विनयसे अवनत हो गये और हसते हुए नीचे उतर आये। चक्रीने अपनी अतुल बल-शालिनी भुजाओमे उन्हें भर-भर लिया, और बार-बार गले लगाकर उस कुचित-अलका लिलारको विह्वल होकर चूमने लगे।—अशेष आनदके मौन-मौन आंसू ही दोनोकी आखोमे उमड़ रहे थे। और देखते-देखते चारो ओर प्रेमका एक पारावार-सा उमड पड़ा—। आत्म-संतापके आसुओमे विगलित लक्ष-लक्ष मानवके पुत्र एक-दूसरेको भुजाओमें भर-भरकर गले लगा रहे थे। मानो जन्म-जन्मका शत्रुत्व विस्मरण कर पहली ही बार एक दूसरे को अपने आत्मीय के रूप मे पहचान रहे है...!

पांच दिनतक अंतरीपमें मर्त्य मानवोंने प्रेमका ऐसा अपूर्व उत्सव मनाया, कि अमरपुरीके देवता भी अपने विमानोंपर चढ़कर उसे देखने निकले और आकाशसे मंदार पुष्पोंकी मालाएं बरसती दीख पड़ीं।

[३०]

उत्सवके पाचवे दिन, प्रात:काल—

अतरीपके छोर पर, स्फटिकका एक उच्च लोकाकार स्तंभ, आकाश और समुद्रकी सुनील पीठिकापर खड़ा है। उसके चरणोंमें चिर कुमारिका पृथ्वी लहरोका चचल वसन बार-बार खसकाकर आत्मार्पण कर रही है। स्तंभके शीर्षपर वैडूर्यमणिकी एक भव्य अर्ध-चद्राकार सिद्ध-शिला विराजमान है।—समुद्र, आकाश और पृथ्वी एक साथ उसमे प्रतिबिंबित हैं। सूर्यकी किरणे उसमें टूटकर ज्योतिकी तरंगें उठा रही हैं। मानो त्रिलोक और त्रिकालके सारे परिणमन उसमें एक साथ लीलायित हैं।

स्तभके पाद-प्रातमें, मर्कतके एक प्रकाड मगरके मुखपर, चारो समुद्रोके गुलाबी और शुभ्र मोतियोंसे निर्मित, तीन खडका सिंहासन शोभित है। उसकी सर्वोच्च वेदिकाके बीच चक्रीका देवोपनीत सिंहासन-रत्न है। वह राज्यासन इस समय रिक्त पड़ा है। केवल उसके दाईं ओर उपधानके सहारे वह दड-रत्न रक्खा हुआ है। उसकी पीठिकामे पन्नो और नीलमोंका वह कल्पवृक्षाकार भामंडल है। उसके ऊपर बड़े-बड़े अगूरी मुक्ताकी झालरोवाले तीन छत्र दीपित हैं, जिनकी प्रभामें निरतर लहरोका आभास होता रहता है। इस सिंहासनकी सीढ़ियोंपर दोनो ओर चक्रीकी नाना भोग और विभूतियां देनेवाली निधियां और रत्न सजे हैं। सबसे ऊपर की सीढ़ीपर बीचों-बीच चक्र-रत्न घूम रहा है।

सर्वोच्च वेदीकी कटनीमें एक ओर, चदनकी एक विशद चौकी-पर डाभका आसन बिछा है। उसीपर रावण अपनी दक्षिण भुजामें

वरुण-द्वीपके राजा वरुणको आवेष्ठित किये बैठे हैं। दूसरी ओर ऐसे ही डाभके आसनपर बैठे हैं कुमार पवनजय।

सिंहासनके तले, खुले आकाशके नीचे, जबु-द्वीपके सहस्रो मुकुट-बद्ध राजा और विद्याधर अपने विपुल सैन्य-परिवारके साथ बैठे हैं। फूटनेको आतुर कलीकी तरह सभीके हृदय एक अपूर्व सुखके सौरभसे आविल हैं।

अवाक् निस्तब्धताके बीच खडे होकर, त्रिखडाधिपतिने अपने चक्रके समस्त राजवियोके प्रति नम्रीभूत होकर, पहली ही बार, अपना मस्तक झुका दिया। तदुपरात समुद्रके गभीर गर्जनको विनिंदित करनेवाले स्वरमें रावण बोले—

"लोकके हृदयेश्वर देव पवनजय और मित्र राजन्यो, लोकके शीर्षपर सिद्ध-शिलामें विराजमान सिद्ध परमेष्ठी साक्षी है: त्रिखंडाधिपति रावणका गर्व, उसका सिंहासन, उसका चक्र और उसकी समस्त विभूतिया आजसे लोककी सेवामें अर्पित है।—इन पर स्वामित्व करनेका मेरा सामर्थ्य इस रण-क्षेत्रमें पराजित हुआ है।—मेरी आखो आगे, मेरे ही पुण्य-फल इस चक्र-रत्नने विद्रोही होकर मेरे विजयाभिमानको विदीर्ण कर दिया। मेरे हाथके दिव्यास्त्रसे निकलती हुई अग्नि मुझे ही भस्म करनेको उद्यत हो पड़ी। मेरे ही रथने मेरे ऊपर उलटकर, मेरे सिंहासनको रौंद देना चाहा। और इस महासमुद्रकी चचल लहरोने, जिनपर शासन करनेका मुझे एक दिन घमड था, वज्रकी शृखलाए बनकर मुझे बदी बना लिया! —उनके अधीन प्राणका भिखारी बनकर मैं थर्रा उठा।—तब कैसे कहू कि मैं इनका स्वामी हू और अपनी इन उप-लब्धियोके बलपर मैं लोककी जीवित सत्तापर शासन कर सकूगा....? जड भौतिक विभूतियोको अपने अधीन पाकर, निखिल चराचरपर अपना साम्राज्य स्थापित करनेका मुझे उन्माद हो गया था। तब चेतनकी उस केंद्रीय महाप्राण सत्ताने, अपने ऊपर छा गये जड़त्वके स्तूपको उखाड़

फेकनेकेलिये विद्रोह किया है।—उसी चेतनका मुक्ति-दूत बनकर आया है, यह आदित्यपुरका विद्रोही राजकुमार पवनंजय ! टूटते हुए वरुण-द्वीपकी वेदीमें खड़े होकर, उसने अपने आत्मबलसे तत्वोंकी सृष्टिपर शासन स्थापित किया। देवताओ और दैत्योंने उस शक्तिसे हार मानी। परोक्ष आत्म-सत्ताके उस आविर्भावने मेरे अभिमानको तोड़ा अवश्य, पर भीतर हृदयका राग और ममत्व पराजयकी एक दाहक पीड़ा जगा रहा था।—तब इस रण-भूमिमे प्रत्यक्ष समुख खड़े होकर पवनंजयने मेरी जड़ बल-सत्ताको चुनौती दी। मेरे सारे तने हुए प्रतापकी धारपर उसने शस्त्र-समर्पण कर दिया। और तब हृदयपर अखड प्रेमकी जोत जलाकर उसने मेरे प्रहारको आमन्त्रित किया। अगले ही क्षण सहस्रो जलती हुई प्राण-शिखाए एक-साथ निछावर हो उठी। देखती आंखों आत्माकी उस अमर ज्योतिमे, मेरे प्रताप, वैभव और विभूतिका वज्र गलित हो गया....।

....इस रण-क्षेत्रमें इस अद्‌भुत युवाने धर्मका शासन उतारा है। मुझे प्रतीति हो रही है कि आजसे आतक और शक्तिका जड शासन भंग हो गया। धर्मका स्वयभु शासन ही लोकके हृदयपर राज्य कर सकेगा। चक्रीका यह सिहासन आजसे धर्म-राजका सिहासन हो। लोकके कल्याणके लिये प्रस्तुन हो ये सारी विभूतिया। चक्री मात्र इनका रक्षक होकर, नम्रतापूर्वक इस धर्म-शासनका सूत्रसचालन करेगा। वह होगा लोकका एक अकिंचन सेवक—दासानुदास !

....पृथ्वीपतियो ! धर्म-राजके इस सिहासनके नामपर तुम सबोसे मेरा एक ही अनुरोध है लोककी जड सत्ताके बलात्कारी अधिपति बनकर नहीं, जीवत लोकके विनम्र सेवक बनकर उसके हृदयपर अपना आधिपत्य स्थापित करो, और यों अपने राजत्व और क्षात्रत्वको कृतार्थ करो। ससागरा पृथ्वीके तीन खडोको जीतकर भी, इस छोटे-से वरुण-द्वीपपर आकर, मेरा समस्त बल-वीर्य, और शक्तिया पराजित हो गईं।

पर इस युवराज पवनजयने हमारे हृदयोंपर शासन स्थापितकर, तत्वकी चेतन सत्ताको जीता है। इसीसे कहता हूं, आजसे वही होगा हमारा हृदयेश्वर ! लोक-हृदयके सिंहासनपर आज नरेंद्रोकी यह सभा इस धर्म-पुत्रका अभिषेक करे, यही मेरी कामना है।"

कहकर रावण पवनजयकी ओर बढ़नेको उद्यत हुए कि स्वयं पवनजय अपने आसनसे उठकर आगे बढ़ आये, और सहज विनयसे नम्रीभूत हो गये। रावणने अमित वात्सल्यसे उभरते हृदयसे बार-बार उन्हें आलिंगन किया। समस्त नरेंद्र-मंडल गद्‌गद कंठसे पुकार उठा—

"लोक-हृदयेश्वर देव पवनजयकी जय !

धर्म-चक्री महाराज रावणकी जय !"

चारों ओरसे जय-मालाओं और पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। रावण और पवनजय उसमें ढक गये। दोनो राज-पुरुषोने बार-बार माथा नवाँ-कर राज-चक्रके इस मुक्त हृदयार्पणको बधा लिया।

फिर एक बार रावणके इंगितपर सभा शात हो गई। तब चक्रीने वरुणको गले लगाकर, उन्हें आजसे सामुद्रिक साम्राज्यका प्रतिनिधि घोषित कर दिया। तदुपरांत समुद्रके शासन-देवों द्वारा प्राप्त अपने अनेक दिव्यास्त्र और रत्न उन्होने वरुणको समर्पित किये। फिर उनके गलेमे जयमाला पहनाकर घोषित किया—

"वरुण-राजने अपने आत्म-देवताकी समान-रक्षाके लिये, कालके विरुद्ध खड़े होकर धर्म-युद्ध लड़ा है। उन्होने—त्रिखडाधिपति रावणके आतंककी अवहेलनाकर, सर्वकी जन्म-जात स्वाधीन सत्ताकी स्थापनाका श्रेय लिया है। उनके इस अप्रतिम साहस और वीरत्वका मैं अभिनंदन करता हू। प्रेम, अभयदान, साम्य और स्वाधीनता यही होगे आजसे हमारे राजत्वके चक्र-रत्न, और इन्हीं पायोंपर आसीन है धर्म-राजका यह सिंहासन....!"

फिर एक बार 'लोक-हृदयेश्वर देव पवनंजयकी जय, धर्म-राजेश्वर

महाराज रावणकी जय, वीर-कुल-तिलक वरुण-राजकी जय !'—समुद्रके क्षितिजतक गूंज उठी। तदनतर मगल-वादित्रोंकी धीमी और मधुर ध्वनियोंके बीच सभा विसर्जित हो गई।

[३१]

शरद ऋतुकी सध्या गिरिमालाओमे नम रही है। समुद्र-पर्यंत पृथ्वीपर जिसके यशोगान गूँज रहे हैं, ऐसी जय-श्री लेकर पवनंजय आज आदित्यपुर लौट रहे हैं। पार्वत्य-घाटिया सैन्यके अविराम जय-नादो और मंगल-शंखोसे गूज रही है। अपने अबर-गोचर नामा हाथीपर, सोनेकी अबाड़ीके रेलिंगपर झुककर पवनजयने दूरतक दृष्टि डाली। विजयार्धके ऊचे कूटोंपर दूर-दूरतक रंग-बिरंगे मणि-गोलकोके प्रदीप लगे हैं। कि एक।एक उनकी दृष्टि अपने प्रियतम और सर्वोच्च कूट अजितजयपर जा ठहरी। इतना ऊचा है वह कूट कि वहा दीप नही लगाया जा सका है। वहा तो केवल वनस्पतियोके अतरालमें स्वर्ण-जुही-सी गोरी सध्या अभिसार कर रही है। उसकी लिलारमे शुक्र-ताराकी बिंदिया सजी है। ऊपर घिरती प्रदोषकी गाढ नीलिमामे, रात उसके मुक्त केशों-सी अंतहीन होकर फैल रही है। फुट-पुट तारोके उजले फूल उसमें फूट रहे हैं।—और—पवनजयकी जय-श्री वहां जाकर, उस अभिसारिकाके पैरोंमें नीरव नूपुर बनकर मुखरित हो उठी। उस झंकारपर दिगग-नाओंने अपने आचल खसकाकर, अनंत रूप-राशियां निछावर कर दीं।

....पवनंजयकी आंखोके सामने रत्न-कूट प्रासादकी वह स्फटिककी अटारी खिल उठी। जिस वातायनमें वे उस रात बैठे थे, उसीमें बैठी अंजना अकेली अपने हाथोंसे सिंगार-प्रसाधन कर रही है।.... शत-शत वसंतोंके सौंदर्यने आज उसे न्हिलाया है। कल्प-सरोवरकी कुमुदनियोंने उसके तनु अंगोंमें लावण्य और यौवन भरा है। केशरिया

स्वर्ण-तारोंके दुकूलमें वह कपूर-सी उज्ज्वल देह चादनी छिटका रही है। दूजकी विधु-लेखा-सी जिस विरहिणी तापसीको उस रात वह अपनी बाहुओंमें न भर सका था, वह आज राकाके पूर्ण चंद्र-सी अपनी सोलहो कलाओसे भर उठी है!—सामने उसके पडा है वह रत्नोका दर्पण। पास ही पड़े स्वर्णिल धूपायनके छिद्रोंसे कस्तूरी और अगुरुके धूपको धूम्र-लहरे निकल रही है। अतिशय मार्दवसे देहमें एक भंग डाल-कर, अपने दोनो लीलायित हाथोमे विपुल कुतलोको उभारती हुई अजना, गध-धूम्रसे उनका सस्कार कर रही है। पैरोंके पास खुले पडे रत्न-करडोंमें नाना शृगारों और अलकारोकी सामग्रिया फैली है—।

कल्प-काननके सारे फूलोका मधु लेकर, काम और रतिने सुहागकी शय्या रच दी है। जिस महासमुद्रकी लहरोको पवनजयने बाधा था, वही मानो चदोवा बनकर उस शय्यापर तन गया है। उसी शय्यापर बैठी है वह अक्षय-सुहागिनी अजना, अजितजय कूटपर प्रतीक्षाकी आतुर आखे बिछाये।—उसीके वक्षमें विसर्जित होकर विजेता आज अपनी शेष कामनाकी मुक्ति पायेगा....!

अतुल हर्षके कोलाहल और जय-ध्वनियोके बीच पवनजयकी तद्रा टूटी। जहातक दृष्टि जाती है, विजयोत्सवमें पागल नागरिकोका प्रवाह उमडता दीख रहा है। गज-मार्गके दोनों ओर दूरतक दीप-स्तभा-की पक्तिया चली गई हैं। विपुल गीत-वादित्रोकी ध्वनियोंसे दिशाए आकुल हैं। विजयार्धके प्रकृत सिंह-तोरणमेसे निकलते ही कुमारने देखा—सामने हस्ति-दतका विशाल जय-तोरण रचा गया है। मुक्ताकी झालरो और फूलोकी बदनवारोसे वह सजा है। उसके शीर्षपर चार खडोंके अलिंदो और गवाक्षोमेंसे अप्सराओ-सी रूपसिया पुष्पो और गध-चूर्णोंकी राशिया बिखेर रही हैं। शत-शत मृणाल बाहुओंपर आरतियोंके स्तवक झूल रहे हैं। कुमारने पाया कि उन्हींके हृदयके माधुर्यमेसे उठ रही हैं, ये सौंदर्यकी शिखाए! उनकी आखोमें आत्म-दर्शनके

आसू उभर आये। झुकी आखो और जुडे हाथोसे बार-बार उन्होने उन कुमारि-काओका वदन किया।—आज सौंदर्य अप्राप्त वासनाका विष बन-कर हृदयको नही डस रहा है, वह अतरका अमृत बनकर नितर रहा है।

द्वारमेंसे निकलकर जब कुमारका अंबर-गोचर हाथी आगे बढ़ा तो दूरपर आदित्यपुरके भवन और प्रासाद-मालाए सहस्रों दीपोंकी सघन पक्तियोसे उद्भासित दिखाई पडे। उन झलमलाती वातियोंमें, भवांतरों-की जाने कितनी ही अविज्ञात इच्छाएं, एक साथ ज्वलित होकर आंखोमे नृत्य करने लगी। उन दीप-मालाओंके बीच-बीचमे विभिन्न प्रासाद-शिखरोंके अनेक-रगी रत्न-दीपोका एक हार-सा दीख रहा है। और तभी कुमारको ध्यान आया उस हारके कौस्तुभ-मणिका !—रत्न-कूट प्रासादके शिखरपर नीली और हरी काति बिखेरते उस शीतल रत्न-दीपको उन्होने चीन्हना चाहा।—आखे फाड-फाडकर बार-बार देखा, पर नही दिखाई पड़ रही है वह हारकी कौस्तुभ-मणि—! . . . देखते-देखते कुमा-रकी आखोमे वे दीपावलिया करोडो उल्कापातो-सी वेगसे चक्कर काटने लगी।—एक विभ्राट अग्निकाडमे सब कुछ भभक उठा।—उनकी छातीमे एक वज्रविस्फोटका धमाका सुनाई पड़ा. . . .। और अगले ही निमिष वह सारा दीपोत्सव बुझ गया. . . .। निःसीम अधकारका शून्य आंखोके सामने फैल गया।—कुमारने दोनो हाथोसे आखे मूद ली। भीतर पुकारा—'कल्याणी, तुम्हे मिलनेका अमित सुख मुझे पागल बनाये दे रहा है—मेरी चेतना खोई जा रही है, और तुम कहा भागी जा रही हो ? . . . .मुझसे घोरतर अपराध हो गया है। . . . .क्या मै तुम्हें भूल गया था. . . .सर्वथा भूल गया था. . . ? क्या इन बारह महीनोंमे तुम्हारी सुध मुझे कभी नही आई. . . ? ओह, मै विजयके मदमे पागल हो गया था ! . . . .कौनसा मुह लेकर तुम्हारे निकट आ सकूगा ? इसीसे विजयकी दीप-मालाए एकाएक बुझ गई है. . . .।. . . स्वागतकी वह आरती तुमने समेट ली है. . . .। पर ओ करुणामयी, ओ क्षमा,

ओ मेरी धरणी, क्या तुम भी मुझसे मुह मोड लोगी ? एक बार अपने निकट आ जाने दो, फिर जो चाहो दंड दे लेना ।' कुमारके हृदयको फिर भीतरसे एक ऊष्म स्पर्शने थाम लिया । ससंज्ञ होकर उन्होंने अपनेको स्वस्थ पाया । दीपोत्सव वैसा ही चल रहा था, पर कुमारकी आंखें नही उठ रही हैं उस ओर ।

राजागनमें प्रवेश करते ही कुमारने महावतको कुछ सकेत कर दिया । आस-पासके उत्सव, बधाइयाँ, जयकारें और गीत-वादित्रोंके स्वर पवनंजयके पास नहीं पहुंच पा रहे हैं । उनका समस्त मन-प्राण अंतरके एक अथाह शून्यमे गोते लगा रहा है ।

× × × रत्न-कूट प्रासादके द्वारपर आकर पवनजयका अबर गोचर गज-राज बैठ गया । शुड उठाकर हाथीने स्वामीको प्रणाम किया । अबाडीपर नसैनी लगा दी गई । ऊपर निगाह डालकर कुमारने देखा : महलके छज्जोंपर दीपावलियां वैसी ही शोभित हैं, पर उसके गवाक्षोंके कपाट रुद्ध हैं, उनसे नही बरस रही है फूलोकी राशिया, नहीं बह रही संगीतकी सुरावलिया, नहीं उठ रही हे सुगधित धूपकी धूम्र-लहरे । उस महलका अलिंद शून्य पडा है ।....झपटते हुए कुमार सौध की सीढ़िया चढ़ द्वार के पास पहुंच गये.. । विशाल द्वारके कासेके कपाट रुद्ध है, उनकी बडी-बडी अर्गलाओंमें ताले पड़े हुए हैं ।....द्वार-पक्षमे चिपकी, मगलका पूर्ण-कलश लिये खडी वह तन्वगी, विश्वकी सपूर्ण करुणा और विषादको आंखोमें भरकर फिर मुस्करा उठी '--पवनंजयके मस्तिष्कमें लाख-लाख बिजलिया तड-तड़ाकर टूट पड़ी । चारो ओर उमड़ता उल्लसित जन-समूह, अपार दु.ख, आश्चर्य और भयसे स्तंभित होकर, पत्थर-सा थमा रह गया । क्षण मात्रमें हर्षका सारा कोलाहल निस्तब्ध हो गया । भीतर-भीतर त्रासकी सिसकारिया फूट उठी, पर उससे भी अधिक अचरजसे सबकी आखें फटीं रह गईं ।

....कुमारने लौटकर देखा : दोनों ओर खामोश खड़ी—प्रतिहारियोंकी आखोंमें आंसू झलक रहे थे। कुमारकी आंखोंके मूक प्रश्नके उत्तरमें, वे कुहनियोतक दीर्घ हाथ जोड़कर नत हो गईं। भालेके फल-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमारकी छातीमें चमक उठा। एक गहरी शंका हृदयको बींधने लगी। ओठ खुले रह गये—पर प्रश्न शब्दों में न फूट सका। अनजाने ही विजेता का वह किरीट-बद्ध ललाट, द्वारके कपाटोंसे जा टकराया....। प्रतिहारिया और जन-समूह हाय-हाय कर उठा। कुमारकी आखोंमे प्रलयकर अंधकारकी बहिया उमड़ पड़ी। सारे अत.पुरमे संवाद बिजलीकी तरह फैल गया!

उन्मत्तकी तरह झपटते हुए कुमार माताके महलकी ओर पैदल ही चल पड़े। ललाटसे रक्त चू रहा है और तीरके वेगसे वे चले जा रहे हैं। उलटे पैरों पीछे धमक कर जन-समूहने राह छोड दी। किसकी सामर्थ्य है जो उस कुमारको थाम ले। प्रतिहारिया उसके पथमे पांवडे बिछानेकी सुध भूल गईं, और आचलमे मुह ढांककर सिसकने लगीं।

महारानी केतुमती शृगार-आभरणोमें सजी, अपने प्रासादके अलिंद-तोरणमे खडी हैं। स्वर्णके थालमें अक्षत-कुकुम और मगलका कलश सजाये, उत्सुक आखोसे वे बाट जोह रही हैं, कि अपूर्व विजयका लाभ लेकर आये पुत्रके भालपर वे अभी-अभी जयका टीका लगायेंगी।—उनकी गोद फड़क रही है, कि वर्षोंके रूठे पुत्रको आज वे एकांत रूपसे पा जायेंगी। अभी-अभी उनके कानतक भी वह उपरोक्त सवाद अस्पष्ट रूपसे पहुच चुका था। सुनकर वे सिरसे पैरतक थर्रा उठी हैं, पर विश्वास नही हो रहा है।

कि इतने हीमे झंझाके झोकेकी तरह पवनजय सामने आकर खड़े हो गये। पसीनेमे सारा चेहरा लथ-पथ है—और भालपर यह बहते कुकुम का जय-तिलक मां से पहले किसने लगा दिया.... ?—

और अगले ही क्षण दीखा, बहता हुआ रक्त. . . . ? अभी-अभी जो सुना था और सुनकर भी जिसकी अवज्ञा की थी, वह झूठ नहीं था !—रानीके हाथसे मगलका थाल गिर पड़ा। कलश ढुलक गया, अक्षय दीवट बुझ गई ! . .पवनजय आगे न बढ़ सके . .। अवाक् और निस्तब्ध वे माके चेहरेकी ओर ताकते रह गये . . । रानीके पीछे खड़ी मगल-गीत गा रही अत:पुरकी रमणिया हाय-हाय कर उठी। अपराधिनीकी तरह ढुलकी-सी खडी महादेवी थर-थर काप रही है—आखे उनकी धरतीमे गडी है। पुत्रकी ओर दृष्टि उठाकर देखनेका साहस उन्हें नही है। अपने बावजूद पवनजयके मुहसे अनायास प्रश्न फूट पडा—

"मा . . .लक्ष्मी कहा है ? उसके महलका द्वार रुद्ध है—और तुम्हारे पीछे भी वह नही खडी है ! . . .नही लगायेगी वह मुझे जय-तिलक . .? नही पहनायेगी वह मुझे जय-माला. . . ? बोलो मा. .जल्दी बोलो।. . .शायद तुमने सोचा होगा कि अपशकुन हो जायगा (ईषत् हसकर). . . .इसीसे, जान पडता है, उसे कही छुपा दिया है।. . . .पर मा तुम नही जानती. . . . उसीके लिये लाया हू यह जय-श्री—! उसके चरणोमें इसे चढाकर अपना जन्मोका ऋण मुझे चुकाना है ! पहले उसे जल्दी बुलाओ माँ—मै विनोद नही कर रहा हू। . . .मै समझ रहा हू तुम घबडा रही हो—पर मैं तुम्हे अभी सब बाते बता दूगा। लज्जावश शायद वह तुमसे न कह सकी हो। पर पहले लक्ष्मीको बुलाओ मा. देर न करो.. . मुहूर्त टल रहा है. . . ."

रानी बेसुध-सी हो पुत्रकी ओर बढी और उसे अपनी दोनो बाहोसे छातीमें भरकर रो उठी—। पवनजय माके आलिगनमे मूर्छित हो गये। चारों ओर हाहाकार व्याप्त हो गया। उत्सवका आह्लाद क्रन्दनमें परिणत हो गया। एक स्तब्ध विषादकी नीरवता चारो ओर फैल गई।

[३२]

महादेवीके कक्षकी एक शय्यापर पवनजय मांकी गोदमे लेटे हैं। सिरहानेकी ओर राजा, मसनदके सहारे सिर लटकाये निश्चेष्टसे बैठे हैं। पायतानेके पास प्रहस्त एक चौकीपर मानो जड़ीभूत हो गये हैं; उनका एक हाथ पवनंजयकी पगतलीपर सहज ही पड़ा है। उनकी आख-की कोरोमे पानीकी लकीरे थमी हे। शय्याके उस ओर खड़ी दो प्रति-हारिया मयूर-पखके दो विपुल पखोसे विजन कर रही हैं।—सारे उपचार समाप्त हो गये हैं, पर पवनजयको अभी चेत नही आया।

हृदयपर पहाड रखकर प्रहस्तने उस अपराधिनी पुण्य-रात्रीका वृत्त सुना दिया। सुनकर राजा क्षणभरको स्तभित-से रह गये—। फिर दोनो हाथोसे कपाल पीट लिया और मुकुट-कुडल उतारकर धरतीपर दे मारे। भूषण-अलकार छिन्न-विच्छिन्नकर फेक दिये। पृथ्वीपति, पृथ्वीपर गिरकर उसकी गोदमे समा जानेको छटपटाने लगे। पर माता पृथ्वी भी सुनकर मानो निस्पद और निष्प्राण हो गई है; निर्मम होकर वह राजाके टूक-टूक होते हृदयको कठिन अवरोधसे ठेल रही है। —लगता है कि बुक्का फाडकर वे रो उठे और यो अपने इस पापी जीवनका वे अत कर ले—। पर नही, इस क्षण वह इष्ट नही है—। मरणातक कष्ट पुत्रके हृदयको जकड़े हुए है। राजाकी प्रत्येक श्वासमे पुत्रका दुख शूलो-सा चुभ रहा है। जीवनमे, मरणमे, लोकमें, परलोकमे कही मानो राजाको स्थान नही है।

रानी सुनकर वज्राहत-सी बैठी रह गई।—देखते-देखते वह प्रेतिनी-सी विवर्ण और भयानक हो उठी है। उसकी आखे फटकर मानो अभी-अभी कोटरोसे निकल पडेगी। उन पुतलियोका प्रकाश जैसे बुझ गया है। अचानक दोनो हाथोके मुक्कोसे रानीने छाती पीट ली, माथा पलगकी पटरियोंपर दे मारा। आकाश-भेदी रुदन गलेमे

आकर घुट रहा है। कुछ बस न चला, तो अपने केशों और अंगोंको उसने नोच-नोच लिया। प्रतिहारियोंने रानीको सम्हाला, और प्रहस्तने राजाको उठाकर तल्पके उपधानपर लिटा दिया। धीमे और व्याकुल स्वरमें इतना ही कहा—"शात राजन्, शात—कष्टकी यह घड़ी बहुत ही गभीर है—अधीर होनेसे बहुत बडा अमंगल घट जायगा!" राजा और रानी कलेजा थामकर अपने भीतर क्षार-क्षार हो रहे हैं।

कि इतने हीमे हलकी-सी कराहके साथ पवनंजयने आख खोली—। माथेके नीचेकी गोदीका परस अनुभवकर बोले—

"... आह तुम... तुम आ गई रानी. वल्लभे ... प्राणदे... तुम....?" और पुतलिया ऊपरकी ओर चढाकर देखा "ओ.....मा.....तुम?.....और कहा है वह.....लक्ष्मी ....?" एकाएक पवनजय उठ बैठे और आसुओंमे धुलते मांके उस क्षत-विक्षत चेहरेको क्षणभर स्तब्धसे ताकते रह गये—। फिर दोनो हाथोसे उस विह्वल मुखको झकझोरकर उद्विग्न कठसे फूट पड़े—

"ओह मां. ..यह क्या हो गया है तुम्हे?....और वह कहा है मा....बोलो, जल्दी बोलो....लक्ष्मी कहां है? यदि पुत्रका कल्याण चाहती हो तो उसे मुझसे न छुपाओ—उसीने मुझे प्राण-दान दिया है कि आज मै जी रहा हू। उसीने मुझे शक्ति दी है कि मै त्रिलोकको विजय-लक्ष्मीका वरण कर लाया हू—केवल उसके चरणोंकी दासी बना देनेके लिये....! तुम नही जानती हो मा—उस सौभाग्य-रात्रीकी वार्ता—वह सब मै तुम्हें अभी कहूगा।....पर पहले उसे बुलाओ मा....तुम नही, वही इन प्राणोको रख सकेगी!....उसे जल्दी बुलाओ मा....नही तो देर हो जायगी....!"

पुत्रके कधेपर माथा डालकर रानी छाती तोड़कर रो उठी। कुछ देर रहकर पवनंजयके उस पगले मुखको अपने वक्षमें दोनों हाथोसे दबा लिया, फिर कठोर आत्म-विडबनके ढीठ स्वरमें बोली—

"....सुन चुकी हूं बेटा, सब सुनकर भी जीवित हूं मैं हत्यारी—। अनर्थ घट गया है मेरे लाल....घोर अमंगल हो गया है....। छातीमें लात मारकर मैंने लक्ष्मीको ठेल दिया है। मैंने सतीपर कलंक लगाकर उसे इस घरसे निर्वासित कर दिया है....। वसंतके कहेपर मैंने विश्वास नहीं किया—तेरे वलय और मुद्रिका उठाकर फेंक दिये। अपने भीतरका सारा विष उडेलकर मैंने सतीकी अवमानना की है। आह....उसके गर्भमे आये अपने कुल घरका ही मैंने घात किया है। वशकी परंपराको ही मैंने तोड दिया है—कुल-लक्ष्मीको धक्का देकर मैंने राज-लक्ष्मीका आसन उच्छेद कर दिया है।—एक साथ मैंने सतीघात, कुल-घात, राज्य-घात, पति-घात और पुत्र-घातका अपराध किया है, बेटा....! मैं तुम्हारी मा नही—मैं तो राक्षसी हू। मुझे क्षमा मत करो बेटा—मुझपर दया करके मुझे अपने पैरो तले कुचल डालो—तो सुगति पा जाऊंगी—और नही तो सातवे नरकमे भी मुझ पापिनको स्थान नही मिलेगा...."

कहती-कहती रानी धमाकसे पुत्रके पैरोमे गिर पडी। पवनंजय पहले तो अचल पाषाणकी तरह सब कुछ सुन गये, मानो आत्मा ही लुप्त हो गया हो। पर ज्योही मा पैरोमे गिरी कि झुझलाकर पैर हटा लिये और छिटककर दूर खडे हो गये। एक क्षुब्ध सन्नाटा कक्षमें व्याप गया। दोनो हाथोमे मुह ढापकर कुमार बडी देरतक निस्पद और अकप होकर अपने भीतर डूब रहे....। फिर एकाएक घुमडते मेघ-से गभीर स्वरमें गरज उठे—

"....धिक्कार है यह पुरुषत्व और वीरत्व—धिक्कार है मेरी यह विजय-गरिमा, धिक्कार है यह राज्य, यह सिंहासन, यह प्रमत्त वैभव और ऐश्वर्य—धिक्कार है यह कौलीन्य, यह सतीत्व, यह शील और यह लोक-मर्यादा। सत्यपर नही, हमारे अहंकारो और स्वार्थोंपर टिका है यह सदाचारोका पृथुल विधान....!—आह रे दंभी पुरुष,

देवत्व, ईश्वरत्व और मुक्तिके तेरे ये दावे धिक्कार हैं ! निपीडक, नृशंस, बर्बर ! युग-युगसे तूने अपने पशु-बलके विषाक्त नखोंसे कोमला नारीका वक्ष चीरकर उसका रक्त पिया है....!—उस वक्षका जिसने अपने रक्त-मासमेंसे तुझे पिंड-दान किया—और जन्म देकर अपने दूधसे तुझे जीवन-दान किया। और उसीपर सदा तूने अपने वीरत्वका मद उतारना चाहा है ! उस विधात्री और शक्ति-दात्रीसे शक्ति पाकर, आप स्वय उसका विधाता और नियता बननेका गौरव लिये बैठा है ?—धूर्त, पाखडी, कापुरुष....!....मेरे उसी पुरुषत्वका यह जन्म-जन्मका निदारुण अपराध है कि ऐसा अमगल घटा है। यह एक पुरुष या एक स्त्रीका दुर्दैव नही है, प्रहस्त, यह हमारी परपराके मर्मका व्रण फूटकर सामने आ गया है—?—जियो मा—जियो, तुम्हारा दोष नही है। सतीकी अवमानना तुमसे पहले मैंने की है, उसीका दड मैं भोग रहा हूं।—इसमें तुम्हारा और किसीका क्या अपराध....?"

क्षणभर चुप रहकर कुमारने पिताकी ओर निहारा।—मुकुट धरतीमे लोट रहा है ! राज्यत्व और क्षात्रत्व अपने पराभव-से भूलुठित और विध्वस्त होकर धूलमे मिल रहे हैं। पवनजयके हृदयमें फिर एक जोरका आघात हुआ। अतर्भेदी स्वरमे कुमार पुकार उठे—

"उठो, प्रहस्त, उठो—देर हुई तो ब्रह्माड विदीर्ण हो जायगा। लोक-कल्याणकी तेज-शिखा बुझ गई है। आनदका यज्ञ भग हो गया है, और मगलका कलश फूट गया है। जीवनकी अधिष्ठात्री हमें छोड-कर चली गई है....। जल्दी करो प्रहस्त, नही तो लोककी प्राण-धारा छिन्न हो जायगी। मेरी आखोंमें कल्पातकालका प्रलयकर रुद्र ताडव-नृत्य कर रहा है—। नाशकी झंझा-रात्रि चारो ओर फैल रही है, प्रहस्त, सृष्टिमें विप्लवके हिलोरे दौड़ रहे हैं। इस ध्वस-लीलाके बीच, जल्दीसे जल्दी उस अमृतमयी, प्राणदाको खोज लाकर, उसे विधातृके आसनपर प्रतिष्ठित करना है।—वही होगी नवीन सृष्टिकी अधी-

श्वरी ! उसीके धर्म-शासनका भार वहनकर हमारा पुरुषत्व और वीरत्व कृतार्थ हो सकेगा !—प्रस्तुत होओ, मेरे आत्म-सखा....!'

फिर मांकी ओर लक्ष्यकर बोले—

"रोओ मत मां, मेरे पापका प्रायश्चित्त मुझे ही करने दो—। जल्दी बताओ, निर्वासितकर तुमने उसे कहां भेजा है....?"

रानीने धरतीमे मुह डुबाये ही उत्तर दिया—

"महेंद्रपुर....उसके पिताके घर।"

"उठो प्रहस्त, अश्व-शालामें चलकर तुरत वाहन प्रस्तुत करो, चिंताका समय नही है।"

प्रहस्त उठकर चले गये। कुछ देर द्रुत-पगसे कुमार, कक्षमें इधरसे उधर टहलते रहे—फिर तुरत झपटते हुए कक्षसे बाहर हो गये। मां और पिता बेकाबू होकर रो उठे और जाकर पुत्रके चरण पकड लिये।—झटकेके साथ पैर छुडाकर पवनंजय द्वारके बाद द्वार पार करते चले गये। राहमे प्रतिहारियो और राज-कुलकी महिलाओंने अपने वक्ष बिछाकर उनकी राह रोकनी चाही, कि उनपर पैर धरकर ही वे जा सकते हैं। पवनंजय एक झटका-सा खाकर रुक गये, पीछे लौटकर देखा, और दूसरे ही क्षण रेलिंग फादकर अलिंदके छज्जेपर जा उतरे और अपलक नीचे कूद गये....। महलमे हृदय-विदारक रुदन और विलापका कोहराम मच गया। चारो ओरसे प्रतिहार और सेवक दौड़ पडे, पर राजांगनमे कही भी कुमारका पता न चला !

[३३]

रातकी अमूझ तमसाको चीरते हुए दो अश्वारोही, प्रभंजनके वेगसे महेंद्रपुरकी ओर बढ़ रहे हैं। आगे-आगे दीर्घ मशाल लेकर एक मार्ग-दर्शक सैनिकका घोड़ा दौड़ रहा है। शीतकालकी हड्डी कंपा देनेवाली

हवाये विरहिणीके रुदन-सी दिगतमें भटक रही हैं। घोडोकी टापोंके अविराम आघात ही उस गुजानशून्यको विदीर्ण कर रहे हैं। दूर-दूरसे शृगालों और वन-पशुओके समन्वित रुदनकी पुकारे रह-रहकर सुनाई पडती हैं। कही किसी खेतकी मेढ़पर कोई कुत्ता ढीठ स्वरमे भूक उठता है। सुदूर अधकारमें किसी ग्रामके घरका एकाकी दीप झलक जाता है। प्रियाके बाहु-पाशका ऊष्म आश्वासन हृदयको गुद-गुदा देता है। तभी कही राहके किसी पुरातन वृक्षकी कोटरमें उल्लू बोल उठता है।—अश्वारोहियोके माथेपरसे कोई नीडहारा एकाकी पछी श्लथ पखोसे उडता हुआ निकल जाता है। दूर जाकर सुनाई पड़ती है उसकी आर्त और विकल पुकार।

दोनो अश्वारोहियोके मनोके बीच एक अथक शक्तिका स्रोत बह रहा है। उनके सारे सकल्प-विकल्प खोकर, उसी मौन प्रवाहके अश बन गये है।—पर इस सक्रमणमे पवनजय नितात अकेले पड गये हे। धरती उलटकर उनके माथेपर घूम रही है, और तारोभरे आकाशका अथाह शून्य उनके अश्वकी चापो तले फैल गया है। ग्रह-नक्षत्रोके सघर्षोंमे उनकी राह रुध जाती है।—प्राणका अस्त्र फेककर वे घोड़ेको एड देते हैं। एक नक्षत्रको पीछे ठेलकर वे दूसरेपर जा चढ़ते है।—देखेगा, वह कौन शक्ति है जो आज उसकी राह रोकेगी!

× × × × सबेरे काफी धूप चढ़नेपर, महेंद्रपुरके सीमस्तभके पास आकर वे दोनो अश्वारोही उतर पडे। मार्गसे परे हटकर, एक एकात वृक्षके नीचे जाकर उन्होने विराम लिया।—दूरपर महेंद्रपुरके प्रासाद-शिखरोकी उडती पताकाए दीख रही हैं। एक साधभरी वेदनाकी उत्सुक और विधुर दृष्टिसे पवनजय उस ओर देखते रह गये। फिर एक दीर्घ निश्वास ओठोमे दबाकर बोले—

"जाओ भाई प्रहस्त, मेरे पाप-पुण्योके एकमेव सगी, तुम्ही जाओ।—जाकर देवीसे कहना, कि अपराधी इस बार फिर चरम

अपराध लेकर आया है—प्राणका भिखारी बनकर वह उसके द्वारपर खड़ा है । यह भी कहना कि अब इस अपराधकी आवृत्ति नही होगी—उसके मूलोच्छेदका संकल्प लेकर ही पवनंजय इस बार आया है ! मुझे विश्वास है, वह नटेगी नही, रोष भी नहीं करेगी । इनकार तो वह जानती ही नही है, वह तो देना ही जानती है । जाओ भैय्या—जल्दीसे जल्दी मेरा जीतव्य लेकर लौटो. . . .''

कहकर पवनजय वृक्षके तनेके सहारे जा बैठे ।

प्रहस्तने फिर घोडेपर छलाग भरी और नगरकी राह पकडी । सैनिकने पासके वृक्षोके मूलमे दोनो घोड़े बांध दिये और स्वामीकी आज्ञामें आ बैठा ।

नगर-तोरणके बाहरकी एक पाथ-शालामें जाकर प्रहस्त घोडेसे उतर पडे । घुडसालमे घोडा बाधकर, एक भृत्यके द्वारा पांथ-शालाके रक्षकको बुला भेजा । रक्षकके आनेपर, उसे एक ओर ले जाकर उन्हाने उसे कुछ स्वर्ण-मुद्राएं भेट की और कहा कि वह साथ चलकर उन्हें—राज-अत पुरके द्वारपालसे मिला दे । उन्होने उससे यह भी कह दिया कि राजमार्गसे न जाकर वे नगर-परकोटके रास्तेसे ही वहातक पहुचना चाहेगे । रक्षकने यथादेश प्रहस्तको अत:पुरके सिंह-तोरणपर पहुंचा दिया, और उनके निर्देशके अनुसार द्वार-पालको जाकर सूचित किया कि कोई विदेशी राज-दूत किसी गोपनीय कामको लेकर उनसे मिला चाहता है । द्वारपालने तुरत प्रहस्तको बुला भेजा । यथेष्ट लोकाचारके उपरांत, प्रहस्तने एकांतमें चलकर कुछ गुप्त वार्ता-लाप करनेकी इच्छा प्रकट की । द्वारपाल पहिले तो सदिग्ध होकर, कुछ देर उनकी अवज्ञा करता रहा, पर प्रहस्तके व्यक्तित्वको देखकर उनका अनुरोध टालनेकी उसकी हिम्मत न हुई।—एकांतमे जाकर प्रहस्तने अपना मतव्य प्रकट किया। बताया कि वे आदित्यपुरके राजा प्रह्लादके गुप्त-चर हैं, और महाराजका एक अत्यत निजी और गुप्त सदेश वे युवराज्ञी अजनाके लिये लाये हैं, वे स्वय

ही उनसे मिलकर अपना सदेश निवेदन किया चाहते है, अतएव बड़ा अनुग्रह होगा यदि वे तुरत उन्हें युवराज्ञीके पास पहुचा सके—। कहकर अपने गलेसे एक मुक्ताकी एकावली उतारकर उन्होंने भेटस्वरूप द्वारपालके समुख प्रस्तुत की।

द्वारपाल सुनकर सन्नाटेमे आ गया....। उसने अपने दोनो कान मींच लिये। एक गहरी भीति और आश्चर्यकी दृष्टिसे पहले वह सिरसे पैरतक प्रहस्तको देखता रहा। फिर शकित और आतकित दबे स्वरमें बोला—

"... विदेशी युवक, तुम मुझे धोखा नही दे सकते।—साफ़ है कि तुम झूठ बोल रहे हो, तुम आदित्यपुरके दूत कदापि नही हो सकते। मूर्ख, तुम्हें यह भी नही मालूम कि कलकिनी अजना श्वसुर-गृह और पितृ-गृह दोनो ही से तज दी गई है—! उस बातको भी कई महीने बीत गये। सावधान विदेशी, अपने प्राण प्यारे हो तो इस नगरकी सीमा छोडकर इसी क्षण यहासे चले जाओ। इस राज्यमे यह आज्ञा घोषित हो चुकी है कि कोई भी नागरिक यदि पुश्चली अजनाको शरण देगा या उसकी चर्चा करता पाया जायगा, तो उसे प्राण-दडकी शिक्षा होगी।—चुपचाप यहासे चले जाओ, फिर भूलकर भी किसीके सामने अजनाका नाम न लेना...."

उल्टे पैर प्रहस्त लौट पडे। उनका मस्तक चकरीकी तरह घूम रहा था। राहमे रक्षकके कधेपर हाथ रख वे अधाधुध चल रहे थे। लगता था कि पैर शून्यमे पड़ रहे हैं। चेतना चुक जाना चाहती है। यह निष्ठुर वार्ता भी अपनी इसी ज़बानसे पवनजयको जाकर सुनानी होगी—? हायरे दुर्दैव, पराकाष्ठा हो गई।—नही, इस शरीरमे अब यह भीषण कृत्य कर सकनेकी शक्ति नही रह गई है। यह संवाद लेकर पवनजयके सामने जानेकी अपेक्षा, वे राहकी किसी वापीमे डूब मरना चाहेगे। पर अगले ही क्षण लगा कि वे कायर हो रहे हैं। दुखसे भयभीत और कातर

होकर, इस प्राणांतक आघात के समुख मित्रको अकेला छोड़कर भागनेका अपराध उनसे हो रहा है।

पाथशालामे पहुचकर प्रहस्तने बिना विलव किये अश्व कसा। अजनाके सबधमे और भी जो कुछ वे रक्षकसे जान सकते थे—वह जान लिया। फिर नियति-दूतकी तरह कठोर होकर घोडेपर सवार हो गये और नगर-सीमकी राह पकडी।

प्रहस्तको दूरपर आते देख, अधीर पवनंजय उठकर आगे बढ़ आये। मित्रका उदास और फक् चेहरा देखकर पवनजयके हृदयमे खटका हुआ।—अपनी जगहपर ही वे ठिठक रहे।

घोडेसे उतरकर प्रहस्त दूरपर ही गडेसे खडे रह गये। माथा छातीमें धसा जा रहा है। वक्षपर दोनो हाथ बधे हैं। और टप्-टप् आसू टपककर भूमिपर पड रहे हैं।

व्यग्र और कपित स्वरमे पवनजयने पूछा—

"प्रहस्त....यह....क्या.. .?"

और ओठ खुले रह गये। सिर उठाकर भरी आते कंठको कठिनकर तीव्र स्वरमे प्रहस्त बोले—

"कहूगा भाई....कहूगा ...हृदयोको बीधनेके लिये ही विधाताने मुझे अपना दूत बनाकर धरतीपर भेजा है!....अपनी भाग्यलिपिका अंतिम सदेश सुनो, पवन।—त्यक्ता और कलकिनी अंजनाके लिये पितृ-गृहका द्वार भी नही खुल सका। आजसे पाच महीने पहले एक सध्यामे वह यहा आई थी। पिताने मुह देखनेसे इनकार कर दिया। पितृ-द्वारसे ठुकराई जाकर वह जाने कहा चली गई है, सो कुछ ठीक नही है। पितासे छुपाकर, माके अनुरोधसे उसके सारे भाई गुप्त रूपसे दूर-दूर जाकर उसे खोज आये, पर कही भी उसका पता न चला।—महेंद्रपुरके राज्यमें अजनाका नाम लेनेपर प्राण-दडकी शिक्षा घोषित कर दी गई है, पवन....!"

प्रलयकालके हिल्लोलित समुद्रके बीच अचल मंदराचलकी तरह स्तब्ध पवनंजय खड़े रह गये—! प्रहस्त आखे उठाकर उन्हें देखनेका साहस न कर सके। जाने कितनी देर बाद एक दीर्घ निःश्वास सुनाई पड़ा। गभीर वेदनाके स्वरमे पवनंजय बोले—

"सच ही कह रहे हो, सखे! ....मुझ पामरकी यह स्पर्धा—कि अपने इगितपर मै उसे पाना चाहता हू?—उसे देवी कहकर अपनी चरण-दासी बनाये रखनेका मेरा वंचक अभिमान अभी गला नही है। अक्षम्य है मेरा अपराध, प्रहस्त,—उसे पानेकी बात दूर, मै उसकी छाया छूनेके योग्य भी नही हू। इसीसे वह चली गई है मर्त्यकि इस माया-लोकसे दूर...बहुत.दूर ...."

कुछ देर चुप रहकर कुमार फिर बोले—

".. अच्छा प्रहस्त, जाओ—अब तुम्हे कष्ट नही दूगा। जिस लोकमे सतीके सत्यको स्थान नही मिल सका, उसमे लौटकर अब मै जी नही सकूगा।—इन प्राणोको धारण करनेवाली धरित्री जहा गई है, वही जाकर इन्हे अवस्थिति मिल सकेगी। उसे छोड़कर सारी सृष्टिमे पवनजयका जीना कही भी सभव नही है। . .जाओ भैय्या . मै चला ..."

कहकर पवनजय लौट पडे और सैनिकको अश्व प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दी। झपटकर प्रहस्तने पवनजयको बाहमे भर लिया और उनके कधेपर माथा डाल बिलख-बिलखकर रोने लगे....

" नही पवन ...नही, यह नही होने दूगा . .। बचपन मत करो मेरे भैय्या... । उदयागत अशुभको झेलकर ही छुटकारा है। तीर्थंकरो और शलाका पुरुषोको भी कर्मने नही छोडा है—तो हमारी क्या बिसात। भव-भवके प्रबल अतरायने तुम्हें यह आजन्म विच्छेद दिया है।—भाग्यसे होड बदनेकी बाल-हठ तुम्हे नही शोभती, पवन....!"

"ओह, प्रहस्त—तुम्हीं बोल रहे हो—या लोककी मायाका प्रेत तुममेंसे बोल रहा है ? भाग्यसे पराजित होकर—उसके विधानको छातीपर धारणकर—उसकी दयाके अधीन मुझे जीनेको कह रहे हो,—प्रहस्त ?....और तीर्थंकरों और शलाका पुरुषोंने क्या उस कर्मके चक्रको लात मारकर नही तोड़ दिया। क्या उन्होने सिर झुका-कर उसे सह लिया ? दैवपर पुरुषार्थकी विजय-लीला दिखानेके लिये ही वे पुरुष-पुगव इस धरतीपर अवतरित हुए थे। इसीसे आजतक मुक्ति-मार्गकी लीक अमिट बनी है। वही हमारी आत्माकी पल-पलकी पुकार है।—उसे दबाकर अकर्मण्य होनेकी बात तुम कह रहे हो...?

"—मोह मत करो, प्रहस्त, कर सको तो मुझे प्यार करो, भैय्या। हसते-हसते मुझे जानेकी आज्ञा दो—और आशीर्वाद दो कि लक्ष्मीको पाकर ही मै फिर तुम्हारे पास लौटू। किसी प्रबलसे प्रबल बाधाके समुख भी मै हार न मानू।—मानवी पृथ्वीके अतिम छोरोतक मैं अजनाको खोजूगा—। यदि कुलाचल भी मेरे मार्गकी बाधा बनकर समुख आयेगे, तो उनका भी उच्छेद करूगा ! ग्रह-नक्षत्रोको भले ही अपनी चाले उलटनी पडे, पर पवनजयका मार्ग नही रुधेगा। एक नही, सौ जन्मोंमे सही, पर पवनजयको उसे पाकर ही विराम है... !

"....एक जन्मके भाग्य-बधनको तोडकर जो पुरुषार्थ अपनी प्रियाको नही पा सकता, निखिल कर्म-सत्ताको जीतकर वह मुक्ति-रमणी-के वरणकी बात कैसे कर सकता है—? यह मेरे अस्तित्वका अनुरोध है, प्रहस्त, इसे दबाकर तुम मुझे जिलानेकी सोच रहे हो ..?"

एक अनोखी आनंद-वेदनासे विह्वल हो प्रहस्तने बार-बार पवनजयका लिलार चूम लिया—और हारकर दूर खड़े हो गये। आसू उनकी आखोसे उफनते ही आ रहे हैं; एकटक वे पवनजयका उस क्षणका अपूर्व तेजस्वी रूप देख रहे थे—। रण-क्षेत्रमे शस्त्रार्पणके उपरात जो

प्रखर तेज विजेता पवनजयके मुखपर प्रकट हुआ था, वह भी इस मुखकी कोमल-करुण दीप्तिके समुख प्रहस्तको फीका लगने लगा।

"अच्छा भैय्या, आज्ञा दो, चलू—! पहली ही बार तुमसे अनिश्चित कालके लिये बिदा हो रहा हू। बिदाके मुहूर्तमें दुर्बल मोह न दो, भैय्या, बलवान प्रेमका पाथेय दो"

कह कर पवनजय ने नीचे झुक प्रहस्तके पैरोकी धूल लेकर माथेपर लगा ली। प्रहस्त ने तुरन्त झुक कर दोनों हाथो से कुमार को उठा लिया। सिरपर हाथ रखकर वे इतना ही कह सके—

"जाओ पवन....प्रियाके आचलमें मुक्ति स्वय साकार होकर तुम्हे मिले ...!"

× × × आंसुओमें डूबती आखोंमे प्रहस्त और सैनिक देखते रह गये· दूरपर घोड़की चापोसे उडती धूलमे, पवनजयके मुकुटकी चूडा ओझल होती दिखाई पडी... ।

[३४]

अश्वारूढ़ पवनजय, निर्मम और उद्दड, एक ही उडानमे योजनो लाघ गये।—दूर-दूरतक नजर फेकी—दिशि-दिशातरमे कही कोई आकर्षण नही है, कही कोई परिचय या प्रीतिका भाव नही है। लोकमे सत्यकी ज्योति कही भी दिखाई नही पड रही है। सारे विश्वासोके बधन जैसे टूट गये है। एक गभीर अश्रद्धा और विरक्तिसे सारा अतस्तल विषण्ण हो गया है। -मानवकी इस पृथ्वी और आकाशकी अवहेलना-कर, आज वह क्षितिजकी नीली साकल तोडेगा....! वही मिलेगी, लोकसे परे, शून्य वात्यालोकमे, आलोककी अखड लौ-सी दीपित वह प्रियतमा। एक नया ही विश्व लिये होगी वह अपनी उठी हुई हथेलीपर। उसी विश्व में वह नव-जन्म पायेगा....। वही जाकर

छुपा है उसका सत्य। आस-पासकी जगतीसे सत्यकी सत्ता ही मानो निःशेष हो गई है। उसके जीवनको आश्रय देनेकी शक्ति ही मानो इस लोकमें नहीं है।—भीतरका सवेग और सवेदन और भी तीव्र हो गया। उद्धत और दुरत होकर फिर घोडेको एड दी—। आत्महारा और लक्ष्यहीन तरुण फिर निर्जीव शून्यमें भटक चला। पुराने दिनोंकी नि.सार कलना फिर हृदयको मथने लगी। गतिके इस नाशक प्रवेगमें शरीरपर भी वश नहीं रहा।

....एकाएक कुमारके हाथसे वल्गा छूट गई। घोड़ा अपने आप धीमा पड चला। अनायास ही आस-पासकी धरतीपर दृष्टि पड़ी। श्रीहीन और करुण-मुखी पृथ्वी विरह-विधुरासी लेटी है—आकाशके शय्या-प्रातमे लीन होती हुई। वृक्षोंकी शाखाओंमें एक भी पल्लव नहीं है। पत-झरकी धूल उडाती हवामे पीले पत्ते उड रहे हैं। दिशाए धूसर, और अवसादमे मलिन हैं। दूरकी एक शैला-रेखापर अंजन छाया घनी हो गई है। ऊपर उसके दूध-पीते शिशु-सा एक बादल-खड पडा है। और उससे भी परे किसी तरुके शिखरपर, साध्य-धूपकी एक किरण ठहरी है।

....पवनजयके मनका सारा औद्धत्य और निर्ममता, क्षण मात्रमें पिघल चले। एक निगूढ आत्म-वेदनाकी करुणासे मन-प्राण आविल हो गया। सामने राहके किनारे जाता एक प्रवासी कृषक दिखाई पडा। काधेपर उसके हल है, श्रात और क्लात, पसीनेमे लथ-पथ, धूलभरे पैरोंसे वह चला आ रहा है।—कुमार उसके पास जा विनतिके स्वरमे बोले—

"हलधर बधु! बहुत थक गये हो। मुझ विदेशीका उपकार करो। लो यह घोडा लो—मेरा यह मुकुट लो—इसका भार अब मुझसे नहीं ढोया जाता। अपनी पगडी और अगा मुझे दे दो भाई, तुम्हारा बहुत-बहुत कृतज्ञ हूगा!"

हल-धर चौंका। समझ गया कोई राज-पुरुष है, पर क्या वह पागल हो गया है ? विमूढ हो वह ताकता रह गया। क्या बोले, कुछ समझ न आया। सोचा कि शायद आज भाग जागा है। कुमारने उसके अंगा और पगडी उतारकर आप पहन लिये। अपने हाथसे उस कृषकके माथेपर मुकुट बाधा, और अपने बहुमूल्य वस्त्राभरण उसे पहना दिये। घोड़ेकी वल्गा उसके हाथमें थमा दी।

"उपकृत हुआ- हल-धर बधु—!"

कहकर उसके पैर छुए और बोले—

"अच्छा, बिदा दो,—कष्ट दिया है, अपना ही अतिथि जान क्षमा कर देना"

कृषक अचरजसे आखें फाड़ देखता रह गया। विदेशी राजपुरुष चल पडा अपनी राहपर, और मुडकर उसने नही देखा....।

राज-मार्गपर पवनजयको असख्य चरण-चिन्ह दीख पड़े।—अनत काल बीत गये है, कोटि-कोटि मानव इस पथपर होकर गये हैं। उन पद-चिन्होमे कुमारको प्रियाके चरणोका आभास हुआ। निश्चयही इसी राह होकर वह गई है ..। झुककर वे एक-एक चरण-चिन्हका वदन करने लगे, चूमने लगे और बलायें भरने लगे !

प्रियाके अन्वेषणमे वातुल और विक्षिप्त राज-पुत्र देश-देशातर घूम चला। अकिंचन और सर्वहारा वह दिवा-रात्रि चल रहा है—अश्रात और अविराम। नाना रूप और नाना वेष धरकर, वह देश-देशमे, ग्राम-ग्राम और नगर-नगरमे, हाटमे और बाटमे, नदियोके घाटमे, प्रियाको खोजता फिरता है। कही तमाश-गीर बनकर तमाशे दिखाता, कही माली बनकर नगरके चौराहोमे भाति-भातिके पुष्पाभरण बेचता। कभी रत्न अथवा कला-शिल्पकी वस्तुए लेकर राज-अत.पुरोमें पहुच जाता। रानिया, राज-बधुए और राजकन्याये, इस मनमोहन और आवारा कलाधर को देखकर भौचक रह जाती। उसकी कला-सामग्री यों ही फैली रह जाती,

ग्रौर वे रमणियां उसके देश ग्रौर उसके घरका पता पूछने लगती; उसके बारेमे ग्रनेक गोपन जिज्ञासाग्रोसे उनका मन भर ग्राता । निरीह ग्रौर ग्रज्ञान कलाकार बडी ही बेबस ग्रौर दीन हसी हस देता । निर्दोष ग्रौर विचित्र पहेलिया—भरी ग्राखोसे वह उनकी ग्रोर देखता रह जाता । वह कहता कि घर. . . . ?—घर तो उसका कही नही है—जिस भाडके नीचे, जिस मनुष्यके द्वारपर वह रात बिता देता है—वही उसका घर है। राहके सगी ही उसके ग्रात्मीय हैं—वे मिलते है ग्रौर बिछुड भी जाते हैं । धरती ग्रौर ग्रासमानके बीच सब कही उसका देश है ।— कहासे ग्राया है ग्रौर कहा जायगा, सो तो वह स्वय भी नही जानता है—। महलोंके सुखमे बेसुध रहनेवाली वधुए ग्रौर कन्याये, ग्रात्माके चिरतन विछोहसे भर ग्राती। कलाकार उनकी सहानुभूति ग्रौर ममता-माया का बन्दी बना कर राज-चित्रशालामे बद कर दिया जाता। उससे कहा जाता कि जब ग्रौर जैसी उसके जीमे ग्राये चित्र-सारी करे ग्रौर वही रहे; ग्रपनी मनचाही वस्तु वह माग ले । नाना भोजन-व्यजन ग्रौर वसन-भूषण ले, एक-एककर वे चुपके-चुपके ग्राती । उसका मन ग्रौर उसकी चितवन ग्रपनी ग्रोर खीचनेको जाने कितनी चेष्टाए ग्रनजानमे कर जाती । उसका एक बोल सुननेको घटो तरसती खडी रह जाती। पर विचित्र है यह कलाधर— जाने कहा भूला है ? सारी भोग-सामग्रिया विफल पडी रह जाती है । राजागनाग्रोके सारे हाव-भाव, लीला-विभ्रम निरर्थक हो जाते है। वह तो ग्राख उठाकर भी नही देखता है । ग्रन्य-मनस्क ग्रौर भ्रमित-सा चित्रशालाके ग्रलिंद-वातायनमें बै ा वह क्षितिज ताका करता है—। तो कभी-कभी वहांकी विशाल दीवारोपरके बहुमूल्य चित्रोपर सफ़ेदा पोतकर उनपर ग्रपनी ही विचित्र सूभके धबीले चित्र बनाया करता है । इन चित्रोमें न कोई तारतम्य है ग्रौर न कोई सुनिश्चित ग्राकृति ही है !— फिर भी एक ऐसा प्राणका प्रकाश उनके भीतर है कि प्रत्येक मनके सवेदनोंके ग्रनुरूप परिणत होकर ये धब्बे, जाने कितनी कथाए कहने

लगते हैं। उनमें पृथ्वी, आकाश, नदी, पहाड़, वृक्ष, पशु-पक्षी, मनुष्य सब कल्पनाके अनुसार अपने आप तैर आते हैं।

और एक दिन पाया जाता है कि चित्रशाला शून्य पड़ी है और कलाकार चला गया है ! अपने साथ वह कुछ भी नहीं ले गया है—साथ लाई वस्तुएं भी नहीं—! द्वार-कक्षमें उसकी पादुकाएं भी वैसी ही पड़ी रह गई हैं—। दीवारके उन बबीले चित्रोंके प्रसारको जब अतःपुरकी रमणियां ध्यानसे देखने लगीं, तो उस रंग-रेखाओंके विशाल आवरणमें, प्रकृतिकी विविध रूपमयताका घूंघट ओढ़े एक अनन्यतमा सुंदरीकी भाव-भंगिमा झलक जाती है—। वे रमणियां दांतों तले उंगली दाब लेतीं। एक अचिंत्य वेदनासे उनका हृदय भर आता है। अपने-अपने कक्षके दर्पणके सामने जा अपना रूप निहारती हैं—और उस सौंदर्यकी झलक अपने भीतर पानेको तरस-तरस जाती है !

राह चलता प्रवासी ग्रामके किसी कृषक अथवा ग्वालेके यहां नौकरी कर लेता। दोपहरीमें गाय-भेड़-चराने किसी पहाड़की हरी-भरी तलहटीमें चला जाता। उन चौपायोंकी आंखोंमें आंखें डाल उनसे मन-मानी बातें करता। उनकी निरीह मूक दृष्टिकी भाषाको वह समझ लेता। गले और भुजाओंमें भर-भरकर उनसे दुलार करता, घंटों उनके लोमोंको सहलाया करता। कभी पहाड़की चोटीपर चला जाता और वहां किसी दुर्गम ऊंचाईपर वनस्पतियोंकी सुरभित छायामें बैठकर बंसी बजाता। उस तानके दर्दसे जड़-चेतन हिल उठते। आस-पासके जंगली युवक-युवतियां पहाड़ के ढालमें इधर-उधरसे निकल आते, और अपनी जगहपर चित्र-लिखे-से रह जाते। प्रवासीको अपनी अध-मुंदी आंखोंके सजल रोंओंमें दीखता—अनेक विलक्षण जीव-जंतुओंकी सृष्टि उसके पैरोंके आस-पास घिर आई है; भालू है तो नील-गाय भी है, कहीं व्याघ्र है तो हिरन भी है, झाड़की डालमें मयूर आ बैठा है तो पैरों तलेकी बांबीसे भुजंगम भी निकल आया है। भयंकर और सुंदर, प्रबल और सबल सभी

तरहके जीव अभय और विमुग्ध होकर वहां मिल बैठे हैं। और बंसी बजाते-बजाते वह स्वयं जाने कब एक गहरी सुषुप्तिमें अचेत हो जाता। सांझ पड़े जब नींद खुलती तो चौपायोको लेकर घर लौट आता। दो-चार दिन टिका न टिका और किसी आधी रात उठकर फिर प्रवासी आगे बढ़ जाता।

राहके ग्राम-नगरोंके बाहर पनघट, घाट और सरोवरोंके तीर बैठ वह जादूगर बनकर चमत्कार दिखाता। देश-देशकी अद्भुत वार्ताएं सुनाता, विचित्र और दुर्लभ वस्तुए दिखाता। भान भूल कर पुर-वधुएं और ग्राम-रमणिया आस-पास घिर आती। मोहित और चकित वे देखती रह जाती। आकुल और वातुल नयनोसे प्रवासी जादूगर सबको हेरता रह जाता। उनकी लीलायित आंखोंके समोहनमे प्रियाकी छबि तैरकर खो जाती। उसकी आखे आसुओसे भरकर दूरपर थमी रह जाती। उसे दीन, आश्रयहीन और अनात्मीय जान, रमणियाँ मन ही मन व्यथित हो जातीं। जादूगर अपनी चीज-वस्तु समेट पोटली कधेपर टाग, अपनी राह चल पडता। महानुभूतिसे भरकर वे वधुए अपने कठ-हार और मुद्रिकाए उसके सामने डालकर कहती—'जादूगर, हमारी भेट नही लोगे ?'। प्रवासी मौन और भाव-शून्य पीठ फेरकर अपने पथपर बढ़ता ही जाता। आभरण धूलमे मिलते पड़े रह जाते। स्त्रिया सजल नयन ताकती रह जाती। जलका घट उठाकर घर लौटनेका जी आज उनका नही है। क्या करके वे इस प्रवासी को आश्रय दे सकती हैं ?

....पर निर्मम प्रवासी उनके हृदय हरकर चला ही जाता। चलते-चलते सध्या हो जाती। मलिन और पीले आलोकमें नदीकी शीर्णरेखा दिखाई पडती। उसके निर्जन तीरपर जाकर, वह नदीके जलमे अपनी छाया देखता। देश-देशकी धूप-छाया, सुख-दुख और मनोवार्ता लेकर यह नदी चली आ रही है।....जाने कब किस निस्तब्ध दुपहरीमे बन-तुलसीसे छाये इस घाटमे बैठकर उसकी प्रियाने जल पिया होगा; इस नदीकी

धारामे उतरकर वह नहाई होगी—। निविड समोहनसे भरकर वह नदी-की धारामे डुबकी लगा जाता। उसके बहते हुए प्रवाहको अपने भीतर समा लेनेको वह मचलता रहता। रात-रात भर वह श्वास रोककर नदीकी धारामे पडा रहता और तारों भरे आकाशकी ओर ताका करता। सवेरेके फूटते आलोकमे पाता कि ऊपर फैली है, अतहीन शून्यकी वही निश्चिह्न और अथक नीलिमा ! और आस-पास स्वर्ण-परियो-सी चपल लहरे, हसती-बलखाती उमका मजाक करती हुई चली जा रही है—? फिर झुंझलाकर प्रवासी आगे चल पडता।

दिन-दिन कुमारका उन्माद सज्ञासे परे होता चला। हृदयकी गोपन-व्यथा अब छुपाये न छुप सकी। लोकालयके द्वार-द्वार घूमकर, एक स्वर्ग-च्युत देवकुमार-सा मलिनवेशी युवा, अजना नामा राज-कुमारी-की दु.ख-वार्ता सुनाने लगा। पूछता कि क्या उनके घर कभी वह आई थी ? क्या ऐसे रूप और ऐसे वेशमे, उस दीर्घ-केशी प्रियाको उन्होने कही देखा है ?—क्या उसके कधेपर कोई शिशु था ? पूछते-पूछते वह विचित्र पथी रो देता और भाग निकलता—। लोग उसके पीछे दौडकर उसे पकड़ना चाहते, पर देखते-देखते वह दृष्टिसे ओझल हो जाता।—पवनजयकी दिगत-जयिनी कीर्ति लोकमे सूर्यकी तरह प्रकाशित हो गई थी। आदित्यपुरकी कलकिता और निर्वासिता राज-बधूकी करुणकथा भी घर-घरमे लोग आसू भरकर कहते-सुनते थे। भेद खुलनेमे देर न लगती—। जन-जनके मुहपर उडता हुआ, देश-देश और द्वीप-द्वीपमें, अजनाकी खोजमे भटकते पवनजयका वृत्त फैल गया—।

समयका भान भूलकर यो निर्लक्ष्य भ्रमण करते पवनजयको महीनों बीत गये। उसे निश्चय हो गया कि मनुष्यकी जगतीमे अंजना कहीं नहीं है। वह उसका अज्ञान था और उसकी भूल थी कि उसी लोकालयमें वह उसे खोजता रहा, जहाके नीति-नियम और व्यवस्थामें अजनाको कोई स्थान नही था।....नहीं....उसने नहीं स्वीकारा होगा अब इस

देहकी काराको—। जिस देहमे जन्म लेकर परित्यक्ता, कलंकिता और निर्वासिता होकर, सारे जगतका तिरस्कार ही उसे मिला है, अवश्य ही उस देहके सीमा-बधनोंको तोडकर अब वह चली गई होगी अपनी ही मुक्तिके पथपर।—उस अनाथा और नि.सहाय गर्भिणीने निरंतर दुखके आघातोंसे जर्जर होकर, अवश्य ही किसी विजनके एकांतमें प्राण त्याग दिये होगे—।

. . . .वह निकल पडा निर्जन वन-खडोंमे। कुलाचलोके उच्छेद करनेकी बात उसे भूल गई है। ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिया उलटनेका दावेदार वीर्य निर्वेद और निस्तरग होकर सो गया है। विजयोद्धत होकर कई बार उसने इस पृथ्वीको गूंधा है, लांघा है, पार किया है। पर आज उसे जीतनेका भाव उसके मनमे नही है। पासमे—शस्त्रास्त्र नही है, यान भी नहीं है और कोई वाहन भी नही है।—विद्याओंका बल, भुजाओका बल और लोकका हृदय जीतनेवाली महामहिम गरिमा—सब कुछ विस्मरण हो गया है। सब कुछ धूल और मिट्टी होकर पैरोमें पडा है—। नितांत पराभूत, असहाय, निरुपाय, एक निरीह और अनाथ बालक-सा वह भटक रहा है। अपना कहनेको कुछ भी नही है उसके पास। सारी कांक्षाएं-कामनाएं, कल्पनाएं, सकल्प-विकल्प—सब नि.शेष हो गया है।·मुक्ति और बधनका विकल्प ही जब मनमें नही रहा है, तो मुक्ति-रमणीके वरणका क्या प्रश्न हो सकता है. . . .?

निपट अज्ञानी और भावशून्य होकर वह बन-बन फेरी दे रहा है।—वृक्ष-वृक्ष, डाल-डाल और पत्ती-पत्तीसे वह प्रियाकी बात पूछता फिरता है। पृथ्वीके विवरोंमें मुह डालकर घंटों अपनी श्वाससे उसकी गंधको पीता रहता है। जड़-जंगम, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, दीमक, सबके अंतरतममें झाक रहा है। अनायास ही सबके अपनत्वका लाभ वह पा गया है। बाहरसे वह जितना ही विरही, विसग और एकाकी है, भीतर उतना ही सर्व-गत और सर्व-संगत होता जा रहा है। जिस विह्वलतासे वह कली और किसलय-

को चूमता है, उसी ललकसे वह तीखे काटो और नुकीले भाटोको भी चूम लेता है। ओठोसे रक्त झर रहा है, आखोसे आसू बह रहे है। अग-अगके क्षतोसे फूट रहे रक्तमे प्रियाके अरुण ओठोके चुबन सिहर उठते है। सुगम और दुर्गमकी कोई सतर्कता मनमे नही है। सारी अगमताओ और अवरुद्धताओमे वह अनायास पार हो रहा है। वह तो मात्र एक सतत गतिमान प्राण भर रह गया है। पहाडकी ये तपती चट्टाने जितना ही कठिन अवरोध दे रही है, उतना ही अधिक तरल होकर वह उनके भीतर भिद जाना चाहता है। दिन-दिनभर उन तप्त पाषाणोसे लिपटा वह पडा रहता है—कि इनमे अपनेको पिघलाकर इस समूचे भूधरके सारे जड-जगममे जीवन-रस बनकर वह फैल जायगा। इन पार्वतीय नदियोके तटोमे वह अपनेको गला देना चाहता है, कि इनके प्रवाहमे मिलकर मानवीय पृथ्वीके जाने किन दूर-दूरान्त छोरोमे वह चला जायगा—। तटवर्ती प्रदेशोके जाने कितने गिरि-वन, पशु-पक्षी और लोकालयोको वह जीवन-दान करेगा, उनके सुख-दुखो, प्यास-तृष्णाओका परस पाकर, अपनी चिर दिनकी विरह-वेदनाको शात करेगा!

कभी किंचित् सज्ञा जाग उठती है तो नाना आवेदनो और निवेदनोमे वह प्रियाको पुकार उठता है—

" रानी—मेरे अपराधका अत नही है। पर अपनको मैने कब रक्खा है। उसी रात तुम्हारी शरणमे मैने अपनेको हार दिया था। तुम्हारा भेजा ही युद्धपर गया था। तुमने कहा था कि धर्मकी पुकार आई है—जाना ही होगा। पर वहा देर हो गई, क्यो हो गई सो तुम्ही जानो। अब और न तरसाओ—अब और परीक्षा न लो। तुम्हारे बिना ये प्राण न मरते है, न जी पाते है। बहुत ही दीन, अकिंचन और दयनीय हो गया हू। क्या अब भी तुम्हे तरस नही आयेगा—? पर आह, तुम्हारी अथाह कोमलताका परस जो पा चुका

हू—कैसे विश्वास कर सकता हू कि तुम इतनी निर्दय हो सकती हो। अपने ही क्षुद्र स्वार्थी हृदयसे तुम्हे तौल रहा हू, मेरी हीनताका तो अत ही नही है। तेरे दु खोकी कल्पना भी नही कर पाता हू। उनमे झाकने-की बात सोचते ही भय और त्राससे सहम उठता हू। पुरुषका युग-युगका पुरुषार्थ तेरे कष्टोके समुख फीका पड गया है। किस बुद्धिसे उसकी बात मै सोच सकगा ? मेरा दुर्बल हृदय टूटकर रुद्ध हो जाता है तेरी वदना अनुभव कर सकने—जितनी चेतना मुझमें नही है।—पुरुषम वह कभी भी नही रही है। मुझे खीच लो रानी अपनी उसी स्नेहल गोदमे, जिसमे उस दिन शरण देकर मुझे प्राणदान दिया था नही अब नही सहा जाता तुम कहा हो बोलो बोलो तुम जहा हो वहीसे बोलो मुझे जरूर सुनाई पडगा

दूर-दूरके गिरि-शृगोसे पुकारे लौट आती ! और एक दिन अचानक उस प्रतिध्वनिमे उसन प्रियाकी पुकारका कठ-स्वर पहचाना। मानो वह कह रही है—"मै यहा हू मै वहा हू मै तुम्हारे चारो ओर हू भला मै कहा नही हू . !"

सुनकर वह पर्वतके सबसे ऊचे शृगपर जा पहुचा। आकाशमें आकुल भुजाए पसारकर उसने चारो ओर दृष्टि डाली। हवाओके झकोरोमे वही ममता भरा आवाहन बार-बार गूजता सुनाई पडने लगा। हृदय तोडकर उसने रो उठना चाहा कि अपने रुदनमे वह आस-पासकी इस नि स्सीम प्रकृतिको, धरती और आकाशको बहा देगा । पर आख खोलते ही पाया कि सुनील अतरिक्ष शिशु-सा सरल उसकी आखोमे मुस्करा रहा है—और हरीतिमाका विपुल स्नेहल आचल पसारकर धरणी उसे बुला रही है। पा गया वह पा गया प्रियाको । विदेह और उन्मुक्त दसो दिशाओमे फैली है उसीके वात्सल्यकी अपार माया !—पहली ही बार समा सका

है इन चर्म चक्षुओंमें प्रियाका वह सांगोपांग और अविकल दर्शन !

वह मचल पड़ा—वह दौड़ पड़ा। देह विस्मरणकर वह पर्वतके शृंगसे धरतीकी गोदमें आ पड़ा। टूटनेको आकुल देहके बंध छट-पटाने लगे। हाथ-पैर पसारकर सजल शाद्वल हरियालीसे भरी पृथ्वीसे वह लिपट गया। धरणीके वक्षसे वक्ष दाबकर भूमिसात् होनेके लिये उसका रोया-रोयां. आलौड़ित हो उठा। नही—अब वह अपनेको नही रख सकेगा।.. .इस मृण्मयीके कण-कण और अणु-अणुमें वह अपनेको बिखेर देगा। जन्म-जन्मकी पराजित वासना, चिर दिनकी विरह-वेदना एकाग्र होकर जाग उठी।

अध और निर्बंध होकर प्रकृतिके विशाल वक्षमे वह अपनेको अहर्निश मिटाने लगा, गलाने लगा। उसकी समूची चेतना एक निराकुल परिरभणके अशेष सुखसे आविल है। बाहरसे जितना ही वह अपनेको मिटा रहा है, भीतर उसके अग-अगमें एक नवीन रक्तका सचार हो रहा है।.एक नवीन जीवनके ससरणसे उसकी शिरा-शिरा आप्लावित हो उठी है। अपूर्व रसकी माधुरीसे उसका सारा प्राण ऊर्मिल और चचल है। उसकी मुदी आंखे नव-नवीन परिणमन और एक सर्वथा नवीन सृष्टिके सपनोसे भर उठी है। मनके सूक्ष्मनम आवरण-विकारोकी झिल्लिया तोडकर, प्रकृत और अनादि जीवनके श्रोत फूट चले है !

....दिनपर दिन बीतते जाते है। उसकी सुषुप्ति गभीरसे गंभीरतर हो रही है। बाहरसे बिल्कुल विजड़ित होकर वह मिट्टीके घने और विपुल आवरणोमे सो गया है। ऊपरसे बन-जूही और कचनारके फूल निरतर उस माटीके स्तूपपर झरते रहते है। उसकी बाहर झाकती अलकोंमे सौरभसे मूर्छित साप, बेसुध उलझे पड़े रहते है।. देश-देशके मिट्टी, जल, बन, फल-फूलका गध लेकर पवन आता है—

कानोंमें लोकके नाना सुख-दुख, विरह-मिलनकी वार्ता निरंतर सुनाया करता है।—यों दिनपर दिन बीतते चले जाते हैं—पर पवनंजयकी योग-निद्रा नही टूट रही है।

× × × एक बासंती प्रभातके नये आलोकमे, एक चिर-परिचित स्पर्शसे सिहरकर उसने आंखें खोलीं.... देखा. राशि-राशि फूलोका अवगुठन हटाकर प्रियाका वही मुस्कराता मुख सामने था— बोली— 'जागो ना....रात बीत गई है....!'। विस्मित और विमुग्ध, मतिहारा होकर वह देखता रह गया—चारो ओर नव-नवीन पुष्पो और फलोंसे आनत, नव-नवीन सुख-सुषमा और सौरभसे मंडित अनेक सृष्टिया. खिल पडी हैं। अनावृत और अनाविल सौंदर्यका सहस्र-दल कमल फूटा है—और मुस्कराती हुई प्रिया उसका एक-एक दल खोल रही है!

आनदसे आखें मीचकर फिर पवनंजयने एक गहरी अंगडाई भरी और उठ बैठे। सिरसे पैरतक शरीर मिट्टी, तृण और वनस्पतियोसे लथ-पथ है। आखें मसलकर खोलनेपर पाया कि वे वास्तविक लोकमें हैं।—दिनोकी गहन विस्मृतिका आवरण, हठात् आखोंसे परे हट गया।—वही परिचित वन-खंड, वही वृक्ष और दूरपर वही गिरि-शृंग है जहांसे लुढककर वह यहा आ पड़ा था। पर वनमे वासंतिका छिटकी है। दृष्टि उठाकर उसने अपने आस-पास देखा; चार-पाच मनुष्याकृतिया खडी हैं। बाहरके इस आलोकसे उसकी आखें अभी चुंधिया रही हैं। उसे कुछ-कुछ परिचित चेहरोका आभास हुआ, पर वह ठीक-ठीक पहचान नहीं पा रहा है। अपने इन चर्म चक्षुओंपर जैसे उसे विश्वास नहीं रहा है। इतने ही में उसे लगा कि उसे पकड़कर कोई उठा रहा है—

"पवनंजय....!"

....परिचित कठ! विद्युत्के एक झटकेके साथ पवनंजयको

स्पष्ट दीखा, सामने पिता खड़े हैं—। उनकी बगलमें खड़े हैं राजा महेंद्र और प्रहस्त। मानसरोवरके विवाहोत्सवके बाद राजा महेंद्रको आज ही देखा है, पर पहचाननेमें देर न लगी। दूरपर दो-एक परिचित राज-सेवक खड़े हैं। उधर एक ओर दो यान पड़े हैं। फिर मुड़कर अपने उठानेवालेकी ओर देखा। उस अपरिचित सौम्य चेहरेको वे ताकते रह गये, पर पहचान न सके।

प्रतिसूर्य हंसकर स्वय ही अश्रु-गद्गद कंठसे बोले—

"....चौंको नहीं बेटा, सचमुच तुम मुझे नही जानते।—मैं हूं अंजनीका मामा प्रतिसूर्य, हनुरूहद्वीपका—राजा। अजना और तुम्हारा आयुष्मान पुत्र मेरे घर सकुशल हैं! जबसे तुम्हारे गृह-त्यागका वृत्त सुना है, अंजनाने अन्न-जल त्याग दिया है। संज्ञा-हीन और विकल होकर दिन-रात वह तुम्हारे नामकी रट लगाये है। तुरत चलो बेटा, एक क्षण भी देर होगई तो वह जन्म-दुखियारी तुम्हारा मुह देखे बिना ही प्राण त्याग देगी....।"

पवनंजयने सुना, और सुनकर भी मानो विश्वास न कर सके। चौकन्ने और अभिभूतसे वे खड़े रह गये। अग-अग उनका कांप रहा है—दूरसे आती हुई यह कैसी ध्वनि सुनाई पड रही है। ओठ खुले रह गये है, और पागलकी नाईं जड़ित पुतलियोसे वे प्रतिसूर्यकी ओर ताक रहे हैं। वृद्ध प्रतिसूर्यके चेहरेपर चौंसठ-धारा आंसू बह रहे हैं।

एकाएक पवनजय चिल्ला उठे—

"अजना....? अंजना....?अजना मिल गई....सचमुच वह जीवित है इस लोकमें....? वह मुझ पापीके लिये रो रही है.... प्राण दे रही है—आह....!"

विह्वल हो पवनजय, प्रतिसूर्यके गले लिपट, फूट-फूटकर रोने लगे।

"रोओ नही बेटा, दीर्घ कष्ट और दुखकी रात बीत गई है। आज ही सुखका मंगल-प्रात आया है तुम्हारे जीवनमे। चलो, अब एक क्षणकी

भी देर उचित नहीं है। चलकर अपनी बिछुड़ी प्रिया और अपने अनाथ पुत्रको सनाथ करो....।"

थोड़ी ही देरमें पवनंजय कुछ स्वस्थ हो चले। सब आत्मीय-जन मिलकर उन्हें पासके एक सरोवरपर ले गये। प्रहस्तने अपने हाथों कुमारको स्नान कराया, हल्के और सुगंधित नवीन वस्त्राभरण धारण कराये।

चलनेको जब प्रस्तुत हुए, तो फिर एक बार कुछ दूरपर लज्जित और नमित खड़े, पिता और श्वसुरकी ओर पवनंजयकी दृष्टि पड़ी। कुमारको अनुभव हुआ कि अपनी ही आत्म-लांछना और आत्म-तिरस्कारसे वे मर मिटे हैं।—तभी दोनो राज-पुरुषोंने आकर पवनंजयके पैर पकड़ लिये। मूक पत्थरसे वे आ पड़े हैं—शब्दातीत है उनका आत्म-परिताप। केवल उनके हृदयोंकी धड़कन ही जैसे कुमारको सुनाई पड़ी। पवनंजय धप्से नीचे बैठ गये, धीरेसे पैर समेट दूर सरक गये और व्यथित कंठसे बोले—

"पितृजनो, समझ रहा हूं तुम्हारी वेदना। पर, क्या भूल नहीं सकोगे, उस बीती बातको....? मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिये हैं, मैं तो सबके कष्टका कारण ही रहा हूं। पर मैं तुम्हारा पुत्र हूं—बहुत ही दीन, अबल और अकिंचित्कर हो गया हूं....। क्या तुम भी पुत्र रूपमें मुझे लौटा नहीं सकोगे....?"

दोनों राजाओंने हिये भरकर कुमारको आलिंगन किया और उनकी लिलार सूंघ ली।

शीघ्र ही यान प्रस्तुत किये गये। एक विमानमें राजा प्रतिसूर्य, प्रहस्त और पवनंजय बैठे। दूसरेमें राजा प्रह्लाद, राजा महेंद्र और अन्य अनुचर लोग बैठे। थोड़ी ही देरमें मांगलिक घंटा-रव और शंखध्वनिके साथ दोनों यान उड़ चले, हनुरुहद्वीपकी ओर।

जब यान अपनी अंतिम ऊंचाईपर जाकर स्थिर गतिसे चलने लगा,

तब प्रतिसूर्य, प्रहस्तकी गोदमें सिर रखकर सुखासीन बैठे पवनंजयके पास सरक आये। उनके गलेमें बड़े ही स्नेहसे दोनो हाथ डाल दिये और गद्-गद कंठसे बोले—

"बधाई लो बेटा, कामकुमार और तद्भव मोक्षगामी पुत्रके तुम पिता हो! उसके जन्मके बहुत दिनों पहले ही वन-वासकालमें मुनिने दर्शन देकर अजनाको यह भवितव्य प्रकट किया था। और ठीक जिस दिन अरण्यकी गुफामें अंजनाके पुत्र जन्मा और मै उसे लेकर हनुरूहद्वीप आया, उसी दिन तुम्हारी लोक-विश्रुत धर्म-विजयका संवाद सुना....। उस घडीकी अजनाकी आनद-वेदना इन्ही आखो देखी है, पर शब्दोमें कह नही सकूगा....!"

वृद्ध चुप हो गये और पवनजयके मुखकी ओर क्षणैक देखते रह गये। सुनते-सुनते कुमारकी आखे मुद गई थी और पक्ष्म आसुओसे पुलकित थे। भीतर एक गभीर परिपूर्णताके उत्समे विश्वके सारे आह्लाद और विषादकी धाराए एक होकर बह चली है।....सुखमे, दुखमें, सयोग और वियोगमें वही एक अनाहत आनदकी बासुरी बज रही है....!

तब संक्षिप्तमें प्रतिसूर्यने अजनाके वनवास और उसके दीर्घ कष्टोकी कथा भी हसते-हंसते सुनाई। उसके बाद पार्वत्यवनपर अपने विमान अटकने-का योगायोग, और नीचे जाकर अजनाके अनायास मिलन और पुत्र-जन्मका वृत्त कहा। उन्होने यह भी सुनाया कि कैसे अजनाके उस नवजात शिशुकी कांतिसे गुफा प्रकाशित हो गई थी। यह भी बताया कि कैसे आकाश-मार्गमें, यानसे बालक अजनाके हाथसे छूटकर, पर्वत-शिलापर जा गिरा और शिला खंड-खड हो गई—पर बालकको कोई आच नहीं आई; वह वैसा ही मुस्कराता हुआ खेलता रहा।—उस क्षण उस बालकके वज्र-वृषभ-नाराचसंहननका अनायास प्रमाण मिला और तभी वसंत-मालाने मुनिकी भविष्य-वाणीका प्रसग कह सुनाया,....।

....सुनकर पवनजयको लगा कि मानो अपने आगामी जन्मके

किसी अपूर्व विश्वमें पहुच गये हैं, जहांका परिचय सर्वथा नया है। विगत सब कुछ मानो विस्मरण हो गया है।

कुछ देर प्रतिसूर्य फिर चुप हो रहे।—जब पवनंजयने उन्मुख होकर फिर जिज्ञासाकी दृष्टिसे उनकी ओर देखा, तो प्रतिसूर्यने फिर अपने वृत्तातका सूत्र पकड़ा। सक्षेपमें, पवनंजयकी खोजमें अपने भ्रमणका वृत्त भी उन्होंने कह सुनाया। बोले कि जबसे पवनंजयकी विजयका सवाद उन्होंने सुना था, तभीसे वे इस प्रतीक्षामें थे, कि कुमारके घर लौटनेकी खबर पाते ही, तुरत वे अजनाका कुशल-संदेश लेकर आदित्यपुर जायेंगे। पर दुर्दैवकी नाट्य-लीलाका अंतिम दृश्य रह गया था, वह भी तो पूरा होकर ही रहना था। पवनंजयके गृहागमनका सवाद और अजनाको घर न पाकर उसी रात उनके गृह-त्यागका संवाद साथ-साथ ही हनुरूहद्वीप पहुंचे। प्रतिसूर्यने पवनजयके लौटनेके पहले ही आदित्यपुर जाकर उनकी प्रतीक्षा करनी चाही थी, पर अंजनाने उन्हें नही आने दिया! यह भी दैवका विधान ही तो था....! सोचमें पड गये कि कहा जायें और कैसे पवनजयको खोजें....? तब उन्होंने अंजनाकी एक न सुनी। उसके उस समयके दारुण दुःखमे उसे छोड, वज्र-का हृदय कर, पहले वे महेंद्रपुर गये और वहा से फिर आदित्यपुर गये। क्रम-क्रमसे दोनों सतप्त राज-कुलोको जाकर अंजनाकी कुशल और पुत्र-जन्मका सवाद सुनाकर ढाढ़स बधाया। फिर राजा महेंद्र, राजा प्रह्लाद, मित्र प्रहस्त आदिको लेकर वे पवनंजयकी खोजमें निकल पड़े। दूर-दूरतक पृथ्वीके अनेक देश-देशातर, द्वीप-द्वीपातर, विकट बन-पहाड़ोंमें वे पवनंजय को खोज आये पर कही कोई पता न चला। सुयोगकी बात कि अपने उसी भ्रमणमे हताश और सतप्त, आज वे इस भूतरुवर नामके वनमे विश्राम लेने उतरे थे।—चलते-चलते राहमे अचानक एक मिट्टीके स्तूपको हिलते हुए देखा....। पहले तो बड़े कौतूहलसे देखते रह गये। पर जब दीखा कि कोई मनुष्य इस मिट्टीके

छेदमें गड़ गया है और अब निकलनेकी चेष्टा कर रहा है, तभी प्रतिसूर्यने जाकर ऊपरकी मिट्टी हटाई और पकड़ कर उस मनुष्यको उठाने लगे।— एकाएक उस व्यक्तिका चेहरा दिखाई पड़ा, जो इतने दिनो मिट्टीमें दबे रहनेपर भी वैसा ही स्निग्ध और कांतिमान था; राजा प्रह्लाद देखते ही पहचान गये—चिल्ला उठे—'पवनंजय ....!'

....सुनते-सुनते पवनंजयको ध्यान आया कि तभी शायद पिताका परिचित कंठ-स्वर सुनकर वे चौंक उठे थे ...?

× × × समुद्र-पवनका स्पर्श पाकर, कुमारने यानकी खिड़कीसे झांका। राजा प्रतिसूर्यने उंगलीके इशारेसे बताया—समुद्रकी अपार नीलिमाके बीच उजले शख-सा पड़ा है वह हनूरूहद्वीप। उसके आस-पास व्यवसायी जहाज़ोंके मस्तूल और नावोके पाल उड़ते दीख पड़ रहे हैं। तटवर्ती हरीभरी पहाड़ीमें धीवरो और मल्लाहोके ग्राम दीख रहे है, और उड़ते हुए जल-पछी द्वीपके भवन-शिखरोपरसे पार हो रहे है....

[३५]

हनूरूह-द्वीपमे—

राज-प्रासादके सर्वोच्च खंडकी छतपर अंजनाका कक्ष—। सामुद्रिक हवाके झकोरे उस प्रवाल-निर्मित, मत्स्याकार कक्षके, बिल्लौरी गवाक्षों-पर खेल रहे थे। दक्षिणकी खिड़कीसे तिरछी होकर सांझकी केशरिया धूप कमरेके सीप-जटित फर्शपर पड़ रही थी। चारो ओर समुद्रका तट-देश उत्सवके कोमल और मधुर-मंद वाद्योसे मुखरित हो उठा था।

प्रतिहारी कक्षके द्वारतक पवनंजयको पहुंचाकर चली गई। कुमारने एकाएक परदा हटाकर कमरेमें प्रवेश किया।—कुछ दूर बढ़ आये। गति अनायास है—और मन निर्विकल्प। सामने दृष्टि उठी : अंजनाके वक्षपर उन्होने देखा—वह शिशु कामदेव—! पुत्रके शरीरसे सहज

स्फुरित कांतिमें, दीपित था प्रियाका वही सरल, सस्मित मुख-मंडल।

स्तब्ध, चित्र-लिखितसे पवनंजय शिशुको देखते रह गये—उनकी सारी कामनाओंका मोक्ष-फल ?—उनके चिर दिनके सपनोंका सत्य ?

एक अलौकिक आनंदकी मुस्कराहटसे कुमारने सामने खड़ी प्रियाका अभिषेक किया। उसके प्रति नीरव-नीरव उनकी आत्मामें गूंज उठा—

'ओ मेरी मुक्तिके द्वार, मेरे वंदन स्वीकार करो ! मैं तो केवल कल्पनाओंसे ही खेलता रहा। पर तुमने मेरी कामनाओं-को अपनी आत्म-वेदनामें गलाकर वह सर्व-जयी पुरुषार्थ ढाला है, जो उस मुक्तिका वरण करेगा, जिसका मैं सपना भर देख सका हू—!'

पवनंजय आखें नीची किये खडे थे, जय और पराजयकी संधि-रेखापर।

"इसे स्वीकार न करोगे....?"

प्रियाका वही वत्सल, करुण कठ-स्वर है। पवनजय आंखें न उठा सके। पुरुषत्वके चरम अपराधके प्रतीकसे वे सिर भुकाये खडे थे। फिर दूसरी भूल उनसे हो गई है। बार-बार वे प्रमत्त हो उठते हैं। उन्हें अपने ऊपर विश्वास नही रहा है। पर अनजाने ही कुमारने हाथ फैला दिये थे। उन फैले हाथोपर धीमेसे अजनाने शिशुको रख दिया।

अगले ही क्षण कुमार अनिर्वचनीय सुखसे पुलकित और चंचल हो उठे। अपनी छातीके पास लगे शिशुको देखा : आखके आसू थम न सके।—यह सौदर्य—यह तेज !—अनिर्वार है यह; मानो छातीमे सरसराता हुआ, अस्पर्श रूपसे पार हो जायगा।....हा, यही है वह, यही है वह, जिसकी खोज उनके प्राणकी अनादि जिज्ञासा थी....! सुख इतना अपार हो उठा कि उसे अपना कहकर ही संतोष नही है !

हवा और पानी सा सहज चंचल और गतिमय शिशु बाहोपर ठहर नहीं पा रहा है। अनायास झुककर पवनंजयने उसकी लिलार चूम ली।

मुंदी आंखोंकी बरौनियोंसे धीरे-धीरे उसके मुखको सहलाने लगे।—मन ही मन कहा—

'....जाओ मेरे दुर्धर्ष ममत्व—मेरे मान ! उस वक्षपर—उसी गोदमें—जिसने लोक-मोहन कामदेवका रूप देकर तुम्हें जन्म दिया है;—जाओ उसीके पास, वही तुम्हें निखिलेश भी बनायेगी....!'

प्रकटमें हाथ बढ़ाते हुए बोले—

"लो अंजन, इसे झेलनेकी सामर्थ्य मुझमे नही है !....चुप क्यो खड़ी रह गई—देखोगी नहीं....? हां....हां....समझ रहा हूं—मेरी अंतिम हारका आत्म-निवेदन मेरे ही मुंहसे सुना चाहती हो—! अच्छी बात है, तो लो, सुनो : मेरी भुजाओंमें वह बल नही है जो इसे थाम सके, मेरे वक्षमें वह सहारा नहीं है जो इसे रोककर रख सके !—वह तो तुम्हारे ही पास है !....लो, अंजन...."

कहकर पवनंजयने बालकको अंजनाकी ओर फैला दिया। एक अभूतपूर्व मुग्ध लज्जासे अंजना विभोर हो गई। नीची ही दृष्टि किये उसने बालकको अपनी बाहोंपर झेल लिया और उसी क्षण पवनंजयके चरणोंमे रख दिया !

जाने कब एक समयातीत मुहूर्तमें अंजना और पवनंजय, अशेष आलिंगनमें बंध गये।

....प्रकृति पुरुषमे लीन हो गई, पुरुष प्रकृति में व्यक्त हो उठा !

झरोखोंकी जालियोमे दीख रहा है : आकाशके तटोंको तोड़ती हुई समुद्रकी अनंत लहरें, लहराती ही जा रही हैं....लहराती ही जा रही हैं, अकूल और अछोर....जाने किस ओर....जाने किस ओर....?

——